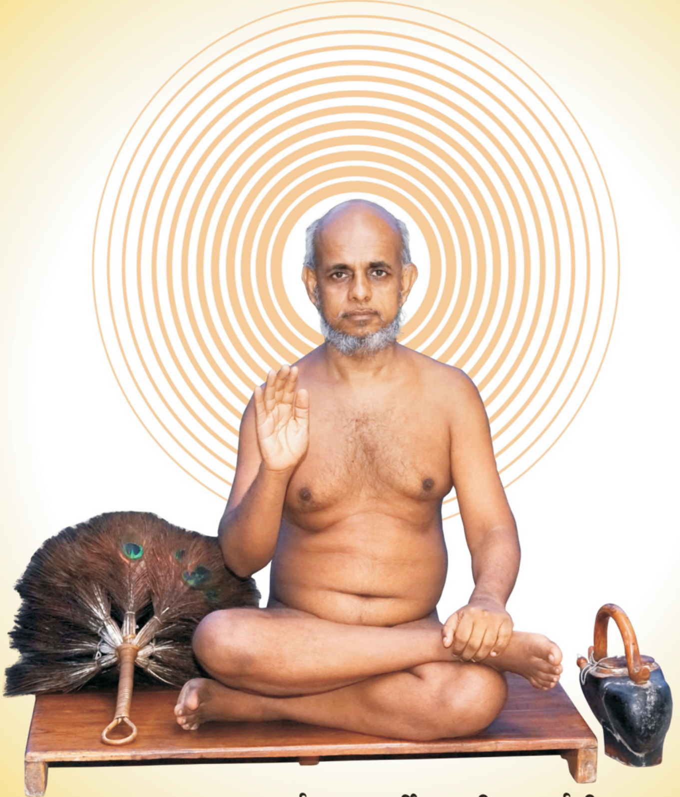

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती पट्टाधीशाचार्यश्री

सुविधिसागर जी महाराज

के

50 वें जन्मदिवस के पावन अवसर पर

सुविधि–परिवार के द्वारा आयोजित

जिनवाणी-महोत्सव

सहस्रग्रन्थसंग्रह

* जन्मदिवस 19–03–1971 * मुनिदीक्षा–11–05–1989 * आचार्यपद– 20–06–2004

पट्टाधीशपद– 24–12–2010 (20–06–2004 को की गई उद्घोषणा के अनुसार)

परम पूज्य आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज के द्वारा की गई उद्घोषणाः–

हमारी समाधि के पश्चात् आपको इस संघ के संचालकपद पर नियुक्त करते हैं।

(अंकलीकर वाणी–जुलाई 2004) (अक्षयज्योति–अक्तूबर 2004)

आगम और कर्मसिद्धान्त के आलोक में .पुण्य-पापतत्त्व

लेखक
कन्हैयालाल लोढा

सम्पादक
डॉक्टर धर्मचन्द जैन

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर (राजस्थान)

(परम्परानायक)

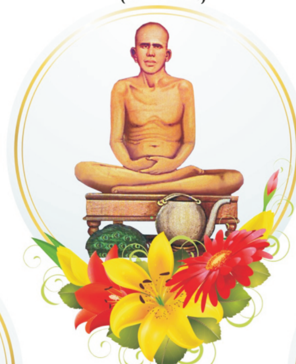

परम पूज्य चारित्र–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री आदिसागर जी महाराज
(अंकलीकर)

(द्वितीय पट्टाधीश)

परम पूज्य तीर्थभक्त–शिरोमणि,
आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी महाराज

(तृतीय पट्टाधीश)

परम पूज्य सिद्धान्त–चक्रवर्ती,
आचार्यश्री सन्मतिसागर जी महाराज

(चतुर्थ पट्टाधीश)

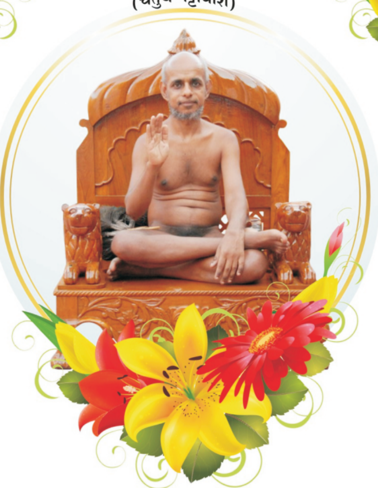

परम पूज्य तपश्चर्या–चक्रवर्ती, आचार्यश्री सुविधिसागर जी महाराज

दिगम्बर साधु निरन्तर पगविहार करते रहते हैं। ग्रन्थभण्डार को साथ में रख कर विहार करना अशक्यप्राय: होता है। फलतः उनको ग्रन्थों के सन्दर्भ देखने में असुविधा होती है। उनकी सुविधा के लिये इस कोश का निर्माण किया गया है। इस कोश के निर्माण में किसी भी प्रकार का व्यापारिक हेतु नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न श्रावकबन्धुओं से निवेदन है कि वे ग्रन्थ का विक्रय कर अध्ययन करने की परम्परा को कायम रखें।

मुखपृष्ठ पर हमने ग्रन्थकर्त्ता, अनुवादक, सम्पादक, प्रकाशक आदि के नाम दिये हैं। किसी संस्थान का कर्तुत्व हमने लुप्त नहीं किया है।

इस कोश के लिये आवश्यक ग्रन्थ हमें अनेक स्रोतों से प्राप्त हुये हैं। हम उन सभी का आभार मानते हैं।

सुविधि–परिवार

प्रधान सम्पादक
म. विनयसागर

प्राकृत भारती अकादमी पुष्प-१२३

आगम एवं कर्मसिद्धान्त के आलोक में

पुण्य-पाप तत्त्व

लेखक
कन्हैयालाल लोढा

भूमिका - लेखक
प्रो. सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ. धर्मचन्द जैन

प्रकाशक
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

● **प्रकाशक**
प्राकृत भारती अकादमी
13ए, मेन रोड़, मालवीय नगर
जयपुर - 302 017
फोन 524827, 524828

● **लेखक**
कन्हैयालाल लोढा
अध्यक्ष
अ.भा. जैन विद्वत् परिषद्
82/141 मानसरोवर, जयपुर

● **सम्पादक**
डॉ. धर्मचन्द जैन
एसोशिएट प्रोफेसर, सस्कृत - विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

● **भूमिका-लेखक**
प्रो सागरमल जैन
पूर्व निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
82, न्यू रोड, शाजापुर (म प्र.) 465001

मूल्य - 140 रुपये

संस्करण - प्रथम
सितम्बर, 1999

● **मुद्रक**
जे के. कम्प्यूटर सेण्टर
जालोरी गेट, जोधपुर, **फोन** 643946

प्रकाशकीय

पुण्य और पाप दोनों ही प्रचलित शब्द है और सामान्यजन की भाषा मे पुण्य का अर्थ भला कार्य और पाप का अर्थ बुरा कार्य होता है। किन्तु जैन दर्शन में कार्य के पर्यायवाची रूप कर्म की एक अनूठी परिभाषा की गई है। वहाँ कर्म का अर्थ है पदार्थ के वे सूक्ष्मतम कण जो आत्मा को कलुषित करते हैं और यह कालुष्य ही पुनर्जन्म का प्रेरक कारण होता है।

इस अवधारणा के आधार पर जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त का प्ररूपण हुआ है और उस पर व्यापक चिन्तन द्वारा एक विशिष्ट विषय विकसित हुआ है। विषय की जटिलता के कारण तथा 'कर्म' शब्द के भिन्नार्थ में प्रयोग के कारण अनेक भ्रान्तियाँ फैल गई हैं।

जैन दर्शन के चिन्तनशील विद्वान श्री कन्हैयालालजी लोढा ने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से उन भ्रान्तियों को दूर करने का सराहनीय प्रयास किया है। हम श्री लोढाजी के आभारी हैं।

प्राकृत भारती के पुष्प - १२३ के रूप मे आगम एव कर्मसिद्धान्त के आलोक मे पुण्य-पाप तत्त्व प्रकाशित करते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। हमें आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक कर्म सिद्धान्त जैसे जटिल विषय को अपेक्षाकृत सरलता से समझने मे पाठको के लिए सहायक सिद्ध होगी तथा पाठकों को पुण्य-पाप तत्त्व को समझने में नई दिशा प्रदान करेगी। प्रो. सागरमल जी जैन ने इस पुस्तक पर भूमिका लिखकर इसके महत्त्व का प्रकाशन किया है। सम्पादन का कार्य डॉ धर्मचन्द जैन, जोधपुर ने किया है। सभी को अकादमी की ओर से हार्दिक धन्यवाद हैं।

म. विनयसागर
निदेशक
प्राकृत भारती अकादमी

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन	viii
सम्पादकीय	xv
भूमिका (पुण्य की उपादेयता का प्रश्न) - प्रो सागरमल जैन	xxi
१. पुण्य · स्वरूप और महत्त्व	१
२ पाप स्वरूप और भेद	६
३. पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं	१३
४ कषाय की मन्दता पुण्य है, मन्द कषाय पाप है	२२
५ पुण्य-पाप तत्त्व और पुण्य-पाप कर्म में अन्तर	२५
६ पाप-पुण्य का आधार : सक्लेश-विशुद्धि	२७
७ कर्म-सिद्धान्त और पुण्य-पाप	३३
८ तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप	४१
९ पुण्य-पाप का परिणाम	६६
१०. पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय की वृद्धि से	७०
११ कर्मबन्ध का मुख्य कारण कषाय है, योग नही	७८
१२ पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया	८३
१३ पुण्य की अभिवृद्धि से पाप का क्षय	८७
१४ पुण्य-पाप की बन्ध व्युच्छित्ति एक चिन्तन	९१
१५ मुक्ति में पुण्य सहायक, पाप बाधक	९३
१६ पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी साधना से नही	१००
१७ पुण्य-पाप के अनुबध की चौकडी	१०२
१८ पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन	१०५
१९ पुण्य सोने की बेडी नही, आभूषण है	१०८
२० शुभयोग (सद्प्रवृत्ति) से कर्मक्षय होते हैं	१०९
२१ पुण्य -पाप आस्रव का हेतु शुद्ध-अशुद्ध उपयोग	१२०
२२ अनुकम्पा से पुण्यास्रव व कर्मक्षय दोनों होते हैं	१३३
२३ अहिंसा , पुण्य और धर्म	१३५
२४. क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म	१४७
२५ आत्म विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप	१५५
२६ पुण्य के विषय में भ्रान्ति	१६२
२७ सम्पन्नता पुण्य का और विपन्नता पाप का फल	१६४
२८ पुण्य-पाप विषयक ज्ञातव्य तथ्य	१८५

प्राक्कथन

भारतवर्ष में अनेक दर्शन एव धर्म है। प्रत्येक दर्शन एव धर्म की तात्विक मान्यताए अन्य दर्शनों एव धर्मों की मान्यताओं से भिन्न हैं। इस भिन्नता के आधार पर ही वे धर्म व दर्शन अपनी पहचान बनाये हुए हैं। इस प्रकार भारतवर्ष में जितने धर्म हैं, उतनी ही मान्यताए हैं जो एक-दूसरी से भिन्न हैं। यह भिन्नता यहा तक ही सीमित नही रही, प्रत्येक धर्म में अनेक सम्प्रदाय हैं। इनमें से प्रत्येक संप्रदाय की मान्यता अपने ही धर्म की अन्य सम्प्रदायों की मान्यताओं से कई अशो में भिन्न होती है। इस प्रकार धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उत्पन्न हुई भिन्नताओं को किसी सख्या की सीमा में आबद्ध कर देना सभव नही है। यही बात धर्म-अधर्म, एव पुण्य-पाप पर भी घटित होती है।

प्राय सभी भारतीय दर्शनों ने धर्म-अधर्म एव पुण्य-पाप को माना है। सभी ने हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, दुराचार, अनाचार आदि को पाप व अधर्म माना है अर्थात् पाप और अधर्म को एक माना है और उसे त्याज्य बताया है। इस सिद्धान्त में मतभेद नही है, यदि है भी तो बहुत कम। परन्तु पुण्य और धर्म के विषय में ऐसी बात नही है। पुण्य और धर्म की परिभाषाओं में तथा पुण्य और धर्म एक हैं या भिन्न हैं या विरोधी हैं, इस सबध मे अनेक मत व मतान्तर हैं। जैनधर्म भी इसका अपवाद नही है। जैनधर्म में इस सबध में अनेक मान्यताएँ हैं, यथा—

(१) पुण्य और धर्म एक हैं।

(२) पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न हैं।

(३) पुण्य धर्म नही है और धर्म पुण्य नही है।

(४) मिथ्यात्वी पुण्य कर सकता है, धर्म नही कर सकता।

(५) मिथ्यात्वी धर्म कर सकता है।

(६) 'पुण्य' कर्मबध का कारण है।

(७) 'पुण्य' कर्मक्षय का कारण है।

(८) 'पुण्य' मुक्ति में सहायक है।

(९) 'पुण्य' मुक्ति में बाधक है।

(१०) पुण्य संसारपरिभ्रमण का कारण है।

(११) पुण्य ससार सागर को तिरने में नौका के समान सहायक है।

(१२) पुण्य स्वभाव है।

(१३) पुण्य विभाव है।

(१४) पुण्य सोने की बेड़ी है।

(१५) पुण्य सोने का आभूषण है।

(१६) पुण्य औदयिक भाव है।

(१७) पुण्य क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव है।

(१८) मुक्ति न मिलने का कारण "पुण्य को त्याज्य न समझना व पुण्य का त्याग न करना ही है।"

(१९) शुद्धोपयोग में पुण्य का आस्रव होता है।

(२०) मरते हुए जीव को बचाना, दु:खी जीव का दुःख दूर करना, सेवा करना मुक्ति के लिए बाधक है।

(२१) पुण्य से जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये सभी सबधित हैं व इसमें समाहित हैं ।

(२२) पुण्य और पाप दोनों एक जाति के हैं।

(२३) पुण्य और पाप दोनों विरोधी हैं।

(२४) पुण्य और पाप दोनों हेय हैं।

(२५) पाप के क्षय में पुण्य और पुण्य के क्षय में पाप हेतु है।

(२६) दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तिया पुण्य हैं, धर्म नही हैं।

(२७) दया, दान आदि सद्प्रवृत्तिया धर्म भी हैं, पुण्य भी हैं।

(२८) पुण्यास्रव से कर्म क्षय होता है।

(२९) पुण्य कर्म है। कर्म धर्म नही हो सकता। अत· पुण्य को धर्म की कोटि में स्थान नही दिया जा सकता।

(३०) आस्रव धर्म नही होता है। अत. पुण्यास्रव धर्म नही है।

(३१) पुण्य धर्म है तो इसे क्षय करने की क्या आवश्यकता है?

उपर्युक्त मान्यताओं के अतिरिक्त पुण्य के विषय में अन्य भी अनेक मान्यताएँ हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन्ही मान्यताओं की समीचीनता-असमीचीनता पर आगम और कर्म सिद्धान्त के आधार पर विचार किया गया है।

इस पुस्तक का विषय पुण्य-पाप दोनों का विवेचन करना रहा है। परन्तु पाप के स्वरूप, परिभाषा, लक्षण आदि में मतभेद नगण्य होने से पाप का विवेचन सामान्य व सक्षेप में किया गया है। जबकि पुण्य के विषय में अत्यधिक मतभेद एव परस्पर विरोधी मान्यताएं होने से अनेक प्रश्न एव जिज्ञासाए उठती हैं।

इसलिये पुण्य का विविध विवक्षाओं एव विस्तार से विवेचन किया गया है। यह विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र, भगवतीसूत्र आदि आगम, षट्खंडागम और उसकी टीका धवल-महाधवल, कषायपाहुड और उसकी टीका जयधवल, कर्मग्रन्थ, कम्मपयडि, पंचसग्रह, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि कर्म-सिद्धान्त के ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए किया है।लेखन के पूर्व विद्वानों से विचार-विमर्श कर, पूर्वापर विरोधों का निरसन करने का पूरा प्रयास किया है। फिर भी मैं ऐसा नही मानता की यही अतिम है। मेरा लेशमात्र भी यह आग्रह नही है कि इसे ही माना जाय। मेरा इस पर पूर्ण विश्वास है कि जो सिद्धान्त आगमसम्मत हैं, आगम से प्रमाणित हैं, उन्हें ही स्वीकार किया जाय। अत. पाठकों से निवेदन है कि आगम व कर्मसिद्धान्त के आलोक में ही चिंतन मनन कर अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करें एव सही निर्णय लेवें।

प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय एक उद्देश्य यह भी रहा है कि वर्तमान में कतिपय विद्वान् दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य (सेवा) आदि सद्प्रवृत्तियों को तथा नम्रता, मृदुता, मित्रता, सरलता, सज्जनता, मानवता, उदारता आदि सद्गुणों को धर्म नही मानते हैं, पुण्य मानते हैं और पुण्य को विभाव, त्याज्य व ससार परिभ्रमण का कारण मानते हैं। प्रकारान्तर से कहें तो सद्गुणों एव सद्प्रवृत्तियों को हेय व त्याज्य मानते हैं। इस भ्राति का मुख्य कारण पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य का अनुभाग व पुण्य कर्म के स्थिति बध आदि के अतर के मर्म पर ध्यान नहीं देना है। इस पुस्तक मे इनका व इससे सबधित अन्य विषयों का विवेचन कर वास्तविकता का अनुसधान करने का प्रयास किया गया है।

पुण्यकर्म धर्म नही हो सकता, इसमें दो मत नही हो सकते। कर्म पुद्गल व अजीव है, अतः जीव के स्वभाव-विभाव से इसका कोई सीधा संबध नही है। आत्मा के स्वभाव-विभाव का आधार उसके सद्गुण एव दुर्गुण होते हैं। सद्गुण सद्प्रवृत्ति के, दुर्गुण दुष्प्रवृत्ति के जनक हैं। दया, दान, करुणा, नम्रता, मृदुता आदि गुणों का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्तिया या शुभयोग है जो कषाय की कमी से होते हैं। अत ये स्वभाव के द्योतक होने से धर्म व पुण्य दोनों हैं। इस दृष्टि से पुण्य तत्त्व (शुभ व शुद्ध अध्यवसाय) व धर्म एक भी हैं। इसी प्रकार अनेक विवक्षाओं से पुस्तक में यथाप्रसग विचार-विमर्श व मथन किया गया है। इससे कितना नवनीत प्राप्त हुआ है, इसका निर्णय पाठक स्वयं करेंगे।

पुस्तक में जिज्ञासा के समाधान के लिए कुछ तथ्यात्मक सिद्धान्तों एव

प्रमाणों को एकाधिक बार दोहराना पड़ा है। इसे पुनरुक्त दोष न समझा जावे। विषय के प्रतिपादन को स्पष्ट एवं पुष्ट करने के लिए यथाप्रसग परिभाषाओं एवं प्रमाणों के उद्धरणों को बार-बार प्रस्तुत करना आवश्यक था। ऐसा न करने पर उस प्रसंग में विषय का विवेचन अधूरा रह जाता जिससे सम्यक् समाधान नही हो सकता था। अत विषय के सर्वांगीण विवेचन के लिए ऐसा किया गया है। पाठकों से निवेदन है कि प्रकृत विषय पर जो प्रमाण दिये गए हैं उन पर निष्पक्ष होकर गहन-चिंतन-मनन करें और वस्तु-तथ्य का सम्यक् निर्णय करें।

प्राणिमात्र का हित राग, द्वेष, विषय, कषाय, मोह आदि दोषों से रहित होने में, अपने स्वभाव को प्रकट करने में है, शेष सब व्यर्थ है, प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य भी यही रहा है। अतः हम वाद-विवाद से ऊपर उठकर विवेच्य-विषय से अपने विकारों को घटायें, सद्गुणों को प्रकट करें, यही नम्र निवेदन है।

वस्तुत जीव के हित-अहित का कारण भावों की विशुद्धि-अशुद्धि ही है। मन, वचन एव काया की सदप्रवृत्तियों तथा दुष्प्रवृत्तियों में मुख्यता भावों की ही है। भावों की अशुद्धि पाप कर्मों के बध की और भावों की विशुद्धि पाप कर्मों के निरोध, निर्जरा व मोक्ष की तथा पुण्योपार्जन की हेतु हैं। बध व मोक्ष के मुख्य हेतु शुद्ध-अशुद्ध भाव ही हैं।

जिस भाव व उसकी क्रियात्मक प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो उसे पाप तत्त्व कहा है। आत्मा का पतन राग, द्वेष आदि दूषित भावों से एव प्राणातिपात, मृषावाद आदि दुष्प्रवृत्तियों से होता है। अत राग, द्वेष, प्राणातिपात आदि दोष व दुष्प्रवृत्तिया पाप हैं। इन्ही पापों के परिणाम से पाप कर्मों का उपार्जन, आस्रव व बध होता है। इस प्रकार पापमय परिणाम, पाप प्रवृत्ति, पाप कर्मों का आस्रव व बध आदि पाप के विभिन्न रूप (प्रकार) जीव के गुणों के घातक, भवभ्रमण कराने वाले, अकल्याणकारी, ससारवर्द्धक एव दु खद होते हैं। अत ये सब हेय व त्याज्य हैं।

पाप तत्त्व के विपरीत पुण्य तत्त्व है। जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, वह पुण्य है। आत्मा की अपवित्रता का हेतु पाप व दोष हैं। दोषों में कषायों में कमी होने से भावों में विशुद्धि या पवित्रता होती है जिससे क्षमा, सरलता, विनम्रता, करुणा आदि जीव के स्वाभाविक गुणो में वृद्धि होती है तथा ये गुण दया, दान, सेवा, स्वाध्याय आदि सद्प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट होते हैं, इन्हें ही पुण्य तत्त्व कहा गया है जो आध्यात्मिक विकास का सूचक है। आध्यात्मिक विकास पुण्य तत्त्व का आतरिक फल है। पुण्य तत्त्व से पुण्य कर्म

की प्रकृतियो का उपार्जन होता है जिससे शरीर, इन्द्रिय , मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति आदि सामग्री मिलती है अर्थात् भौतिक विकास होता है । यह पुण्य तत्त्व का बाह्य फल है ।

पाप मे कमी होने से आत्मा पवित्र होती है । आत्मा की पवित्रता जीव का स्वभाव है । अत पुण्य कर्म का उपार्जन स्वभाव से, निसर्ग से स्वत होता है । इसके लिये पाप के निरोध व क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नही है । पुण्य कर्म पूर्ण रूप से अघाती कर्म है और शुभ फल दायक है । अत मुक्ति-प्राप्ति में यह लेशमात्र भी बाधक नही होता है, अपितु सहायक ही होता है । इससे किसी भी जीव को कभी भी हानि होना सभव नही है । यह नियम है कि पुण्य कर्म का उपार्जन आत्म-पवित्रता से आत्म-विकास से आत्मिक गुणो की वृद्धि से सयम, त्याग, तप से होता है, परन्तु पुण्य कर्म के उदय से आत्म-विकास व गुणो की वृद्धि होती हो, ऐसा नियम नही है । कारण कि पुण्य कर्म से शरीर, इन्द्रिय आदि साधन सामग्री मिलती है ।प्राप्त साधन सामग्री का दुरुपयोग एव सदुपयोग दोनो हो सकते हैं । पुण्य से प्राप्त शरीर, इन्द्रिय आदि का उपयोग विषय-कषाय के सेवन मे हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियो मे अर्थात् पापो मे करना पुण्य कर्म का दुरुपयोग है । इससे पुण्य क्षीण होता है एव पाप कर्मों मे वृद्धि होती है , जो अहित, दु ख एव ससार-परिभ्रमण का कारण है । इसमें दोष पुण्य कर्म का नही है, अपितु उसके दुरुपयोग का है । पुण्य से प्राप्त सामग्री शरीर आदि में जीवन-बुद्धि रखना, इनसे विषय-सुख भोगना इनका दास होना है, इनके आधीन होना है । आत्मा का हित दासता से, पराधीनता से मुक्त होने मे है । जो पुण्य से प्राप्त सामग्री का उपयोग विषय-कषाय सेवन मे न करके सेवा साधना मे करता है, वह इनकी दासता में आबद्ध नही होता है, इनसे ऊपर उठ जाता है, स्वाधीन व मुक्त हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग से पुण्य तत्त्व पुष्ट होता है जिससे पुण्य कर्म के उपार्जन मे, अनुभाव में वृद्धि होती है । इस प्रकार पुण्यतत्त्व से पुण्य कर्म मे और पुण्य कर्म के सदुपयोग से पुण्य तत्त्व मे उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है जिससे आध्यात्मिक एव भौतिक विकास होता जाता है । अत महत्त्व पुण्य तत्त्व का एव पुण्य कर्म के सदुपयोग का है । इस तथ्य को सदैव स्मरण रखना है कि पुण्य कर्म से प्राप्त शरीर आदि साधन सामग्री हैं, साधन, साध्य एव जीवन नही है । इन्हे साध्य व जीवन मानना भयकर भूल है, अपना घोर अहित करना है । इस भूल के रहते मुक्ति की प्राप्ति

कदापि सभव नही है। अत साधक का हित पुण्य कर्म के सपादन में है, उसमे आबद्ध होने मे नही है। साधक का कर्त्तव्य पुण्य कर्म का सदुपयोग दया, दान, सेवा, साधना मे कर अपने को पुण्य कर्म की दासता से छुटकारा पा लेने मे है, उससे ऊपर उठ जाने मे है, उसके आश्रय का त्यागकर स्वाधीन हो जाने मे है। साधक के लिए पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के सदुपयोग का दायित्व है, जो साधना मे सहायक है इसे कभी नही भूलना चाहिये अर्थात् साधक को पुण्य कर्म से प्राप्त सामग्री के दासत्व से छुटकारा पाना है, सदुपयोग के दायित्व से नही।

प्रस्तुत पुस्तक में पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। इसमें पाप तत्त्व, पापास्रव, पापकर्म, पाप प्रवृत्ति आदि पाप के सब रूप पूर्ण रूप से त्याज्य ही हैं। परन्तु जहाँ भी पुण्य को महत्त्व दिया गया है व इसे मुक्ति में सहायक कहा है वहा पुण्य के कारणभूत कषाय में कमी रूप विशुद्धि भाव को, आत्म-पवित्रता को, पुण्य कर्म के सदुपयोग को, पुण्य के अनुभाव को ही ग्रहण करना चाहिये। पुण्य से प्राप्त सामग्री से सुख भोग को नही। पुण्य कर्मो का उत्कृष्ट अनुभाग आत्मा की विशुद्धि की पूर्णता का द्योतक है। पुण्य कर्मो के अनुभाग की उत्कृष्ट अवस्था मे ही केवल ज्ञान एव केवल दर्शन सभव है। अत पुण्य कर्म मे महत्त्व आत्म-विशुद्धि का ही है।

"इणमेव णिग्गथ पावयण सच्च णीसक" वीतराग वाणी सत्य है, तथ्य है, हमे इसमे लेश मात्र भी सशय नही है। केवल प्रचलित अर्थ जो वीतरागता परक नही है, अपितु राग-वर्धक प्रतीत हो रहे है, उनके सही अर्थ खोजने के लिए प्रयास किया गया है। अल्पज्ञ होने के कारण यदि जिन, जिनोपासक गुरु व जिनोपदिष्ट प्रवचन की अत्यल्प भी अवज्ञा हुई हो तो मिथ्या मे दुष्कृतम्।

इस कृति मे मैंने जो निष्कर्ष दिए है, वे जैनागम एव कर्म-सिद्धान्त के ग्रथो मे प्रतिपादित तथ्यो के आधार पर स्थापित है। मैने लेखन मे तटस्थ एव सतुलित दृष्टिकोण अपनाने का एव भाषा मे सयत रहने का प्रयास किया है।तथापि मेरे क्षायोपशमिक ज्ञान मे कमी या भूल होना सभव है। अत मै उन सभी आगमज्ञ, विद्वानो, तत्त्वचिंतको एव विचारको के सुझावो, समीक्षाओ, समालोचनाओ एव मार्ग-दर्शन का आभारी रहूँगा, जो प्रस्तुत कृति का तटस्थ भाव से अध्ययन कर अपने मन्तव्य से मुझे अवगत करायेगे।

मेरे जीवन-निर्माण एव आध्यात्मिक रुचि जागृत करने मे आचार्य प्रवर श्री हस्तीमल जी म सा की महती कृपा रही है। आज मै जो भी हूँ सब उन्ही की

देन है। श्री देवेन्द्रराज जी मेहता से गत अनेक वर्षो से मेरा निकट का सम्पर्क रहा है। आप लेखन के लिये सतत प्रेरणा देते रहे हैं तथा प्राकृत भारती अकादमी के माध्यम से प्रकाशन कार्य को सम्पन्न करवाने मे विशेष उत्साह व रुचि लेते रहे हैं। यह पुस्तक आपकी ही प्रेरणा का परिणाम है। इस पुस्तक की पाण्डुलिपि का श्री सम्पतराज जी डोसी ने सैद्धान्तिक दृष्टि से आद्योपान्त अवलोकन कर अपने सुझाव दिये। श्री मोहनलालजी मूथा ने भी समय-समय पर हुई चर्चा मे पुस्तक के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट किया। प्रिय डॉ धर्मचन्द जी जैन ने पुस्तक का सम्पादन किया तथा श्री धर्मचन्द जी जैन अध्यापक ने प्रूफ सशोधन के रूप मे योगदान किया। मै सबका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अध्यक्ष, अ.भा. जैन विद्वत् परिषद

जयपुर **कन्हैयालाल लोढा**

सम्पादकीय

क्या 'पुण्य' भी 'पाप' की भाँति हेय है ? यह एक यक्ष प्रश्न है, जिसका समाधान विद्वत्मनीषी प कन्हैयालाल जी लोढा ने अपनी इस कृति मे श्वेताम्बर एव दिगम्बर स्रोतो के आधार पर प्रस्तुत करने का महनीय प्रयास किया है। लेखक ने पुण्य तत्त्व को विशुद्धिभाव के रूप में निरूपित करते हुए उसे कर्मक्षय एव मुक्ति-प्राप्ति मे सहायक माना है, जबकि पाप को मुक्ति मे बाधक प्रतिपादित किया है। लेखक ने पुण्य को सोने की बेड़ी नही, अपितु आभूषण बताया है।

कुछ लोग जैन धर्म की यह विशेषता मानते हैं कि इसमें पुण्य भी हेय कहा गया है। यह सच है कि सिद्धावस्था में न पुण्य रहता है और न पाप। किन्तु इससे पुण्य को पाप की भाति हेय नही कहा जा सकता। साधक के लिए पुण्य उसी प्रकार उपादेय है, जिस प्रकार कि सवर एव निर्जरा। पुण्य की उपादेयता को आपेक्षिक दृष्टि से समझना होगा। इसकी उपादेयता ससारी जीवो की अपेक्षा से है, सिद्धो की अपेक्षा से नही। जब तक जीव मोहकर्म के अधीन है तब तक कषाय की हानि रूप विशुद्धिभाव अर्थात् पुण्य उसके लिए उपादेय है। ससारी प्राणी के लिए कषाय में कमी आना, भावो मे विशुद्धि आना, आत्मा का पवित्र होना कदापि हेय नही हो सकता।

दु ख-मुक्ति रूप साध्य के लिए पुण्य भी एक साधन है। इसलिए वह उपादेय है। यदि पुण्य तत्त्व को उपादेय नही माना जाए तो साधना का मार्ग ही अवरुद्ध हो जायेगा। सक्लेश से विशुद्धि मे आना साधना का अग है, जो पुण्य रूप ही है। जैन दर्शन मे पुण्य से उपलब्ध होने वाले मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वज्र ऋषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान आदि पुण्य प्रकृतियो के बिना मोक्ष स्वीकार नही किया जाता। अत इनकी प्राप्ति के लिए भी पुण्य तत्त्व की उपादेयता असदिग्ध है।

पुण्य को हेय मानने का एक परिणाम यह भी हुआ कि दया, अनुकम्पा, करुणा, सहानुभूति जैसे सद्गुणो को भी पुण्य का कारण मानकर हेय समझा जाने लगा, जिससे इन गुणो का महत्त्व ही समाप्त हो गया। पाप हेय है, पुण्य नही। प्रशस्त योग को पुण्य एव अप्रशस्त योग को पाप कहा जाता है। इस प्रशस्त योग को उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञानावरणादि घाती कर्मों का क्षय करने वाला बताया गया है-'पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणतघाइपज्जवे खवेइ।' (उत्तरा 29 7) अशुभ से निवृत्ति एव शुभ मे प्रवृत्ति को चारित्र का लक्षण बताया गया है-'असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्तिं च जाण चारित्त।' असयम

घातक है, इसलिए उसे छोड़ने एव सयम मे प्रवृत्ति करने के लिए आगम स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करता है–

एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तण ॥-उत्तरा १३२

पुण्य एव पाप तत्त्व की गणना नौ तत्त्वो मे होती है। नौ तत्त्वो का प्रतिपादन स्थानाग (नवम स्थान) उत्तराध्ययन (28 14), पचास्तिकाय (गाथा 108) एव गोम्माटसार जीवकाण्ड (गाथा 621) मे स्पष्टरूपेण हुआ है। किन्तु उमास्वाति ने पाप एव पुण्य का समावेश आस्रव तत्त्व मे करके सात ही तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। इससे उनके न चाहते हुए भी पुण्य एव पाप तत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तिया उत्पन्न हो गईं। यथा– पुण्य को भी पाप की भाति हेय मान लिया गया। आचार्य कुन्दकुन्द ने पाप को लोहे की बेड़ी कहा तो पुण्य को सोने की बेडी। इस प्रकार पुण्य को भी पाप की भॉति मुक्ति मे बाधक समझा गया।

पुस्तक के लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुण्य को पाप की भाति हेय की श्रेणि मे नही रखा जा सकता है। लेखक का यह मन्तव्य है कि जिस प्रकार मोक्ष की साधना मे सवर एव निर्जरा उपयोगी है, उसी प्रकार पुण्य भी उपयोगी है। लेखक ने पुण्य को तत्त्व के रूप मे भी निरूपित किया है तो कर्म के रूप मे भी। पुण्य तत्त्व को वे साधना की दृष्टि से उपयोगी मानते है तो पुण्य कर्म के उत्कृष्ट अनुभाग को केवलज्ञान के प्रकटीकरण मे भी आवश्यक मानते है। पुण्य कर्म का उदय केवलज्ञान की प्राप्ति मे कदापि बाधक नही है, क्योकि पुण्य कर्म अघाती होते है, जबकि ज्ञानावरण आदि घाती कर्म पाप रूप होते है।

पुण्य को लेखक ने सर्वार्थसिद्धि मे प्राप्त लक्षण 'पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा' के अनुसार आत्मा को पवित्र करने वाला स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध मे उन्होने प्रज्ञापना सूत्र, धवला टीका एव कर्मग्रन्थो मे प्रयुक्त सक्लेश एव विशुद्धि शब्दो को भी आधार बनाया है। विद्यमान कषाय में हानि (कमी) होना विशुद्धि है एव उसमे वृद्धि होना सक्लेश है। विशुद्धि की अवस्था मे आत्मा मे पवित्रता आती है तथा सक्लेश की अवस्था में आत्मा का पतन होता है। अत श्री लोढा सा ने विशुद्धि को पुण्य एव सक्लेश को पाप कहा है। 'कषाय की मन्दता पुण्य है, एव मन्द कषाय पाप है' नामक लेख मे लेखक ने स्पष्ट किया है कि विद्यमान कषायो का कम होना जहॉ पुण्य है, वहॉ अवशिष्ट रहे

कषाय तो पाप रूप ही होते है।

पाप त्याज्य है, पुण्य नही, इस तथ्य की पुष्टि आगमो के उन वाक्यों से होती है, जिनमे सर्वत्र पाप को ही त्याज्य निरूपित किया गया है। सर्वत्र पाप कर्मों को क्षय करने का सकेत किया गया है, पुण्य कर्मों के क्षय का कही कोई उल्लेख नही है। 'तवसा धुणइ पुराणपावग' (दशवै 9 4 4) 'सवरेण कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोह करेइ' (उत्तरा 29 55) आदि वाक्यो मे पाप कर्मों के आस्रव-निरोध या उनके क्षय करने का ही सकेत प्राप्त होता है, पुण्य कर्मो के आस्रव-निरोध एव उनके क्षय का नही।

'तत्त्वज्ञान और पुण्य पाप' प्रकरण मे लेखक ने प्रतिपादित किया है कि आस्रव, सवर, निर्जरा आदि तत्त्वो का आधार पाप कर्म है, पुण्य नही। जब आस्रव त्याज्य होता है तो पुण्य का आस्रव त्याज्य नही होता, पाप का ही आस्रव त्याज्य होता है। सवर भी पाप प्रवृत्ति या सावद्य प्रवृत्ति का ही किया जाता है, शुभ प्रवृत्ति का नही। इसी प्रकार साधना के द्वारा निर्जरा भी पाप कर्मो की ही की जाती है, पुण्य कर्मो की नही। पुण्य कर्म अघाती होते है, अत वे लेशमात्र भी आत्मगुणो को हानि नही पहुँचाते। लेखक का तो 'कर्म सिद्धान्त और पुण्य पाप' प्रकरण मे यह भी मन्तव्य है कि अघाती कर्म की पाप प्रकृतियो मे भी जीव के किसी गुण का घात नही होता है तब पुण्य प्रकृतियो को जीव के लिए घातक या हेय मानना नितान्त भ्रान्ति है। इस प्रकरण मे पुण्य-प्रकृतियो के सम्बन्ध मे विशेष सूचनाए दी गई है, यथा—

(1)जब तक पुण्य कर्म-प्रकृतियो का द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतु स्थानिक नही होता है तब तक सम्यग्दर्शन नही होता है और यह चतु स्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नही होता है तब तक केवल ज्ञान नही होता है। (पृष्ठ 35)

(2) देवद्विक पचेन्द्रिय जाति आदि 32 पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध उसी भव मे मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते हैं। (पृष्ठ 35)

(3)चौदहवे अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारो अघाती कर्मो की 85 पुण्य-पाप प्रकृतियो की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट होने मे बाधा उपस्थित नही होती। (पृष्ठ 40)

(4)मनुष्यगति, पचेन्द्रिय, जाति, सुभग, आदेय, यशकीर्ति आदि पुण्य-प्रकृतियो के उदय की अवस्था मे ही श्रावक (अणुव्रत), साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एव केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति सम्भव है।

(पृष्ठ 40)

(5)चारो अघाती कर्मो की मनुष्यायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, यशकीर्ति आदि 12 पुण्य प्रकृतियो का उदय चौदहवे गुणस्थान मे मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय तक रहता है।

पुण्य-पाप का सम्बन्ध अनुभाग बन्ध से है। जब परिणामो मे विशुद्धि होती है तो पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग मे वृद्धि होती है तथा पाप प्रकृतियो के अनुभाग मे कमी होती है। इससे पुण्य एव पाप के परस्पर विरोधी होने का बोध होता है। एक विशेष बात यह है कि पुण्य एव पाप दोनो कर्मो का स्थिति बन्ध कषाय से होता है। अत परिणामो मे विशुद्धि होने पर दोनो की स्थिति का अपवर्तन (ह्रास) होता है। विशुद्धिभाव होने पर पूर्वबद्ध पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियों मे सक्रमण होता है, पापास्रव का कथचित् सवर होता है, आदि तथ्यो का निरूपण 'पुण्य-पाप का परिणाम' लेख मे किया गया है। एक विशेष बात यह कही गई है कि पुण्य कर्म के अनुभाग मे वृद्धि स्थितिबन्ध के क्षय मे हेतु होती है।

'पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय के उदय से' प्रकरण मे पुण्योपार्जन एव पापोपार्जन की विस्तृत चर्चा करने के साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि (1)क्रोध कषाय के क्षय (कमी) से सातावेदनीय (2)मान कषाय के क्षय से उच्चगोत्र (3)माया कषाय के क्षय से शुभ नामकर्म और (4)लोभ कषाय मे कमी होने से शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है। इसके विपरीत इन चारो कषायो मे वृद्धि से क्रमश (1)असाता वेदनीय (2)नीचगोत्र (3)अशुभ नामकर्म और (4)अशुभ आयु का बन्ध होता है।

जितना पुण्य बढ़ता है अर्थात् विशुद्धिभाव बढ़ता है उतना ही पाप कर्मो का क्षय होता हैं। क्षायोपशमिक, औपशमिक एव क्षायिकभाव शुभभाव है। इनसे कर्मो का बन्ध नही होता है। कर्मो का बध औदयिकभाव से ही होता है। इस प्रकार का प्रतिपादन 'पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया' प्रकरण मे किया गया है।

लेखक का यह सुदृढ़ मन्तव्य है कि मुक्ति मे पुण्य सहायक है एव पाप बाधक है। पुण्य आत्मा को पवित्र करता है, बद्ध कर्मो की स्थिति का अपकर्षण करता है, इसलिए वह मुक्ति मे सहायक है, जबकि पाप कर्म विशेषत घाती कर्म मुक्ति मे बाधक है। लेखक का यह भी कथन है कि पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी भी प्रकार की साधना से सम्भव नही है।

पुण्य और पाप की चौकड़ी के अन्तर्गत श्री लोढ़ा सा ने असातावेदनीय के उदय में सक्लेश भावों से होने वाले कर्मबन्ध को पापानुबन्धी पाप बताया है। उन्होने धवला टीका के आधार पर सातावेदनीय के उदय मे सक्लेश भावो से होने वाले कर्मबन्ध को पापानुबन्धी पुण्य एव विशुद्धिभावों से होने वाले कर्मबन्ध को पुण्यानुबन्धी पुण्य बताया है।

'पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन' में पुण्य के सम्बन्ध मे साराश रूप अनेक बिन्दु समाहित हैं, जिनमे पुण्य को मुक्ति का साधन बताया गया है तथा कहा गया है कि पुण्य का भावात्मक या आन्तरिक रूप सरलता, मृदुता, विनम्रता, करुणा आदि गुण तथा पुण्य का क्रियात्मक रूप दान, दया, सेवा, स्वाध्याय, सतचर्चा, सत्चितन आदि हैं। लेखक ने करुणा आदि गुणो को आत्मा का स्वभाव सिद्ध किया है।

पुण्य शुभयोग रूप होता है। जयधवल टीका मे कहा गया है कि यदि शुभ एव शुद्ध परिणामो से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता—**सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो**' (जयधवल पुस्तक, पृष्ठ ५)। इसी ग्रन्थ मे अनुकम्पा एव शुद्ध उपयोग को पुण्यास्रव का एव अदया और अशुद्ध उपयोग को पापास्रव का कारण कहा है। अनुकम्पा से पुण्यास्रव भी होता है तो कर्मक्षय भी होता है, क्योकि पुण्यास्रव विशुद्धिभाव से होता है एव विशुद्धिभाव कर्मक्षय का भी हेतु है।

पुण्य को लेखक ने धर्म के रूप मे प्रतिपादित करते हुए कहा कि विशुद्धिभाव रूप पुण्य अथवा सद् प्रवृत्तिरूप पुण्य धर्म है। सकारात्मक अहिसा को भी वे धर्म एव पुण्य के रूप मे प्रतिपादित करते है। 'क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म' मे क्षायोपशमिक, क्षायिक और औपशमिकभाव को मोक्ष का हेतु होने से धर्म एव पुण्य के रूप मे निरूपित किया गया है।

पुण्य तत्त्व को आत्म-विकास का और पुण्य कर्म को भौतिक विकास का सूचक बताते हुए लोढा सा ने प्रतिपादित किया है कि पुण्यतत्त्व का सम्बन्ध आत्म-गुणो के प्रकट होने से है, जो आध्यात्मिक विकास को द्योतित करता है तथा पुण्य कर्म का सम्बन्ध पुण्य तत्त्व के फल रूप में मिलने वाले शरीर, इन्द्रिय, गति आदि सामग्री एव सामर्थ्य की उपलब्धि से है जो भौतिक विकास को इगित करता है। आध्यात्मिक विकास एव भौतिक विकास मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। ससारी अवस्था मे प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता है उतना ही उसका भौतिक विकास स्वत होता जाता है।

लेखक के अनुसार सद्गुणो का होना ही सम्पन्नता है एव दुर्गुणो का होना ही विपन्नता है। सद्गुण रूप सम्पन्नता पुण्य का एव दुर्गुण रूप विपन्नता पाप का फल है।

कृति के अन्त मे पुण्य-पाप विषयक 121 ज्ञातव्य तथ्य दिए गए है जो लेखक के व्यापक अध्ययन एव मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करने के साथ पाठक को नई दिशा प्रदान करते है।

पुण्य-पाप तत्त्व का आगम एव कर्म-सिद्धान्त के आलोक मे किया गया प्रतिपादन मौलिक-चिन्तन एव तार्किक कौशल से परिपूर्ण है। प श्री लोढा सा आगम एव कर्मसिद्धान्त के विशेषज्ञ होने के साथ प्रखर समीक्षक एव साधक भी है। उन्होने आत्मिक-विकास क्रम के आधार पर पुण्य तत्त्व एव पुण्य कर्म दोनो की उपयोगिता सिद्ध की है।

प्रो सागरमल जैन ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखकर जहॉ इस कृति को सुगम बनाया है वहॉ इसके महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है।प्रो जैन का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि पुण्य न बन्धनकारी है और न हेय, अपितु उसके साथ रहा हुआ कषाय, ममत्व, आसक्ति या फलाकाक्षा बन्धनकारी है, जो त्याज्य है।

आशा है विद्वद्वर्य प कन्हेयालाल जी लोढा की यह कृति सभी जैन सम्प्रदायो मे अध्ययन का विषय बनेगी एव इससे विचारो को नई दिशा मिलेगी।

धर्मचन्द जैन

भूमिका
(पुण्य की उपादेयता का प्रश्न)

लोकमगल या विश्वकल्याण सभी धर्मो और साधना पद्धतियो का सार है। जैनधर्म मे तीर्थंकर का, बौद्धधर्म मे बोधिसत्त्व का, हिन्दूधर्म मे अवतार का चरम लक्ष्य लोककल्याण की साधना ही है। लोकमगल के लिए ही वे धर्म का प्रवर्तन करते है। यह लोककल्याण की प्रवृत्ति ही परोपकार, सत्कर्म, कुशल कर्म, पुण्यकर्म, रक्षा आदि नामो से अभिहित की जाती है। करुणा, सेवा, रक्षा, परपीड़ा की निवृत्ति आदि इसके प्रमुख अग है। दूसरों के दु ख एव पीडा को दूर कर उन्हे सुख और शाति प्रदान करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। वैयक्तिक-विमुक्ति और आत्म-कल्याण की अपेक्षा भी सामाजिक दृष्टि से यह एक उच्च आदर्श है। इसीलिए बोधिसत्त्व कहता है कि दूसरो के दु ख दूर करने मे जो सुख मिलता है वह क्या कम है, जिसे छोडकर वैयक्तिक निर्वाण का प्रयत्न किया जाये। इस प्रकार लोककल्याण के चरम आदर्श की यह उपलब्धि वैयक्तिक-मुक्ति की अपेक्षा भी श्रेष्ठ मानी गई। किन्तु कालान्तर मे जब वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा प्रमुख हुई तो लोकमगल या परोपकार के कार्यो को आत्मसाधना से हेय माना जाने लगा। उन्हे रागात्मक, हिंसा-युक्त और बन्धन का हेतु कहा जाने लगा और इस प्रकार वे अनुपादेय या हेय की कोटि मे डाल दिये गये।

समस्या का इतिहास

जैन परम्परा मे सर्वप्रथम उमास्वाति ने पुण्य और पाप दोनो को आस्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके जो विरुद्ध धर्मी थे, उन्हे सजातीय बना दिया। परिणाम स्वरूप पाप के साथ पुण्य की उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लगा। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने और विशेषरूप से उनके टीकाकारो ने पुण्य को बन्धनरूप मानकर उसे हेय की कोटि मे डाल दिया। इस प्रकार लोकमगल रूप पुण्यप्रवृत्तियो की उपादेयता एक विवादास्पद विषय बन गई।

वैसे तो इस विवाद के सकेत सूत्रकृताग जैसे प्राचीन आगम मे भी मिलते है, जहा इस सम्बन्ध मे मुनि को तटस्थ दृष्टि अपनाने के सकेत हैं। वर्तमान युग मे दिगम्बर परम्परा मे इस विवाद को अधिक बल दिया गया पूज्य कानजी स्वामी और उनके समर्थक विद्वत् मण्डल की निश्चयनय प्रधान व्याख्याओ के द्वारा। श्वेताम्बर परम्परा मे भी आधुनिक युग मे यह विवाद मुखर हुआ तेरापथ परम्परा और अन्य श्वेताम्बर परम्पराओ के बीच।यद्यपि श्रमण जीवन की साधना मे हिसा-युक्त लोकमगल या परोपकार के कार्यो के प्रति

विधि-निषेध से ऊपर उठकर मध्यस्थ दृष्टि अपनाने के सकेत सूत्रकृताग जैसे प्राचीन जैनागमों मे मिलते है। फिर भी सामान्यतया दिगम्बर श्वेताम्बर मुनिवर्ग प्रेरणा के रूप मे और गृहस्थवर्ग यथार्थ मे लोक-कल्याण समाज-सेवा और परोपकार के कार्यों मे रुचि लेता रहा है। चाहे सैद्धान्तिक मान्यता कुछ भी हो, सम्पूर्ण जैन समाज परोपकार और सेवा की इन प्रवृत्तियो मे रुचि लेता रहा है। यद्यपि बीसवी शती के प्रारम्भिक वर्षो मे इस प्रश्न को लेकर पक्ष-विपक्ष मे कुछ स्वतत्र ग्रन्थ भी लिखे गये है।

सेवा, दान और परोपकार जैसी पुण्य प्रवृत्तियो की उपादेयता के सम्बन्ध मे प्रकीर्ण सकेत तो प्राचीनकाल से लेकर वर्तमान युग तक के अनेक ग्रन्थो में मिलते है, इस सम्बन्ध मे विद्वानो द्वारा कुछ लेख भी लिखे गये है। मैंने भी स्वहित और लोकहित का प्रश्न, 'सकारात्मक अहिसा' की भूमिका जैसे कुछ लेख लिखे। फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से बिना किसी मत या सम्प्रदाय पर टीका टिप्पणी किये मात्र आगमिक और कर्म सिद्धान्त के श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थो के आधार पर उनका गहन अनुशीलन करके प्रस्तुत कृति मे पुण्य की उपादेयता के सम्बन्ध मे पूज्य प श्री कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किये वे न केवल प्रामाणिक है, अपितु हमे इस प्रश्न पर पुनर्चिन्तन को बाध्य करते है। वस्तुत समस्या क्या है और उसका दार्शनिक समाधान क्या है, इस प्रश्न पर अग्रिम पृष्ठो मे कुछ गम्भीर चर्चा करेगे।

जैन तत्त्व-मीमासा मे पाप और पुण्य

भारतीय धर्म-दर्शनो मे पुण्य और पाप की अवधारणा अति प्राचीन काल से पाई जाती है। इन्हे धर्म-अधर्म, कुशल-अकुशल, शुभ-अशुभ, नैतिक-अनैतिक, कल्याण-पाप आदि विविध नामो से जाना जाता है। जैन धर्म-दर्शन मे भी तत्त्वमीमासा के अतर्गत नव तत्त्वो की अवधारणा मे पुण्य और पाप का स्वतत्र तत्त्व के रूप मे उल्लेख हुआ है। हमे न केवल श्वेताबर आगमो मे, अपितु दिगम्बर परम्परा मे आचार्य कुदकुद के ग्रथो मे भी नवतत्त्वो की यह अवधारणा प्राप्त होती है। इन नवतत्त्वो को नव पदार्थ या नव अर्थ भी कहा है, किंतु नाम के इस अतर से इनकी मूलभूत अवधारणा मे कोई अतर नही पड़ता है। श्वेताम्बर परम्परा मे नव तत्त्वो की इस अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख उत्तराध्ययन एव समवायाग मे पाया जाता है। पचास्तिकाय सार नामक ग्रन्थ मे इन नव तत्त्वो का नव पदार्थ के रूप मे उल्लेख हुआ है।

नवतत्त्वो की इस अवधारणा के अतर्गत निम्न नौ तत्त्व माने गए है—

1 जीव 2 अजीव 3 पुण्य 4 पाप 5 आस्रव 6 सवर 7 बध 8 निर्जरा और 9 मोक्ष

यहाँ हम देखते है कि नवतत्त्वो की इस सूची में पुण्य और पाप को स्वतत्र तत्त्व माना गया, किन्तु कालान्तर मे आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (लगभग ईसा की तीसरी सदी) मे इन नवतत्त्वो के स्थान पर सात तत्त्वो का प्रतिपादन किया और पुण्य तथा पाप को स्वतत्र तत्त्व न मानकर उन्हे आस्रव का भेद माना।

किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि पुण्य और पाप का न केवल आस्रव होता है अपितु उनका बध और विपाक भी होता है। अत पुण्य और पाप को मात्र आस्रव नही माना जा सकता। वस्तुत तत्त्वार्थ-सूत्र मे उमास्वाति की दृष्टि सक्षिप्तीकरण की रही है, क्योकि वह ग्रन्थ सूत्र रूप में है। यही कारण है कि उन्होने न केवल तत्त्वो के सम्बन्ध मे अपितु अन्य सन्दर्भों मे भी अपनी सूचियो का सक्षिप्तीकरण किया है, जैसे उत्तराध्ययन और कुदकुद के ग्रथो मे वर्णित चतुर्विध मोक्ष-मार्ग के स्थान पर त्रिविध मोक्ष-मार्ग का प्रतिपादन करते हुए तप को चारित्र मे ही अर्न्तभूत मान लेना, सप्तनय की अवधारणा मे समभिरूढनय एव एवभूतनय को शब्दनय के अतर्गत मानकर मूल मे पॉच नयो की अवधारणा को प्रस्तुत करना आदि। इसी क्रम मे उन्होने पुण्य और पाप को भी आस्रव के अतर्गत मानकर नव तत्त्वो के स्थान पर सात तत्त्वो की अवधारणा प्रस्तुत की है।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन के इतिहास मे कालक्रम मे विभिन्न तात्त्विक अवधारणो की सूचियो मे कही सकोच की तो कही विस्तार की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इसकी चर्चा प दलसुख भाई मालवणिया ने अपनी लघु पुस्तिका 'जैनदर्शन का आदिकाल' मे की है। जहॉ तक तत्त्वो की अवधारणा का प्रश्न है इस सन्दर्भ मे हमे ऐसा लगता है कि तत्त्वो की सख्या सबधी सूची सकुचित एव विस्तारित होती रही है। ज्ञातव्य है कि जैन धर्म दर्शन मे तत्वो को श्रद्धा का विषय माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र (1/3) मे तो स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि तत्त्व श्रद्धान ही सम्यक् दर्शन है। किन्तु जिन तत्त्वो पर श्रद्धा रखनी चाहिए अर्थात् उनको अस्ति रूप मानना चाहिए नास्ति रूप नही, इसकी चर्चा करते हुए सर्वप्रथम सूत्रकृताग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध के पाचवे अध्ययन मे बत्तीस तत्त्वो की एक विस्तृत सूची दी गई है, जो निम्न है–

(1)लोक (2)अलोक (3)जीव (4)अजीव (5)धर्म (6)अधर्म (7)बन्ध (8)मोक्ष

(9)पुण्य (10)पाप (11)आस्रव (12)सवर (13)वेदना (विपाक) (14)निर्जरा (15)क्रिया (16)अक्रिया (17)क्रोध (18)मान (19)माया (20)लोभ (21)प्रेम (राग) (22)द्वेष (23)चतुरगससार (24)सिद्धस्थान (25)देव (26)देवी (27)सिद्धि (28)असिद्धि (29)साधु (30)असाधु (31)कल्याण और (32)पाप (अकल्याण)। —सूत्रकृताग (२/५/७६५-७८)

यहाँ हम देखते है कि सोलह युग्मो मे बत्तीस तत्त्वो को गिनाया गया है। इन युग्मो मे धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य और कल्याण-अकल्याण (पाप) ये तीन युग्म ऐसे है जिनमे अर्थ की निकटता है, फिर भी जहाँ धर्म और अधर्म क्रमश सम्यक् एव मिथ्या साधना मार्ग के सूचक है, वहा पुण्य और पाप क्रमश सत्कर्म और असत्कर्म के अथवा नैतिक कर्म और अनैतिक कर्म के सूचक है। जबकि कल्याण एव पाप (अकल्याण) का सबध उपादेय और हेय से है। फिर भी इनमे किसी सीमा तक अर्थ की जो निकटता है उसको ध्यान मे रखते हुए तत्त्व सम्बन्धी अन्य सूचियो मे इन तीन युग्मो मे से दो को छोडकर मात्र पुण्य और पाप को ही स्थान दिया गया। सूत्रकृताग के ही द्वितीय श्रुत स्कन्ध (2 715) मे यह सूची रूप मे सकुचित मिलती ह। उसमे निम्न 12 तत्त्वो को ही स्वीकार किया गया है—

(1)जीव (2)अजीव (3)पुण्य (4)पाप (5)आस्रव (6)सवर (7)वेदना (8)निर्जरा (9)क्रिया (10)अधिकरण (11)बन्ध और (12)मोक्ष।

ऐसी ही एक अन्य सकुचित सूची आचाराग के प्रथम श्रुत स्कन्ध के आठव अध्ययन (उद्देशक 1) मे मिलती है। इसमे लोक के अस्तित्व-अनस्तित्व सादि-अनादि, ध्रुव (नित्य)-अनित्य, सान्त-अनन्त आदि की चर्चा के साथ-साथ सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि आर नरक-अनरक ऐसे पाच युग्मो मे दस तत्त्वो का उल्लेख है।

इसी क्रम मे उत्तराध्ययन सूत्र मे आते-आते तत्त्वो की इस सूची मे पुन सकोच हुआ और सूत्रकृताग की 12 तत्त्वो की इस सूची मे से वेदना, क्रिया और अधिकरण इन तीन को निकाल देने से केवल नव तत्त्व रह गये। फिर भी यहा तक पुण्य और पाप की स्वतत्र तत्त्वो के रूप मे स्वीकृति बनी रही। सर्वप्रथम उमास्वाति ने ही इन नव तत्त्वो मे से पुण्य और पाप को भी अलग करके अपनी तत्त्व सूची मे मात्र सात तत्त्वो को स्वीकृति दी तथा पुण्य और पाप को आस्रव के अन्तर्गत माना।

जब पुण्य और पाप आस्रव बन गये तो उनकी उपयोगिता पर ही प्रश्नचिह्न

लगना प्रारम्भ हा गया। क्योकि जो आस्रव अर्थात् बन्धन का हेतु हो वह मुक्ति मार्ग के साधक के लिए उपादेय या आचरणीय नही माना जा सकता। इस प्रकार पाप को अनुपादेय या हेय मानने के साथ-साथ पुण्य को भी अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई। जिसके परिणाम स्वरूप लोकमगल और परोपकार के कार्यो की उपेक्षा की जाने लगी और उन्हे आत्मसाधना की अपेक्षा से हेय या अनुपादेय माना जाने लगा। पुण्य और पाप जब तक स्वतत्र तत्त्व थे तब तक वे विरुद्धधर्मी थे, अत पाप को हेय और पुण्य को उपादेय माना जाता था। क्योकि वह हेय पाप का विरुद्धधर्मी था, अत उपादेय था। किन्तु जब वे दोनो आस्रव के भेद मान लिये गये तो वे परस्पर विरुद्धधर्मी या विजातीय न रहकर सजातीय या सहवर्गी बन गये। फलत पाप के साथ-साथ पुण्य भी हेय की कोटि मे चला गया और उसकी उपादेयता पर प्रश्न चिह्न लगाये गये।

पुण्य की उपादेयता पर कैसे लगा प्रश्न चिह्न ?

वस्तुत जब आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आस्रव का अग मान लिया तो स्वाभाविक रूप से यह समस्या उत्पन्न हुई कि जिसका आस्रव होता है, उसका बन्ध भी होता है और जिसका बन्ध होता है उसका विपाक भी होता है। इस प्रकार बन्ध और विपाक की प्रक्रिया से भव-भ्रमण की परम्परा चलती रहती है। पुन जो भी भव-भ्रमण का हेतु होगा, वह उपादेय नही हो सकता।

इस प्रकार पुण्य को आस्रव रूप मानने के परिणामस्वरूप उसको हेय मानने की अवधारणा विकसित हुई। इस अवधारणा को आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन से अधिक बल मिला कि पुण्य और पाप दोनो ही बन्धन के हेतु होने से बेडी के समान ही है। फिर वह बेडी चाहे सोने की हो या फिर लोहे की हो, बन्धन का कार्य तो करती ही है। इस प्रकार जब पाप के साथ-साथ पुण्य को भी समतुला पर रखकर हेय मान लिया तो उसका परिणाम यह हुआ कि अध्यात्मवादी मुमुक्षु साधको की दृष्टि मे पाप के साथ-साथ पुण्य भी अनुपादेय बन गया और परिणाम स्वरूप वे परोपकार और लोकमगल के कार्यो को भी बन्धन का निमित्त मानकर के उनकी उपेक्षा करने लगे। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो पुण्य और पाप को क्रमश सोने और लोहे की बेडी ही कहा था। किन्तु उनके परवर्ती टीकाकारो ने तो पुण्य-पाप दोनो को बन्धन का रूप कहकर उनकी पूर्णत उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया। प जयचदजी छाबडा अपनी समयसार की भाषा वचनिका मे लिखते है-

'पुण्य पाप दोय करम, बन्ध रूप दुई मानी।
शुद्ध आतम जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानी॥'

इस प्रकार पाप के साथ-साथ पुण्य कर्म भी अनुपादेय मान लिये गये। चाहे पुण्य को आस्रव या बन्ध रूप मान भी लिया जाये फिर भी उसकी उपादेयता को अस्वीकार नही किया जा सकता। किन्तु सही समझ के लिये कर्मो के बन्धक और अबन्धक होने की स्थिति की तथा उनके शुभत्व-अशुभत्व एव शुद्धत्व की समीक्षा अपेक्षित है।

तीन प्रकार के कर्म

जैन दर्शन मे 'कर्मणा बध्यते जन्तु' की उक्ति स्वीकार्य रही है, लेकिन इसमें कर्म अथवा क्रियाए समान रूप से बन्धनकारक नही है। उसमे दो प्रकार के कर्म माने गये है-एक को कर्म कहा गया है, दूसरे को अकर्म। समस्त साम्परायिक क्रियाए अर्थात् राग-द्वेष एव कषाय युक्त क्रियाएँ कर्म की कोटि मे आती हैं और ईर्यापथिक क्रियाएँ अकर्म की कोटि मे आती है। नैतिक दर्शन की दृष्टि से प्रथम प्रकार के कर्म ही उचित अनुचित की कोटि मे आते है और दूसरे प्रकार के कर्म नैतिकता के क्षेत्र से परे है। उन्हे अनैतिक कहा जा सकता है। लेकिन नैतिकता के क्षेत्र मे आने वाले सभी कर्म भी एकसमान नही होते है। उनमे से कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते है। जैन परिभाषा मे इन्हे क्रमश पुण्य-कर्म और पाप-कर्म कहा जाता है। इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार कर्म तीन प्रकार के होते है—(1)ईर्यापथिक कर्म(अकर्म) (2)पुण्य-कर्म और (3)पाप-कर्म।

अशुभ या पाप कर्म

जैन आचार्यो ने पाप की यह परिभाषा की है कि वैयक्तिक सन्दर्भ मे जो आत्मा को बन्धन मे डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियो का क्षय करे, वह पाप है।[1] सामाजिक सन्दर्भ मे जो परपीडा या दूसरो के दु ख का कारण है, वह पाप हैं (पापाय परपीडनम्)। वस्तुत जिस विचार एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति हो वह पाप है। वे सभी कर्म जो स्वार्थ, घृणा या अज्ञान के कारण दूसरे का अहित करने की दृष्टि से किये जाते है, पाप कर्म है। इतना ही नही, सभी प्रकार के दुर्विचार और दुर्भावनाए

---

१ अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ५, पृ ८७६

भी पाप कर्म हैं।

पाप कर्मों का वर्गीकरण

जैन दृष्टिकोण—जैन दार्शनिको के अनुसार पाप कर्म 18 प्रकार के है—1 प्राणातिपात (हिसा), 2 मृषावाद (असत्य भाषण) 3 अदत्तादान (चौर्यकर्म), 4 मैथुन (काम-विकार), 5 परिग्रह (ममत्व, मूर्छा, तृष्णा या सचयवृत्ति), 6 क्रोध (गुस्सा), 7 मान (अहकार) 8 माया (कपट, छल, षड्यत्र और कूटनीति) 9 लोभ (सचय या सग्रह की वृत्ति), 10 राग (आसक्ति), 11 द्वेष (घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि), 12 क्लेश (सघर्ष, कलह, लडाई, झगडा आदि), 13 अभ्याख्यान (दोषारोपण), 13 पिशुनता (चुगली), 15 परपरिवाद (परनिन्दा), 15 रति-अरति (हर्ष और शोक), 17 माया-मृषा (कपट सहित असत्य भाषण) 18 मिथ्यादर्शनशल्य (अयथार्थ जीवनदृष्टि)।[2]

पुण्य (कुशल कर्म)

पुण्य वह है जिसके कारण सामाजिक एव चैतसिक स्तर पर समत्व की स्थापना होती है। मन, शरीर और बाह्य परिवेश मे सन्तुलन बनाना यह पुण्य का कार्य है। पुण्य क्या है इसकी व्याख्या मे तत्त्वार्थसूत्रकार कहते है—शुभास्रव पुण्य है।[3] दूसरे जैनाचार्यो ने उसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से की है। आचार्य हेमचन्द्र पुण्य की व्याख्या करते हुए कहते है कि पुण्य अशुभ कर्मो का लाघव है और शुभ कर्मो का उदय है।[4] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की दृष्टि मे पुण्य अशुभ (पाप) कर्मों की अल्पता और शुभ कर्मो के उदय के फलस्वरूप प्राप्त प्रशस्त अवस्था का द्योतक है। निर्वाण की उपलब्धि मे पुण्य के सहायक स्वरूप की व्याख्या आचार्य अभयदेव की स्थानागसूत्र की टीका मे मिलती है। आचार्य अभयदेव कहते है कि पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है।[5] इस प्रकार आचार्य अभयदेव की दृष्टि मे पुण्य आध्यात्मिक साधना मे सहायक तत्त्व है। वस्तुत पुण्य मोक्षार्थियो की नौका के लिए अनुकूल वायु है जो नौका को भवसागर से शीघ्र पार करा देती है।[6] जैन कवि बनारसीदासजी समयसार नाटक मे कहते है कि

---

2 जैन सिद्धान्त बोल-सग्रह, भाग 3, पृ 182

3 तत्त्वार्थसूत्र 6/4

4 योगशास्त्र 4/107

5 स्थानाग टीका, 1 11-12

6 जैन धर्म, पृ 84

'जिससे भावो की विशुद्धि हो, जिससे आत्मा आध्यात्मिक विकास की ओर बढ़ता हो और जिससे इस ससार मे भौतिक समृद्धि और सुख मिलता हो वही पुण्य है।'[7]

जैन तत्त्वज्ञान के अनुसार, पुण्य-कर्म वे शुभ पुद्गल परमाणु है जो शुभवृत्तियो एव क्रियाओ के कारण आत्मा की ओर आकर्षित हो बन्ध करते है और अपने विपाक के अवसर पर शुभ अध्यवसायो, शुभ विचारो एव क्रियाओ की ओर प्रेरित करते है तथा आध्यात्मिक विकास हेतु मानसिक एव भौतिक अनुकूलताओ के सयोग प्रस्तुत कर देते है। आत्मा की वे मनोदशाए एव क्रियाए भी पुण्य कहलाती हैं जो शुभ पुद्गल परमाणु को आकर्षित करती है। साथ ही दूसरी ओर वे पुद्गल-परमाणु जो इन शुभ वृत्तियो एव क्रियाओ को प्रेरित करते हैं और अपने प्रभाव से आरोग्य, सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान एव सयम के अवसर उपस्थित करते है, पुण्य कहे जाते है। शुभ मनोवृत्तिया भावपुण्य है और शुभ पुद्गल-परमाणु द्रव्य पुण्य है।

पुण्य या कुशल कर्मों का वर्गीकरण

भगवती सूत्र मे अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ प्रवृत्तियो को पुण्योपार्जन का कारण कहा गया है।[8] स्थानागसूत्र मे नौ प्रकार के पुण्य निरूपित है।[9]

1 अन्नपुण्य—भोजनादि देकर क्षुधार्त की क्षुधा-निवृत्ति करना।

2 पानपुण्य—तृषा (प्यास) से पीडित व्यक्ति को पानी पिलाना।

3 लयनपुण्य—निवास के लिए स्थान देना जैसे धर्मशालाएँ आदि बनवाना।

4 शयनपुण्य—शय्या, बिछौना आदि देना।

5 वस्त्रपुण्य—वस्त्र का दान देना।

6 मनपुण्य—मन से शुभ विचार करना अर्थात् जगत् के मगल की शुभकामना करना।

7 वचनपुण्य—प्रशस्त एव सतोष देने वाली वाणी का प्रयोग करना।

---

7 समयसार नाटक उत्थानिका, 28

8 भगवतीसूत्र, 7/10/121

9 स्थानागसूत्र, 9

8 कायपुण्य--रोगी, दु खित एव पूज्य जनो की सेवा करना।

9 नमस्कार पुण्य--गुरुजनो के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उनका अभिवादन करना।

पुण्य और पाप (शुभ और अशुभ) की कसौटी

शुभाशुभता या पुण्य-पाप के निर्णय के दो आधार हो सकते है-1 कर्म का बाह्य स्वरूप अर्थात् समाज पर उसका प्रभाव और 2 कर्ता का अभिप्राय। इन दोनो मे कौन सा आधार यथार्थ है, यह विवाद का विषय रहा है। गीता और बौद्ध दर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कृत्यों की शुभाशुभता का सच्चा आधार माना गया है। गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि 'जिसमे कर्तृत्व भाव नही है, जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, वह कर्तव्यभाव से इन सब लोगो को मार डाले तो भी यह समझना चाहिये कि उसने न तो किसी को मारा है और न वह उस कर्म से बन्धन को प्राप्त होता है।'[10] धम्मपद मे बुद्ध-वचन भी ऐसा ही है कि नैष्कर्म्यस्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एव प्रजा सहित राष्ट्र को मारकर भी निष्पाप होकर जाता है।[11] बौद्ध दर्शन मे कर्ता के अभिप्राय को ही पुण्य-पाप का आधार माना गया है। इसका प्रमाण सूत्रकृतागसूत्र के आर्द्रक सम्वाद मे भी मिलता है।[12] जहॉ तक जैन मान्यता का प्रश्न है, विद्वानो के अनुसार उसमे भी कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म की शुभाशुभता का आधार माना गया है। मुनि सुशीलकुमार जी लिखते है कि, शुभ-अशुभ कर्म के बध का मुख्य आधार मनोवृत्तिया ही है। एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाये परन्तु डाक्टर तो पाप-कर्म के बन्धन का ही भागी होगा। इसके विपरीत वही डाक्टर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ-भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।[13] पडित सुखलालजी भी यही कहते है, पुण्यबध और पाप-बध की सच्ची कसौटी केवल ऊपरी क्रिया नही है, किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्ता का आशय ही है।[14] जैन दर्शन के अनुसार जिस व्यक्ति मे ससार

---

10 भगवद् गीता 18 17

11 धम्मपद, 249

12 सूत्रकृताग, 2/6/27-42

13 जैन धर्म, पृष्ठ 160

14 दर्शन और चिंतन, खण्ड 2, पृष्ठ 226

के सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् दृष्टि है, वही पुण्य कर्मों का स्रष्टा है।[15] दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है कि समस्त प्राणियो को जो अपने समान समझता है और जिसका सभी के प्रति समभाव है, वह पाप-कर्म का बध नही करता है।[16] सूत्रकृताग के अनुसार भी धर्म-अधर्म (शुभाशुभत्व) के निर्णय में अपने समान दूसरे को समझना चाहिए।[17] सभी को जीवित रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नही चाहता। सभी को अपने प्राण प्रिय है। सुख अनुकूल है और दु ख प्रतिकूल है। इसलिए वही आचरण श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा किसी भी प्राणी का हनन नही हो।[18]

कौन सा कर्म बन्धनकारक है और कौनसा कर्म बन्धन कारक नही है, इसका निर्णय क्रिया के बाह्य रूप से नही वरन् क्रिया के मूल मे निहित चेतना की रागात्मकता के आधार पर होगा। प सुखलालजी कर्मग्रन्थ की भूमिका मे लिखते हैं कि साधारण लोग यह समझ बैठते है कि अमुक काम नही करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नही लगेगा, इससे वे काम को छोड देते है। पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नही कर सकते। यदि कषाय (रागादिभाव) नही है तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन मे रखने मे समर्थ नही है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नही सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धनकारक नही होता।[19]

अत बन्धन के भय से परोपकार की प्रवृत्तियो एव लोकहित के अपने दायित्वो को छोड़ बैठना उचित नही हैं।

क्या पुण्यकर्म (शुभकर्म) आस्रव ही है?

वस्तुत पुण्य को अनुपादेय या हेय मानने की प्रवृत्ति का मूल कारण उसे आस्रव रूप मानना है। यह ठीक है कि उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र मे शुभ का

---

15 अनुयोगद्वारसूत्र, 129

16 दशवैकालिक सूत्र, 129

17 सूत्रकृताग 2/2/4/, पृष्ठ 104

18 दशवैकालिक 6/11

19 कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, भूमिका, पृ 25 26

आस्रव कहा है, किन्तु प्रथम तो ध्यान रखना आवश्यक हे कि शुभ का आस्रव हेय नही है। उमास्वाति ने भी कही भी शुभ को हेय नही कहा है। जो भी आस्रव है, वह सभी हेय या अनुपादेय है ऐसा अनेकातवादी जैन दर्शन का सिद्धान्त नही है। आचाराग सूत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो आस्रव के हेतु है, वे परिस्रव अर्थात सवर और निर्जरा के हेतु भी बन जाते हैं और जो परिस्रव अर्थात सवर और निर्जरा के हेतु है वे आस्रव के हेतु भी बन सकते है। अत पुण्य कर्म आस्रव रूप ही है—ऐसी जैन दर्शन की एकान्त अवधारणा नही है। प्रस्तुत कृति मे पप्रवर कन्हैयालाल जी लोढ़ा कसायपाहुड की जयधवल टीका के आधार पर लिखते है कि दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद् प्रवृत्तियो को शुभयोग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभयोग को सवर भी कहा गया है। जयधवला मे कहा गया है कि शुभ और शुद्ध परिणामो से कर्मों का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता है। वस्तुत उनकी यह अवधारणा युक्तिसगत है कि शुभभाव कषाय के उदय से नही, कषाय की मदता से होते है अत वे सवर रूप भी है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि शुभ परिणामो के उदय से अशुभ परिणामो का सवर होता है और अशुभ परिणामो का सवर ही वास्तविक अर्थ मे सवर है। पुण्य मे प्रवृत्ति होने से पाप से निवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। अत पुण्य को आस्रव रूप और सवर रूप दोनो ही मानना होगा। पुण्य चाहे शुभ का आस्रव हो, किन्तु उसी समय वह अशुभ का तो सवर हे ही।'

पुण्य कर्म और उनका बन्ध एव विपाक

यह सत्य हे कि पुण्य कर्म भी है। क्योकि उसका आस्रव, बन्ध और विपाक माना गया है, किन्तु सभी प्रकार के आस्रव और बन्ध समान नही होते है। वस्तुत वही आस्रव, बन्ध एव विपाक हेय कहा जाता है जिसके कारण आत्मा का स्वस्वभाव विकारी बनता है अर्थात् विभाव परिणति होती है। जैन परम्परा मे इह घाती कर्म कहा गया हे। पुण्य के द्वारा जिन कर्म प्रकृतियो का बन्ध होता है वे सभी अघाती कर्म की है अर्थात् उनसे आत्मा का स्वभाव विकारी नही होता हे। मोक्ष-प्राप्ति के समय मे आयुष्य कर्म का क्षय होने पर अर्थात् आयुष्य पूर्ण होने पर पुण्य कर्म भी स्वत ही समाप्त हो जाते है। पुण्य कर्मो को क्षय करने पर किसी प्रयत्न या पुरुषार्थ की अपेक्षा नही होती है।

पुण्य कर्म तभी बन्धक बनते है जब वे फलाकाक्षा और रागात्मकता से युक्त होते है। अन्यथा तो वे ईर्यापथिक कर्म की तरह प्रथम समय मे बधकर दूसरे

ही समय मे निर्जरित हो जाते हे, उनका स्थिति बन्ध नही होता है, क्योकि स्थिति बध कषाय के निमित्त से होता है और कषाय चाहे किसी भी रूप मे हो वह पुण्य रूप नही माना जा सकता है।

पुण्य प्रकृति का बन्ध तो मन, वचन, काया के शुभ योग ही करते है। कषाय के अभाव मे वीतराग के पुण्य कर्म होते हुए भी मात्र ईर्यापथिक आस्रव एव वन्ध होता है। जैन कर्म सिद्धान्त का नियम है कि ग्यारहवे गुणस्थान मे कषाय के उदय नही होने पर जीवो पर करुणा, सेवा एव विनय रूप पुण्य प्रवृत्तिया रहने पर भी उनसे मात्र द्विसमय की सत्ता वाले ईर्यापथिक सातावेदनीय (पुण्य प्रकृति) का बन्ध होता है। जिसे जैन परम्परा मे ईर्यापथिक कर्म या अकर्म कहा गया है, ऐसा कर्म वस्तुत कर्म ही नही है। वस्तुत जो भवभ्रमण का कारण हो या मुक्ति मे बाधक हो या जिससे आत्म-स्वभाव विकार दशा या विभाव दशा को प्राप्त होता हो वही कर्म है, शेष तो अकर्म ही है। सूत्रकृताग मे अप्रमाद की स्थिति मे सम्पन्न क्रिया को अकर्म कहा गया है। इसलिए वह सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य कर्म न तो हेय है ओर न उपेक्षा के योग्य हे, अपितु ऐसा कर्म तो कर्त्तव्य भाव से करणीय ही माना गया है। वस्तुत जो लोग पुण्य को बन्धन रूप मानकर उसकी उपेक्षा का निर्देश करते हे, वे पुण्य के वास्तविक स्वरूप से परिचित ही नही है। उन्होने फलाकाक्षा युक्त सकाम कर्म करने को ही पुण्य कर्म समझ लिया है। जो वास्तविक अर्थ मे पुण्य कर्म न होकर पाप ही है, क्योकि 'राग' पाप है।

पुण्य की उपादेयता का प्रश्न

पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक साधक प्रज्ञापुरुष प कन्हैयालाल जी लोढा ने अति परिश्रम करके प्रस्तुत कृति मे सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुण्य हेय नही है, अपितु उपादेय है।

यदि पुण्य कर्म को मुक्ति मे बाधक मानकर हेय मानेगे तो तीर्थकर नाम गोत्र कर्म को भी मुक्ति मे बाधक मानना होगा, किन्तु कोई भी जैन विचारक तीर्थकर नाम गोत्र कर्म के बन्ध को मुक्ति मे बाधक, अनुपादेय या हेय नही मानता है। क्योकि तीर्थकर नाम गोत्रकर्म के बन्ध के पश्चात् नियमत तीसरे भव मे अवश्य मुक्ति होती है। पुन तीर्थकर नाम-गोत्र कर्म का, जब तक उनके आयुष्य कर्म की स्थिति होती है तब तक ही अस्तित्व रहता है। अत वह मुक्ति मे बाधक नही होता, क्योकि तीर्थकर नाम कर्म से युक्त जीव तीर्थकर नाम कर्म गोत्र के उदय की अवस्था मे नियम से ही मुक्ति को प्राप्त होता है।

वस्तुत व्यक्ति मे जब तक योग अर्थात् मन-वचन-कर्म की प्रवृत्तियाँ हैं तब तक कर्मास्रव अपरिहार्य है। फिर भी जैनाचार्यों ने इन योगो अथवा मन, वचन, और काया की प्रवृत्तियो को हेय नही बताया है और न उन्हे त्यागने का ही निर्देश दिया है। उनका निर्देश मात्र इतना ही है कि मन, वचन और काया की जो अशुभ या अप्रशस्त प्रवृत्तिया है, उन्हें रोका जाये, प्रशस्त प्रवृत्तियो के रोकने का कही भी कोई निर्देश नही है। तीर्थकर अथवा केवली भी योग-निरोध उसी समय करता है जब आयुष्य कर्म मात्र पाच ह्रस्व-स्वरों के उच्चारण मे लगने वाले समय के समतुल्य रह जाता है, अत पुण्य कर्म को मुक्ति मे बाधक या ससार परिभ्रमण का कारण नही माना जा सकता है। वस्तुत ससार परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व है क्योकि राग-द्वेष या कषाय के अभाव मे मात्र योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों के कारण जो कर्मास्रव होता है उससे ईर्यापथिक बन्ध होता है, साम्परायिक बन्ध नही होता। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार बन्ध के चार प्रकारों में योग के निमित्त मात्र प्रकृति और प्रदेश का ही बन्ध होता है, किन्तु राग-द्वेष एव कषाय का अभाव होने के कारण उनका स्थिति बन्ध नही हो पाता। अत ईर्यापिथिक आस्रव और ईर्यापथिक बन्ध मे स्थिति का अभाव होता है और स्थिति के अभाव मे वे कर्म दूसरे समय के पश्चात् ही निर्जरित हो जाते है, अत पुण्यास्रव या पुण्य कर्म ससार परिभ्रमण का कारण नही है। सत्य तो यह है कि ईर्यापथिक आस्रव वस्तुत बन्ध नही करता है।

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि पुण्य कर्म करने मे प्रशस्त राग होता है और प्रशस्त राग भी ससार परिभ्रमण का कारण होता है। वस्तुत यहा हम दो बातो को आपस मे मिला देते है। कर्म की प्रशस्तता और कर्म की रागात्मकता ये दो अलग-अलग तथ्य है। जो प्रशस्त कर्म हो वह रागात्मक भी हो, यह आवश्यक नही है। बधन मे डालने वाला तत्त्व राग-द्वेष या कषाय है, जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार उसकी अनुपस्थिति मे बन्धन नही होता है। वस्तुत प्रशस्तकर्म का सम्पादन बन्धन का कारण नही हे। सभी सद्प्रवृत्तिया या पुण्य कर्म रागात्मकता या आसक्ति से उत्पन्न नही होते है। प्रज्ञावान आत्माओ के कर्म कर्तव्य भाव से होते है और मात्र कर्तव्य बुद्धि (Sense of duty) से किया गया विनय या सेवा रूप कार्य बन्धन का नही अपितु निर्जरा का ही हेतु होता है। इस प्रकार कर्म-फल की आकाक्षा, ममत्व बुद्धि या कषाय ही उसके बन्धन के कारण है क्योकि उनकी उपस्थिति मे ही कर्म का

स्थितिबन्ध होता है और स्थिति को लेकर जो कर्म बन्धते है, वे ही ससार परिभ्रमण के कारण और मुक्ति मे बाधक होते है, न कि कर्तव्य बुद्धि से किये गये सत्कर्म या पुण्य कर्म।

क्या पुण्य धर्म नही है?

पुन यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि जो आस्रव का हेतु हो या कर्म रूप हो वह धर्म नही हो सकता। पुण्य आस्रव है वह धर्म नही है अथवा यह कि पुण्य कर्म है अत वह धर्म नही हो सकता। वस्तुत आस्रव या कर्म धर्म है या धर्म नही है—यह प्रश्न इस तथ्य से जुड़ा हुआ है कि धर्म से हमारा क्या तात्पर्य है? सामान्यतया धर्म शब्द वस्तु स्वभाव, कर्त्तव्य भाव और साधना पद्धति इन तीन अर्थो मे प्रचलित है। यदि हम धर्म का अर्थ स्वभाव लेते है तो हमे यह विचार करना होगा कि पुण्यास्रव या पुण्य बध या पुण्य विपाक आत्मा के विभाव रूप है या स्वभाव रूप है। इतना निश्चित है कि पुण्य का आस्रव, पुण्य का बध और पुण्य का उदय या विपाक विभाव के हेतु नही है। वे विभाव के हेतु तभी बनते है जब उनके साथ राग-द्वेष या कषाय के तत्त्व प्रविष्ट हो जाते हैं। राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशुद्ध रूप से कर्त्तव्य बुद्धि से विनय प्रतिपत्ति और वैयावृत्ति या सेवा के कार्य विभाव परिणति के कारण नही है, क्योकि कर्त्तव्य बुद्धि से की गयी क्रियाएँ ममत्व या राग से नही, अपितु त्याग भावना से ही प्रतिफलित होती है। जैन परम्परा में पुण्य के रूप मे दान, सेवावृत्ति और विनय प्रतिपत्ति का जो उल्लेख हुआ है, वह त्याग भावना और मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से सभव है। दान ममत्व के विसर्जन मे ही सभव होता है और ममत्व का विसर्जन या त्याग भाव स्वभाव परिणति है, विभाव परिणति नही। पुन यदि त्याग भाव या ममत्व का विसर्जन स्वभाव परिणति है तो वह धर्म है और ऐसी स्थिति मे पुण्य को भी धर्म ही मानना होगा। पुन त्याग भाव अथवा मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया गया कर्म वस्तुत निष्काम कर्म या अकर्म की कोटि मे आता है, क्योकि जो कर्म राग-द्वेष-ममत्व से ऊपर उठकर मात्र कर्तव्य बुद्धि से किया जाता है ऐसा निष्काम कर्म धर्म का ही अग है। बिना फल की आकाक्षा के कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म करने पर विभाव मे परिणति नही होती है, क्योकि विभाव दशा तभी सभव होती है जब 'पर' मे 'स्व' का अर्थात् ममत्व बुद्धि का आरोपण होता है। ममत्व बुद्धि या रागात्मकता से अथवा फलाकाक्षा से किया गया कार्य ही बन्धन का कारण होता है और इसलिए उसकी गणना अशुभ कर्म या पाप कर्म मे होती है, किन्तु ममत्व बुद्धि से ऊपर

उठकर मात्र कर्त्तव्य बुद्धि से जो कर्म किया जाता है वह कर्म अकर्म बन जाता है और निष्काम कर्म या अकर्म धर्म ही होता है अत पुण्य धर्म है। वस्तुत शुभ कर्म या पुण्य कर्म करते समय यदि व्यक्ति ममत्व बुद्धि या रागात्मकता को रखकर चलता है तो वह पुण्य को पाप में ही परिवर्तित कर देता है। उसे पापानुबन्धी पुण्य कहा है वही बन्धन रूप है। न केवल जैन परम्परा मे अपितु गीता में भी कर्त्तव्य बुद्धि से किये गये कर्म बन्धन के कारण नही माने गये है, अपितु उन्हें धर्म या मुक्ति का हेतु ही कहा गया है। कर्म में रागात्मकता या फलबुद्धि आने पर कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाती है और कर्त्तव्य बुद्धि समाप्त हो जाने पर वह कर्म विकर्म या पाप कर्म बन जाता है। अत पुण्य आस्रव का निमित्त होते हुए भी धर्म ही है, क्योकि उसमें कर्त्तव्य बुद्धि ही होती है। अत पुण्य को धर्म की कोटि मे ही स्थान देना होगा।

पुण्य धर्म नही है अथवा धर्म पुण्य नही है या पुण्य और धर्म भिन्न-भिन्न है—जो लोग ऐसी अवधारणा रखते है, वे वस्तुत पुण्य का अर्थ ममत्व बुद्धि या रागात्मकता से युक्त कर्म ही लेते है। किन्तु सभी शुभ कर्म या पुण्य कर्म रागात्मकता से ही सम्पन्न होते है, यह नही माना जा सकता है। अनेक शुभ कर्म या पुण्य कर्म मात्र कर्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते है और जो कर्म मात्र कर्तव्य बुद्धि से सम्पन्न होते हैं वे धर्म ही कहे जायेगे क्योकि कर्तव्य-पालन धर्म ही है। वस्तुत किसी कर्म मे ममत्व बुद्धि या फलाकाक्षा का जितना तत्त्व होता है, वही उसे अशुभ या पाप में परिवर्तित कर देता है। वे पुण्य कर्म जो कर्तव्य बुद्धि से या निष्काम भाव से सम्पन्न किये जाते है, वे धर्म ही हैं। वे न तो बन्धन के हेतु है और न मोक्ष की प्राप्ति मे बाधक है। ऐसे कर्मो के सम्बन्ध मे धर्म और पुण्य को एकात्मक या अभिन्न मानना होगा। सेवा, विनय आदि के जिन कर्मों के पीछे ममत्व बुद्धि या फलाकाक्षा जुड़ी हुई होती है, वे शुद्ध रूप मे पुण्य कर्म नही कहे जा सकते है। वे पापानुबन्धी पुण्य है और इसी प्रकार सेवादि के जिन कार्यो मे फलाकाक्षा या फल बुद्धि है वे पुण्यानुबन्धी पाप है। क्योकि भविष्य की फलाकाक्षा उन्हे पापरूप बना देती है।

जिन स्थितियो मे पुण्य और पाप का मिश्रण है वहाँ रागात्मकता या फलाकाक्षा की उपस्थिति उस कर्म को पुण्य से पाप के रूप मे वैसे ही परिवर्तित कर देती है जैसे दूध में डाला गया थोड़ा सा दही सम्पूर्ण दूध को दही मे परिवर्तित कर देता है। जैन दर्शन मे पाप के जो अठारह प्रकार माने गये है उनमें राग-द्वेष भी है। रागात्मकता पुण्य नही है, अत वह धर्म भी नही है।

जिस कर्म के पीछे रागात्मकता या फलाकाक्षा होगी वह पाप कर्म या अधर्म ही होगा। अत प्रशस्त राग जैसे शब्द मात्र भ्रान्ति ही खड़ी करते है। कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा राग कभी भी प्रशस्त नही है, अत वह धर्म नही है।

पुण्य क्या है ? यदि इस प्रश्न का सक्षिप्त उत्तर देना है तो हम कहेगे—पुण्य वह है जो आत्मा को पवित्र करता है। (पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्) पुण्य की इस व्युत्पत्तिपरक परिभाषा के आधार पर उसे किसी भी स्थिति मे हेय और त्याज्य नही कहा जा सकता है, क्योकि सभी धर्मो और साधना पद्धतियो का मूल उद्देश्य तो आत्मा की पवित्रता को ही प्राप्त करना है जो तत्त्व आत्मा की पवित्रता में साधक हो वह हेय या त्याज्य कैसे हो सकता है। पुण्य की दूसरी परिभाषा-'परोपकार. पुण्याय पापाय परपीडनम्' के अनुसार जिससे दूसरो को दु ख हो, पीडा पहुँचे वह पाप है और जो दूसरो का हित करे, उपकार करे वह पुण्य है। इस प्रकार परोपकार को ही धर्म कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है-

'परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥'

केवल उन्ही पुण्यकर्मो को धर्म की कोटि मे नही लिया जा सकता जो फलाकाक्षा या ममत्व बुद्धि से प्रेरित होते है जो भी लोकमगल के कार्य मात्र कर्तव्यबुद्धि से किये जाते है, जिनके पीछे किसी फलाकाक्षा या रागद्वेष का तत्त्व नही होता, वे धर्म से अभिन्न ही हैं, क्योकि उनमे जो ईर्यापथिक आस्रव और ईर्यापथिक बध होता है वह वस्तुत बध नही है। निष्काम पुण्य प्रवृत्तिया शुभ भी होती है और शुद्ध भी। शुभ शुद्ध का विरोधी नही होता है, क्योकि पुण्य का कार्य आत्मविशुद्धि रूप प्रवृत्तिया है वे धर्म ही है।

शुभ एव शुद्ध अविरोधी है

सामान्यतया यह समझा जाता है कि पुण्य प्रकृतियो और निवृत्तिमूलक धर्म-साधना मे अथवा शुभ और शुद्ध मे परस्पर विरोध है, किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। शुद्ध दशा की उपलब्धि के लिये शुभ की साधना आवश्यक होती है, जैसे कपड़े के मैल को हटाने के लिये साबुन आवश्यक है। हम यह जानते है कि अशुभ प्रवत्ति से निवृत्ति तभी सभव होती है जब शुभ योग मे प्रवृत्ति होती है। अशुभ से बचने के लिये शुभ मे अथवा पाप प्रवृत्तियो से बचने के लिये पुण्य प्रवृत्तियो मे जुड़ना आवश्यक है। हमारी चित्तवृत्ति प्रारम्भिक अवस्था मे निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त नही हो सकती। चित्त विशुद्धि के लिये

सर्वप्रथम चित्त मे लोक मगल या लोक कल्याण की भावना को स्थान देना होता है। अशुभ से शुभ की ओर बढ़ना होता है और शुभ की ओर बढ़ना ही शुद्ध की ओर बढ़ना है। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि के लिये पहले साबुन आदि लगाना होता है, साबुन आदि द्रव्य वस्त्र की विशुद्धि मे साधक ही होते है बाधक नही। उसी प्रकार निष्काम भाव से किये गये लोक मगल के कार्य भी मुक्ति मे साधक होते है बाधक नही। जिस प्रकार वस्त्र की शुद्धि प्रक्रिया मे भी वस्त्र से मैल को निकालने का ही प्रयत्न किया जाता है साबुन तो मैल के निकालने के साथ ही स्वत ही निकल जाता है उसी प्रकार चाहे पुण्य प्रवृत्तियो के निमित्त से आस्रव होता भी हो, किन्तु वह आस्रव आत्म-विशुद्धि का साधक ही होता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोग की अवस्था मे पुण्य के आस्रव से स्थिति बध नही होना। तीर्थंकर अथवा केवली सदैव शुद्धोपयोग मे ही रहते है, किन्तु उनको भी अपनी योग प्रवृत्ति के द्वारा वेदनीय कर्म का आस्रव जो पुण्य प्रकृति का आस्रव है या - ईर्यापथिक आस्रव है, होता ही रहता है। इसका फलित यह है कि शुभोपयोग शुद्धोपयोग मे बाधक नही है, अपितु साधक ही है। जैन साधना का क्रम यही है कि व्यक्ति अशुभ से शुभ की ओर और शुभ से शुद्ध को ओर बढ़े। अत शुभोपयोग और शुद्धोपयोग परस्पर विरोधी नही है शुभोपयोग के सद्भाव मे शुद्धोपयोग सभव है। वस्तुत शुद्धोपयोग मे बाधक वे ही तथाकथित शुभ प्रवृत्तिया होती है, जो फलाकाक्षा से या रागात्मकता से युक्त होती है। वस्तुत तो वे फलाकाक्षा या रागात्मकता के कारण अशुभ ही होती है, किन्तु लोक व्यवहार मे अथवा उपचार से उन्हे शुभ कहा जाता है। उदाहरण के रूप मे कोई व्यक्ति अपने अह की सतुष्टि के लिये अर्थात् मानकषाय की पूर्ति के लिये दान देता है। बाहर से तो उसका यह कर्म शुभ दिखाई देता है, किन्तु वस्तुत वह मान कषाय का हेतु होने के कारण अशुभ ही है। शुभ कर्म दो प्रकार के होते है एक वे जो बाह्य प्रतीति के रूप मे तो शुभ दिखाई देते है, किन्तु वस्तुत शुभ होते नही है, मात्र व्यवहार मे उन्हे शुभ कहा जाता है। दूसरे, वे जो निष्काम भाव से मात्र दूसरों के प्रति अनुकपा या हित बुद्धि से किये जाते हैं वे वस्तुत शुभ होते है। निष्काम भाव और कर्तव्य बुद्धि से लोक मगल के लिये किये गये ऐसे कर्म शुभ भी है और शुद्ध भी। यहा शुभ और शुद्ध में विरोध नही है। कसायपाहुड की जयधवला टीका मे अनुकपा और शुद्धोपयोग से भी आश्रव माना है, किन्तु ऐसा आश्रव हेय नही है। तीर्थंकर वीतराग होते है। उन्हे शुद्धोपयोग दशा मे भी योग की

सत्ता बने रहने पर शुभास्रव तो होता ही है। अत शुद्धोपयोग और शुभास्रव विरोधी नही है। शुद्धोपयोग आत्मा की अवस्था है जबकि शुभ योग, जो पुण्य बध का कारण है मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का परिणाम है। जब तक जीवन है, योग होगे ही। यदि शुभ योग नही होंगे तो अशुभ योग होगे, अत अशुभ से निवृत्ति के लिये शुभ मे प्रवृत्ति आवश्यक है अर्थात् पाप से निवृत्ति के लिये पुण्य रूप प्रवृत्ति आवश्यक है। पाप से अर्थात् अशुभ योग से निवृत्ति होने पर ही शुभ योग के द्वारा शुद्धोपयोग की प्राप्ति सभव है। शुभ -योग शुद्धोपयोग मे बाधक नही, साधक है। शुभ योग और शुद्धोपयोग में साधन-साध्य भाव है, अत उन्हे अविरोधी मानकर शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति के लिये साधन रूप शुभ योगो अर्थात् पुण्य कर्मों का अवलबन लेना चाहिये। पाप रूपी बीमारी को हटाने के लिये पुण्य प्रवृत्ति औषधि रूप है जिससे आत्म-विशुद्धि रूप स्वास्थ्य या शुद्धोपयोग दशा की प्राप्ति होती है। शुद्धोपयोग में शुभोपयोग अर्थात् पुण्य कर्म बाधक नही साधक ही है। वस्तुत शुभाशुभ कर्मो से जो ऊपर उठने की बात कही जाती है उसका तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मोक्ष रूपी साध्य की उपलब्धि होने पर व्यक्ति पुण्य पाप दोनो का अतिक्रमण कर जाता है। जिस प्रकार नदी पार करने के लिये नौका की अपेक्षा होती है, किन्तु जैसे ही किनारा प्राप्त हो जाता है, नौका भी छोड़ देना पड़ती है, किन्तु इससे नौका की मूल्यवत्ता या महत्ता को कम नही आकना चाहिये। पार होने के लिये उसकी आवश्यकता तो अपरिहार्य रूप से होती है। वैसे ही ससार रूपी समुद्र से पार होने के लिये पुण्य रूपी नौका अपेक्षित है, क्योकि साधना की पूर्णता मानवीय गुणो की अभिव्यक्ति में है और मानवीय गुणो की अभिव्यक्ति के लिये पुण्य कर्मो का सम्पादन आवश्यक है, अत पुण्य कर्मों की उपादेयता निर्विवाद है।

पुण्य कर्मो को बधन रूप मानकर जो उनकी उपेक्षा जाती है वह बधन के स्वरूप की सही समझ नही होने के कारण है। पुण्य कर्म जब निष्काम भाव से किये जाते है तो उनसे बन्धन नही होता है।यदि जैन धर्म की शास्त्रीय भाषा मे कहें तो उनमे मात्र ईर्यापथिक बन्ध होता है, जो वस्तुत बन्ध नही है। बन्धन जब भी होगा वह राग-द्रेष (कषाय) एव फलाकाक्षा की सत्ता होने पर ही होगा, उनका अभाव होने पर बन्धन नही होगा। जैन कर्म सिद्धान्त का यह शाश्वत नियम है कि किसी भी कर्म का स्थिति बन्ध कषाय के कारण है। अत वीतराग दशा की प्राप्ति पर शुभ कर्म या पुण्य कर्म अकर्म बन जाते है, वे बन्धन नही

करते हैं। अत त्याज्य 'कषाय' है न कि 'पुण्य' कर्म । आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति अर्थात् शुद्धोपयोग मे उपस्थिति कषाय के अभाव मे सभव है। अत उसकी प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है, न कि पुण्य प्रवृत्ति का। वस्तुत जब राग-द्वेष (कषाय) एव फलाकाक्षा समाप्त हो जाती है तब वह शुभकर्म अकर्म बन जाता है। कषाय चाहे अधिक हो या अल्प, वह त्याज्य है, वह पापरूप ही है क्योंकि वह बन्धन का कारण ही है। आदरणीय कन्हैयालाल जी लोढ़ा का यह कथन शत प्रतिशत सही है कि मन्द कषाय पापरूप है, किन्तु कषाय की मन्दता पुण्य रूप है। कषाय में जितनी मन्दता होगी पुण्यप्रभार उतना ही अधिक होगा। पुण्य प्रवृत्ति जब भी होती है, वे कषाय की मन्दता में ही होती है। अत कषाय चाहे वह मन्द ही क्यो न हो, त्याज्य है-किन्तु कषाय की मन्दता उपादेय है, क्योंकि साधक कषाय को मन्द करते-करते अन्त मे वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है और जब वह वीतराग दशा को उपलब्ध हो जाता है तो उसकी स्वाभाविक रूप से नि सृत होने वाली लोकमगलकारी पुण्य प्रवृत्तियाँ बन्धन कारक नही होती है। वे त्याज्य नही, अपितु उपादेय ही होती है। बन्धन पुण्य प्रवृत्तियो से नही होता है, बन्धन तो व्यक्ति की निदान बुद्धि या फलाकाक्षा से होता है। अथवा कषाय की उपस्थिति से होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के अनुसार भी कर्मबन्ध दसवें गुणस्थान तक ही सभव है, क्योंकि दसवे गुणस्थान मे सज्वलन लोभ (सूक्ष्म लोभ) की सत्ता है। ग्यारहवे गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक लोकमगल की प्रवृत्तियो के फलस्वरूप जो द्वि-समय का ईर्यापथिक सातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है वस्तुत वह बन्धन नही है। अत पुण्य रूप सद्प्रवृतियाँ बन्ध रूप नही हैं अत वे हेय नही उपादेय है। हेय तो कषाय है, जो पाप रूप है। प्रस्तुत कृति मे प कन्हैयालाल जी लोढ़ा ने पुण्य प्रवृत्तियो की उपादेयता को सप्रमाण सिद्ध किया है, उनके मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु निम्न है-

(1) पुण्यतत्त्व और पुण्यकर्म मे अन्तर है। चाहे पुण्य कर्म बन्धन के निमित्त हो, किन्तु पुण्यतत्त्व बन्धन का निमित्त नही है। पुण्यकर्म क्रिया या योग रूप है। इससे उसका आस्रव एव बन्ध सभव है, किन्तु पुण्यतत्त्व उपयोग रूप है, शुभ आत्म परिणाम रूप है जो कषाय की मन्दता का परिणाम है। अत कषाय की मन्दता रूप पुण्य तत्त्व आत्म-विशुद्धि का निमित्त होने से उपादेय है।

(2) कषाय की मन्दता और मन्द कषाय मे अन्तर हे। जहाँ कषाय की मन्दता पुण्य रूप है वहाँ मन्द कषाय भी पाप रूप है। कषाय की मन्दता से

शुभपरिणाम होते है और उससे पुण्य तत्त्व मे अभिवृद्धि होती है, जबकि मन्द कषाय से भी अशुभ परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और उनसे पाप तत्त्व की अभिवृद्धि होती है। इस प्रकार कषाय की मन्दता पुण्य का हेतु है, जबकि मन्द कषाय पाप के हेतु है।

(3) कषाय की मन्दना से हुई पुण्य की अभिवृद्धि आत्म-विशुद्धि का हेतु होने से मोक्ष की उपलब्धि मे साधक है। अत पुण्य मोक्ष का साधक होने से उपादेय है, जबकि पाप मोक्ष मे बाधक होने से हेय है।

(4) पुण्य पाप का प्रक्षालन करता है, अत पुण्य सोने की बेड़ी न होकर सोने का आभूषण है। बेड़ी बन्धन मे डालती है, आभूषण नही। बेड़ी बाध्यतावश धारण करना पड़ती है, जबकि आभूषण स्वेच्छा से धारण किया जाता है। अत बेड़ी से हम इच्छानुसार मुक्त नही हो सकते है किन्तु आभूषण से इच्छानुसार मुक्त हो सकते है। अत आभूषण रूप पुण्य के क्षय का कोई उपाय किसी साधना मे निर्दिष्ट नही है।

(5) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियो से बन्ध नही होता है। बन्ध तो तभी होता है, जब कर्ता मे फलाकाक्षा, निदान कर्तृत्व या भोक्तृत्व रूप कषाय परिणाम हो। सक्षेप मे शुभयोग के साथ रहा हुआ कषाय भाव ही उन कर्मों के स्थिति बध का कारण होता है। शुभ योग कर्म बध का कारण नही होता है।

(6) पुण्य स्वभाव है, स्वभाव का नाश नही होता है। पुन जो स्वभाव होता है, वही धर्म है। पुण्य स्वभाव है अत वह धर्म है। पुन स्वभाव का त्याग सभव नही है, अत पुण्य त्याज्य नही है। यही कारण है कि तीर्थंकर केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भी लोककल्याण या प्राणियो के प्रति अनुकम्पा की दृष्टि से ही तीर्थ प्रवर्तन, धर्मोपदेश आदि प्रवृत्ति करते है। अत पुण्य कभी भी त्याज्य नही है, वह सदैव ही उपादेय है।

(7) पुण्य केवल आस्रव या बध रूप नही है, अपितु सवर और निर्जरा रूप भी है, अत पुण्य हेय नही उपादेय है।

(8) पुण्य-पाप कर्म का सबध उनकी फलदान शक्ति-अनुभाग से है, स्थिति बध से नही है।

(9) जैन दर्शन मे वीतरागता की उपलब्धि के लिये रागादि पापो को ही त्याज्य कहा है, पुण्य को नही। अत आस्रव, सवर, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्वो

के भेद-उपभेद का प्रतिपादन पाप को लक्ष्य मे रखकर ही किया है, पुण्य को लेकर नही।

(10) जैन कर्म-सिद्धात मे जीव के स्वभाव व गुण का घातक घाती कर्मो को ही कहा है, अघाती कर्मो को नही। अघाती कर्मों की असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पापप्रकृतियो की सत्ता भी जीव के केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि किसी भी गुण की उपलब्धि में बाधक नही है। अत पुण्य प्रकृतियो को जीव के किसी गुण की उपलब्धि मे एव वीतरागता मे बाधक मानना सिद्धात विरुद्ध है।

(11) पुण्य-पाप दोनो विरोधी है। अत जितना पाप घटता है उतना ही पुण्य बढ़ता है। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि पाप के क्षय की सूचक है। पुण्य के अनुभाग के घटने से पाप कर्मो के स्थिति और अनुभाग बध नियम से बढते है।

(12) पुण्य के अनुभाग का किसी भी साधना से यहाँ तक कि केवल समुद्घात से भी क्षय नही होता है।

(13) चारो अघाती कर्मो की पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन चारो कषायो के घटने से व क्षय से होता है।

(14) पुण्य त्याज्य नही है, पुण्य के साथ रहा हुआ फलाकाक्षा निदान, भोक्तृत्वभाव कर्तृत्वभाव रूप कषाय व पाप त्याज्य है। जैसे गेहू के साथ रहे हुए ककर-मिट्टी एव भूसा त्याज्य है, गेहूँ त्याज्य नही है।

(15) पुण्य का अनुभाग बढ़कर चतु स्थानिक हुए बिना सम्यग्दर्शन और उत्कृष्ट हुए बिना केवलज्ञान नही होता है। अत पुण्य आत्म-विकास में, साधना मे बाधक व हेय नहीं है।

यह तो हमने पण्डित प्रवर लोढ़ाजी की स्थापनाओ की सक्षिप्त झलक दी है। उन्होने प्रस्तुत कृति के अन्त मे ऐसे एक सौ इक्कीस तथ्य प्रस्तुत किये है, जो पुण्य की उपादेयता को सिद्ध करते है। वस्तुत उनकी ये स्थापनाए किसी पक्ष-विशेष के खण्डन-मण्डन की दृष्टि से नही, अपितु जैन कर्म सिद्धात के ग्रन्थो के गभीर आलोडन का परिणाम है। वे मात्र विद्वान नही है, अपितु साधक भी है। उनके द्वारा इस कृति की रचना का प्रयोजन उनके अन्तस् मे प्रवाहमान करुणा की अजस्रधारा ही है। उनका प्रतिपाद्य मात्र यही है कि धर्म और आध्यात्मिकता के नाम पर सेवा और करुणा की सद्प्रवृत्तियो का समाज से

विलोप नही हो। क्योकि मनुष्य की मनुष्यता इसी मे है कि वह दूसरे प्राणियो का रक्षक बने, उनके सुख-दु ख का सहभागी बने।

वस्तुत मै पूज्य लोढाजी का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लेखन का दायित्व मुझे देकर उनकी इस गहन गभीर तात्त्विक कृति मे अवगाहन का अवसर दिया।

अन्त मे मैं पुन पूज्य प कन्हैयालालजी लोढ़ा का विद्वज्जगत की ओर से अभिनन्दन करते हुए यही अपेक्षा करूँगा कि वे ऐसे चिन्तनपूर्ण किन्तु भावप्रवण लेखनो के माध्यम से हमारा मार्ग दर्शन करते रहे। इसके साथ ही उनके शिष्य और मेरे अनुजतुल्य तथा प्रस्तुत कृति के सम्पादक डा धर्मचद जैन का और प्रकाशक सस्था प्राकृत भारती का भी आभारी हूँ, जिनके सतत आग्रह से यह भूमिका लिखी जा सकी। इस भूमिका लेखन मे हुए विलम्ब के लिये मैं न केवल लेखक, सम्पादक और प्रकाशक सस्था से अपितु उन सुधी पाठको से भी क्षमायाचना करता हूँ जिन्हे सुदीर्घ अवधि तक प्रतीक्षारत रहना पड़ा।

वैशाख शुक्ला १० वीरनिर्वाण स २५२६
(केवल ज्ञान दिवस)
शाजापुर (म.प्र)

सागरमल जैन
मानद् निदेशक
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

6977

पुण्य : स्वरूप और महत्त्व

'पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम्' अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। यह परिभाषा प्राचीन काल से सभी जैनाचार्यों को मान्य है यथा--

पुण्ण पूदपवित्ता पसत्थसिवभद्दखेमकल्लाणा।
सुहसोक्खादी सव्वे णिद्दिट्ठा मगलस्स पज्जाया॥ –तिलोयपण्णत्ति, गाथा ८

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ, सौख्य, और मगल ये सब समानार्थक पर्यायवाची शब्द कहे गये है।

इस प्रकार पुण्य और मगल दोनो शब्दो में कोई अतर नही है, जो मगल का अर्थ है वही पुण्य का अर्थ है।

पुण्येन तीर्थंकरश्रिय परमा नै श्रेयसी चाश्नुते।
–पद्मपुराण, सर्ग ३०, श्लोक २८

अर्थ—पुण्य से तीर्थंकर की श्री प्राप्त होती है और परम कल्याण रूप मोक्ष लक्ष्मी भी पुण्य से मिलती है।

सुह-सुद्धपरिणामेहि कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।
–जयधवल, पुस्तक १ पृ ६

अर्थ—यदि शुभ या शुद्ध परिणामो अर्थात् पुण्य से कर्मों का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता।

मोक्षम्याति, परमपुण्यातिशय-चारित्र-विशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव सभवात्।

अर्थ—अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति परम पुण्य और चारित्र रूप पुरुषार्थ के द्वारा ही सभव है।

पुण्य दानादिक्रियोपार्जनीय शुभ कर्म। –स्याद्वादमजरी, २७

अर्थ—दानादि क्रियाओ से उपार्जित किया जाने वाला शुभ कर्म पुण्य है।

पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम्। –सर्वार्थसिद्धि (६/३)

अर्थ—जो आत्मा को पवित्र करता है या जिस (कार्य) से आत्मा पवित्र होती है, वह पुण्य है।

'**पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्य शुभ कर्म।**' स्थानाग-अभयदेवसूरिवृत्ति॥ जो आत्मा को पवित्र करता है वह शुभ कर्म पुण्य है।

मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते मल गालयति विनाशयति, घातयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम्॥ –धवलपुस्तक १, पृष्ठ ३३

अर्थात् जो मल (कर्ममल) को गलावे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, हनन करे, शोधन करे, विध्वस करे उसे मगल कहते हैं।

मल दो प्रकार का है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म द्रव्यमल है और अज्ञान आदि भाव मल है अर्थात् मगल पुण्य आठो कर्मो का क्षय-नाश करने वाला है।

पुण्य का उपार्जन सयम रूप निवृत्तिपरक साधना से हो अथवा दया, दान, परोपकार रूप प्रवृत्तिपरक साधना से हो, वह मुक्ति मे सहायक होता है, बाधक नही।

रयणत्तयरूवे अज्जाकम्मे दयाइसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगो जो वट्टइ सो होइ सुहभावो॥ –रयणसार ६५

रत्नत्रय, आर्य (शुभ-श्रेष्ठ) कर्म, दया आदि धर्म इत्यादि भावो से युक्त होकर जो वर्तन करता है वह शुभ भाव होता है।

'पुण' शुभे इति वचनात्' पुणति शुभीकरोति, पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्। –अभिधानराजेन्द्रकोष, भाग ५ पृ ९९१

अर्थात् 'पुण्य' शुभ है, जो आत्मा को शुभ करता है, पुनीत व पवित्र करता है वह पुण्य है।

इह जीविएराय ! असासयम्मि, घणियं तु पुण्णाइ अकुव्वमाणो।
से सोयइ मच्चु-मुहोवणीए, धम्मं अकाउण परंसि (सि) लोए॥

–उत्तराध्ययन सूत्र अ १३ गाथा २१

हे राजन् ! इस अशाश्वत मानव-जीवन मे जो प्रचुर पुण्य कर्म नही करता है वह मृत्यु के मुख मे पहुँचने पर सोच (चिन्ता-शोक) करता है और वह धर्म न करने के कारण परलोक मे भी पछताता है।

पुण्य की आवश्यकता— भगवान् द्वारा प्ररूपित उपर्युक्त सूत्र से यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि साधक के लिए पुण्य आवश्यक है। जो पुण्य नही करता है वह धर्म नही कर सकता, क्योकि आत्मा पुण्य से ही पवित्र होती है अथवा आत्मा का पवित्र होना ही पुण्य है तथा पुण्य के फल से पचेन्द्रिय जाति, मानव भव, मन, बुद्धि आदि मिलते हैं, त्याग का बल मिलता है, जिसके बिना कोई भी जीव मुक्ति नही पा सकता, क्योकि इनके बिना वह साधना नही कर सकता।

पुण्य का स्वरूप–जिससे आत्मा पवित्र होती है वह पुण्य है। आत्मा प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पवित्र होती है। दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, विनम्रता, मृदुता मैत्री, उपकार, सेवा आदि सभी सद्प्रवृत्तियों से आत्मा पवित्र होती है एव सयम, सवर, तप, व्रत प्रत्याख्यान आदि त्याग रूप निवृत्ति से भी आत्मा पवित्र होती है। अत पुण्य का उपार्जन प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो से होता

है।

सद्प्रवृत्तियाँ मन, वचन, तन तथा सद्व्यवहार से होती हैं जैसा कि कहा है—

'अन्नपुण्णे, पाणपुण्णे, लयणपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वयणपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।' —ठाणाग सूत्र, नवम ठाणा

अर्थात् अन्न पुण्य, पान पुण्य, लयण पुण्य, शयन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य, नमस्कार पुण्य ये नव प्रकार के पुण्य है।

इन नौ प्रकार के पुण्यों मे प्रथम पाच पुण्य वस्तुओ के दान से सबधित है। प्राणियो एव मानव की मूलभूत आवश्यकताए पॉच हैं—भूख, प्यास, निवास, विश्राम और वस्त्र। इन आवश्यकताओ की पूर्ति न होनें से प्राणी दु खी रहते है। इन दु खो को दूर करने के लिए भूखे को भोजन खिलाना, प्यासे को पानी पिलाना, रहने को स्थान देना, विश्राम मे सहायता करना, पहनने को वस्त्र देना ये पाच पुण्य वस्तुओ से सबधित है। मन से दूसरो का भला विचारना व सच्चितन करना मन पुण्य है। वचन से हितकारी वचन बोलना व सत् चर्चा करना वचन पुण्य है। काय मे साधु, रोगी, बालक, वृद्ध एव असहाय लोगो की सेवा करना काय पुण्य है। सब प्राणियो के प्रति नम्रता का व्यवहार करना नमस्कार पुण्य है।

उपर्युक्त सद्प्रवृत्तियो मे दूसरो के हित के लिए अपने विषय सुखो की स्वार्थपरता का त्याग करना होता है। त्याग से आत्मा का उत्थान होता है, आत्मा पवित्र होती है। अत इन्हे पुण्य कहा जाता है। यही कारण है कि जितना सयम, त्याग, तप बढ़ता जाता है, उतनी ही पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती जाती है।

'पुण्य' के विभिन्न रूप

'पुण्य' शब्द का प्रयोग अनेक रूपो मे होता है यथा—पुण्यतत्त्व, पुण्य भाव, पुण्यप्रवृत्ति, पुण्य आस्रव, पुण्य कर्मो का बध (प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश), पुण्य का फल आदि। आगे इन्ही का सक्षेप मे विवेचन किया गया हैं।

पुण्यतत्त्व—जिन भावो एव क्रियाओ से आत्मा पवित्र होती है उन्हे पुण्य कहते है। यह पुण्यतत्त्व दो प्रकार का होता है यथा—भावात्मक और क्रियात्मक।

भावात्मक पुण्यतत्त्व—जिन भावो से आत्मा पवित्र होती हे वे भावात्मक पुण्य है। आत्मा पवित्र होती है कषाय मे कमी होने से , अहिसा, सयम, तप,

त्याग से, विषयो के प्रति वैराग्य से और करुणा, अनुकपा आदि भावों से। ये सब भाव आत्मा को पवित्र करने वाले होने से पुण्य रूप है।

क्रियात्मक पुण्यतत्त्व—कषाय की कमी से आविर्भूत क्षमा, सरलता, विनम्रता, उदारता आदि गुणो का क्रियात्मक रूप मैत्री, अनुकपा, दया, वात्सल्य, वैयावृत्त्य, परोपकार, दान, सेवा सुश्रूषा आदि समस्त सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य तत्त्व की क्रियात्मक रूप है । क्योकि इन सबसे पाप कर्मों का क्षय एव पुण्य का उपार्जन होता है।

पुण्यास्रव—सद्‌भावो एव सद्प्रवृत्तियो से मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, शरीर आदि पुण्य प्रकृतियो के कर्म दलिको का उपार्जन होता है, यह पुण्य का आस्रव कहा जाता है।

पुण्य कर्म का बध—पुण्य कर्म का बध चार प्रकार का है—(१) प्रकृतिबध (२) स्थितिबध (३) अनुभागबध और (४) प्रदेशबध। यथा—

प्रकृतिबध—पुण्य प्रकृतिया आठ कर्मों मे से वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्मों की ही होती है, यथा—वेदनीय कर्म की साता वेदनीय, आयु कर्म की तिर्यच-मनुष्य-देव आयु, गोत्र कर्म की उच्च गोत्र तथा नाम कर्म की मनुष्य गति, देवगति, पचेन्द्रिय जाति, औदारिक-वैक्रिय-आहारक, तैजस-कार्मण शरीर, औदारिक-वैक्रिय-आहारक अगोपाग, वज्रऋषभनाराचसहनन, समचतुरस्त्र सस्थान, शुभ वर्ण-गध-रस-स्पर्श, शुभ विहायोगति, देव-मनुष्य आनुपूर्वी, अगुरुलघु, निर्माण, आतप, उद्योत, पराघात, श्वासोच्छ्‌वास, तीर्थंकर, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, सुभग, स्थिर, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति ये सैतीस प्रकृतियाँ, इस प्रकार सब मिलाकर कुल बियालीस प्रकृतियाँ है। ये सभी प्रकृतियाँ अघाती कर्मो की है।

स्थितिबध—पुण्य की ४२ प्रकृतियो मे से तीन आयु को छोड़कर शेष समस्त प्रकृतियो का स्थितिबध कषाय से होता है। कषाय जितना अधिक होता है उतना ही इनका स्थिति बध अधिक होता है। परन्तु ये प्रकृतियाँ अघाती होने से इनका स्थिति बध जीव के लिए कुछ भी हानिकारक नही है।

अनुभागबध—कर्म-सिद्धान्त मे बताया गया है कि पाप का अनुभाग कषाय से होता है, परन्तु पुण्य का अनुभाग कषाय से नही होकर कषाय में कमी होने से, कषाय के घटने से होता है। जितना-जितना कषाय घटता जाता है और आत्मा पवित्र होती जाती है उतना-उतना पुण्य का अनुभाग या रस बढ़ता जाता है। फलदान शक्ति रस रूप होने से पुण्य का अनुभाग ही पुण्य का सूचक है। अत जहा भी पुण्य का विवेचन किया जाता है वहाँ पुण्य के अनुभाग और

रस को ही ग्रहण किया जाता है, स्थिति को नही।

प्रदेश बध—पुण्य प्रकृतियो के दलिको का बधना पुण्य कर्म का प्रदेश बध है। प्रदेश बध न्यूनाधिक होने से इनके अनुभाग मे कोई अतर नही पडता है अर्थात् अनुभाग न्यूनाधिक नही होता है। अत कर्मों का प्रदेश बध के न्यूनाधिक होने का कोई महत्त्व नही है।

पुण्य का फल

पुण्य का फल दो प्रकार से मिलता है— (१) घाती कर्मो के क्षय के रूप मे और (२) अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियो के उपार्जन के रूप मे। यह नियम है कि आत्मा जितनी पवित्र होती है उतना ही घाती कर्मो का क्षय होता जाता है और अघाती कर्मो की शुभ प्रकृतियो का अनुभाग बढ़ता जाता है, जो जीव के प्राणो के विकास का द्योतक एव साधना मे सहयोगी होता है।

■

पाप - स्वरूप और भेद

पाप व पुण्य का सबध प्रवृत्ति स ह । प्रवृत्ति दो प्रकार की होती ह—(१) दुष्प्रवृत्ति और (२) सद्प्रवृत्ति । जिस प्रवृत्ति से अहित हो, हानि हो, दु ख हो, पतन हो वह दुष्प्रवृत्ति है, पाप है । 'पातयति आत्मान इति पापम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस प्रवृत्ति से आत्मा का पतन हो, हानि हो, अहित हो वह दोष है, वह 'पाप' है । दोष युक्त प्रवृत्ति को दुष्प्रवृत्ति कहा जाता है । दोष, अधर्म, पाप, दुष्कर्म, दुष्प्रवृत्ति आदि शब्द पर्यायवाची है । दुष्कर्म चाहे मन का हो, चाहे वचन का हो, चाहे काया का हो, सभी पाप है, दोष है, अधर्म है, बुरे है । कोई भी अपने को दोषी, पापी, दुष्ट कहलाना पसद नही करता है । अत दोष, पाप या बुराई के त्याग मे ही अपना हित है, कल्याण है ।

हमारे प्रति की गई जिस क्रिया को, प्रवृत्ति को, व्यवहार को हम बुरा मानते हैं वह दोष है, बुराई है, पाप है । जैसे कोई हमे मारता-पीटता है, कष्ट देता है, पीड़ा पहुँचाता है, झूठ बोलता है, हमारी चोरी करता है, हमे ठगता है, हानि पहुँचाता है, धोखा देता है, हमारे पर क्रोध करता है, द्वेष करता है, हमारी निदा करता है, बुराई करता है, हमारा बुरा करता है तो हम सबको उसका मारना पीटना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि ये सब प्रवृत्तियाँ या व्यवहार बुरे लगते है । हम इन सब कार्यो व इन कार्यो को करने वालो को बुरा समझते है । अत ये सब दुष्कर्म व पाप है । यह ज्ञान बालक से वृद्ध तक, अज्ञ से विज्ञ तक, मानव मात्र को स्वत प्राप्त है, इसमे किसी गुरु व ग्रन्थ की अपेक्षा नही है । अत यह ज्ञान स्वय-सिद्ध है, स्वाभाविक ज्ञान है, किसी की देन नही है, निजज्ञान है । स्वय सिद्ध होने से इस ज्ञान के लिए अन्य किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नही है ।

यह नैसर्गिक नियम है कि जेसा बीज बोया जाता है वैसा ही फल लगता है । उपर्युक्त सब कार्य बुरे है, अत इन सबका फल बुरा, अनिष्ट व दु ख रूप ही मिलता है । अत जिन्हे दु ख से, अनिष्ट से बचना इष्ट है उन्हे इन सब दुष्कर्मो से, पापो से बचना ही होगा ।कोई पाप भी करे और उसके परिणाम से दु ख न पावे यह कदापि सभव नही है । पाप के त्याग से ही दु ख से मुक्ति पाना सभव है, दु ख से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नही है । अत पाप के त्याग मे ही सबका कल्याण है । जैन धर्म मे आवश्यक सूत्र के अनुसार पाप अठारह है यथा—(१) प्राणातिपात—हिसा करना (२) मृषावाद—झूठ बोलना (३) अदत्तादान—चोरी करना (४) मैथुन (५) परिग्रह (६) क्रोध (७) मान (८) माया (९) लोभ (१०) राग (११) द्वेष (१२) कलह (१३) अभ्याख्यान - झूठा कलक लगाना (१४) पैशुन्य—चुगली करना (१५) पर-परिवाद-निदा (१६) रति-अरति

(१७) मायामृषावाद—कपटयुक्त झूठ बोलना और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य ।

(१) प्राणातिपात—प्राणो का अतिपात करना प्राणातिपात है । प्राण दस है—पॉच इन्द्रियॉ, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास एव आयुष्य । इनमे से किसी भी प्राण का हनन करना हिंसा या प्राणातिपात है । प्राणो के अतिपात से पीड़ा होती है । पीड़ा किसी को भी पसद नही है । पैर मे एक कॉटा चुभ जाय कपडे मे एक घास की सली आ जाय तो उसकी पीडा भी सहन नही होती । जब तक कॉटा न निकाल दिया जाय, सली दूर न कर दी जाय, चैन नही पडता है । जब पैर की अगुली मे एक काटा चुभने से भी इतनी पीडा होती है तो पूरी अगुली काटने मे कितनी भयकर पीड़ा होती है, इसे तो भुक्तभोगी ही जान सकता है । अगुली से भी अधिक भयकर पीडा पैर का फाबा काटने मे होती है । उससे भी भयकर पीडा पूरे पैर को काटने मे होती है । उससे भी भयकर अनेक गुणी वेदना पूरे शरीर को मारने मे होती है । उस समय मरने मे जो असह्य भयकर पीडा होती है उसका तो हम अनुमान भी नही लगा सकते ।

अपने प्रति किये गये जिस कार्य को हम बुरा समझते है वही कार्य जब हम दूसरो के प्रति करते है तो क्या हमारा वह कार्य बुरा नही होगा ? अवश्य होगा, और बुरा कार्य करने वाला व्यक्ति बुरा होता ही है अत हम भी बुरे हो ही गये । यह सर्वमान्य है कि बुरा होना, बुरा कहलाना किसी को भी पसद नही है । बुराई को सभी त्याज्य मानते है । अत इस सर्वमान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर हिसा की बुराई, जो सबसे भयकर पाप है इससे बचना चाहिये । इसीमे हमारा व सबका हित है ।

अत सभी का हित 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त को स्वीकार करने मे है । यही भगवान् महावीर का उपदेश है ।

शरीर के किसी भी एक अग को क्षति या हानि पहुँचना भयकर हानि है, कारण कि शरीर का प्रत्येक अग बहुमूल्य है । किसी गरीब व्यक्ति से भी कहे कि तुम दो लाख रुपये ले लो और अपनी दोनो ऑखे दे दो तो वह इस प्रस्ताव को स्वीकार न करेगा । इससे यह परिणाम निकला कि उसकी आखो का मूल्य दो लाख रुपये से भी अधिक है । जब ऑखो का ही मूल्य दो लाख रुपये से अधिक है तो पूरे शरीर का मूल्य तो कितना अधिक होगा, हम कल्पना नही कर सकते । हम किसी को करोडो, अरबो या कितने ही रुपये दे तब भी वह अपना शरीर देने को तैयार नही होगा । इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी व्यक्ति का शरीर अमूल्य निधि है । उसकी घात करना अमूल्य निधि को हानि

पहुंचाना है, जो बहुत बड़ी क्षति है। इतनी बड़ी क्षति करना, भयंकर दोष या पाप है।

जीवों के शरीर का हनन करना तो हिंसा है ही, उनको कष्ट देना, हानि पहुँचाना भी हिंसा है। हिंसा के अगणित रूप हैं जैसे मारना, पीटना, कष्ट देना, युद्ध करना, शस्त्रो का निर्माण करना, शक्ति से अधिक श्रम लेना, नकली दवाइयाँ बनाना, प्रसाधन सामग्री के लिए पशु-पक्षिओं को पीड़ा पहुचाना, अत्याचार करना आदि सभी उत्पीड़क कार्य हिंसा के ही विविध रूप है।

प्राणातिपात दो प्रकार का है—१ स्व —प्राणातिपात २ पर—प्राणातिपात। स्व प्राणातिपात भी द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का है— क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि दूषित भावो से अपने ज्ञान, दर्शन, क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि गुणों का अतिपात होना, घात होना भाव स्व-प्राणातिपात है। विषय कषाय के सेवन मे अपनी इन्द्रियो की प्राणशक्ति का ह्रास होना द्रव्य स्व-प्राणातिपात है।

पर प्राणातिपात भी दो प्रकार का है— अपने क्रूरता, कठोरता, निर्दयता आदि दुर्व्यवहार से दूसरों के हृदय को आघात लगना, उनमे शत्रुता, द्वेष, सघर्ष का भाव पैदा होना पर भाव— प्राणातिपात है। दूसरो के शरीर, इन्द्रिय आदि प्राणो का हनन करना पर द्रव्य -प्राणातिपात है। किसी के दुर्भाव व दुष्प्रवृति से दूसरो का अहित नही हो, तब भी स्वय के प्राणो का अतिपात हो ही जाता है, उसे प्राणातिपात का पाप लग ही जाता है।

(२) **मृषावाद**—झूठ बोलना। जो बात जैसी देखी है, सुनी है व जानते है उसे उसी रूप मे न कहकर विपरीत रूप मे या अन्य रूप में कहना मृषावाद है। मृषावाद के अनेक रूप हैं—किसी पर कलक लगाना, धरोहर व गिरवी की वस्तु हडप जाना, मृषा उपदेश देना, बहकाना, भ्रामक वचन बोलना, उत्तेजनात्मक भाषण देना, जनता को बर्गलाना, हानिकारक वस्तु को गुण युक्त लाभकारी वस्तु कहकर बेचना, झूठे विज्ञापन देना, वादे से मुकर जाना, स्वार्थ के लिए अपने वचन को पलट देना आदि मिथ्या भाव आना भी मृषावाद है।

(३) **अदत्तादान**—चोरी करना, दूसरो की वस्तु का अपहरण करना व बलात् अधिकार जमा लेना, कम तोलना-मापना, अच्छी वस्तु दिखाकर बुरी वस्तु देना, वस्तु मे मिलावट करना, लाटरी, चिट फड, जुआ आदि से लोगों का धन हरण करना, धोखाधडी करना, अधिक श्रम करवाकर कम पारिश्रमिक देना, शोषण करना, जेब काटना, डाका डालना, लूटपाट करना अच्छा नमूना दिखाकर

नकली वस्तु देना, पुरस्कार का लोभ देकर फसाना, साहित्यिक चोरी करना आदि चोरी के अनेक रूप हैं। मुक्ति, शाति, स्वाधीनता, प्रसन्नता आदि अपने गुणों का अपहरण होना भी अदत्तादान है। इससे अविश्वास की उत्पत्ति होती है जो भारी हानि है।

(४) **मैथुन**—काम-विकार मे प्रवृत्त होना, सभोग करना, मैथुन है। मैथुन के अनेक प्रकार हैं यथा—रति क्रीड़ा करना, वेश्यागमन करना, परस्त्री गमन करना, व्यभिचार सेवन करना, बलात्कार करना, समलिंगी के साथ सभोग करना, अश्लील फिल्म देखना, तीव्र नशीली वस्तुओं का सेवन कर कामोत्तेजन करना, नग्न नृत्य देखना आदि मैथुन के अनेक रूप हैं। आत्म-भाव भूलना निज स्वरूप की विस्मृति होना और पर से सग व भोग करना भी मैथुन है। इससे आकुलता उद्वेग उत्पन्न होता है जिससे चित्त की शाति व समता भग होती है।

(५) **परिग्रह**—वस्तुओ का सग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह के असख्य रूप हैं यथा—भूमि, भवन व सिक्को का सग्रह, वस्त्रो का सग्रह, मूर्तियो का सग्रह, पुरानी वस्तुओ का सग्रह, भोग-उपभोग की वस्तुओ का सग्रह, पशुओ का सग्रह, खाद्य वस्तुओ का सग्रह, वाहनो का सग्रह आदि, यह द्रव्य परिग्रह है।भोग सामग्री के प्रति ममता होना भाव परिग्रह है। इससे मूर्च्छाभाव-जड़ता, पराधीनता आदि दोषो व दुखो की उत्पत्ति होती है।

(६) **क्रोध**—क्षुब्ध होना क्रोध है। अपनी मन चाही स्थिति नही होने पर अथवा अनचाही होने पर गुस्सा करना, खिन्न होना, गाली देना, बुरा-भला कहना, गुस्से मे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान भूल जाना, गुस्से से होठो का फड़कना, ऑखे लाल होना आदि क्रोध के अनेक रूप है।

शान्ति खो देना, अशान्त व खिन्न होना भी क्रोध है।इससे प्रसन्नता का हनन व खिन्नता रूप दुख होता है।

(७) **मान**—अहकार करना मान है। जाति, कुल, बल, रूप, शक्ति, सम्पत्ति, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, योग्यता, भाषण, पद आदि का मद करना, सम्मान चाहना, अभिनदन चाहना, अपने को महान् और दूसरो को हीन समझना, अपना गुण-गौरव गाना या दूसरो से गुण गाथा कराना, उसे सुनकर हर्ष होना, अपमान या बुरा लगना, अपने को असामान्य मानना आदि मान के अगणित प्रकार है। मृदुता को खो देना, भेद व भिन्नता का भाव पैदा होना, पर या विनाशी वस्तुओ, योग्यता व पात्रता के आधार पर अपना मूल्याकन करना भी मान है।इससे भेद-भिन्नता व अलगाव रूप दोष व दुख उत्पन्न होते हैं।

(८) **माया**—कपट करना या धोखा देना माया है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरो को भुलावे मे डालना, दूसरो से लेख व पुस्तके लिखवाकर उस पर अपना नाम देना, ऊपर से मधुर बोलना, भीतर कटुता भरा होना, आश्वासन देकर उससे मुकरजाना, विश्वासघात करना, झूठा प्रदर्शन करना, कूटनीति करना आदि माया के अनेक रूप है। ऋजुता-सरलता-सहजता, स्वाभाविकता न होकर वक्रता-कृत्रिमता-कुटिलता होना भी माया है। इससे मित्रता का विच्छेद व वैरभाव की उत्पत्ति होती है।

(९) **लोभ**—प्रलोभन वृत्ति का होना लोभ है। अप्राप्त को प्राप्त करने की कामना, प्राप्त को बनाये रखना, सचय वृत्ति, लाभ की इच्छा आदि लोभ के अनेक प्रकार है। सुख का प्रलोभन भी लोभ है। लोभवृत्ति से अभाव का अनुभव होता है जो दरिद्रता का द्योतक है।

(१०) **राग**—किसी भी वस्तु, व्यक्ति, स्थिति आदि की अनुकूलता के प्रति आकर्षण होना राग है। पर पदार्थो के प्रति आसक्ति, विषय-सुख की अभिलाषा भी राग ही है। राग आग है जो आत्मा को सदैव प्रज्वलित करती रहती है। राग ठडी आग है।

(११) **द्वेष**—प्रतिकूलता के प्रति अरुचि होना द्वेष है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की प्रतिकूलता में उसके प्रति दुर्भाव होना, उसका विनाश चाहना, उसे बुरा समझना, उन पर आक्रोश होना, बुरा जानना आदि द्वेष के अनेक रूप है।

(१२) **कलह**—झगडा करना कलह है। कलह अपने लिए सतापकारी एव दूसरो के लिए परितापकारी और सभी के लिए अशातिकारी होता है। असहिष्णुता, प्रतिस्पर्धा, सघर्ष, द्वन्द्व आदि इसके अनेक रूप है।

(१३) **अभ्याख्यान**—दूसरो पर झूठा आरोप लगाना अभ्याख्यान है। किसी पर कलक लगाना, बदनाम करना, नीचा दिखाना, दोषारोपण करना आदि इसके अनेक रूप है।

(१४) **पैशुन्य**—चुगली खाना पैशुन्य है। इधर की बात उधर करना, दो व्यक्तियो को लडा देना, परस्पर भिडा देना आदि पैशुन्य के अनेक रूप है।

(१५) **परपरिवाद**—दूसरो की निंदा करना परपरिवाद है। किसी की निन्दा करना, पर-दोष दर्शन करना, पर को हीन दृष्टि से देखना आदि इसके अनेक रूप है।

(१६) **रति-अरति**—अनुकूलता के प्रति रुचि 'रति' तथा प्रतिकूलता के प्रति अरुचि 'अरति' है। अनुकूलता मे प्रसन्न होना, प्रतिकूलता मे खिन्न होना, अनुकूलता को बनाये रखने की रुचि, प्रतिकूलता को दूर करने की इच्छा आदि इसके अनेक रूप हैं।

(१७) **माया मृषावाद**—कपट सहित झूठ बोलना अर्थात् भीतर मे कुटिलता रखकर ऊपर से मधुर बोलना। चालाकी से बात करना, धोखा भरी वाणी बोलना, कूटनीति भरी बातें करना आदि माया मृषा के अनेक रूप हैं। सत्य को जानते हुए असत्य आचरण करना भी माया मृषावाद है।

(१८) **मिथ्यादर्शन शल्य**—मिथ्यात्व युक्त प्रवृत्ति मिथ्यादर्शन शल्य है। देह मे आत्म बुद्धि होना, धन सपत्ति आदि की पराधीनता मे स्वाधीनता मानना, आदि मिथ्यादर्शन शल्य के अनेक रूप है। स्वभाव को विभाव और विभाव को स्वभाव मानना भी मिथ्यादर्शन है।

उपर्युक्त अठारह पापो का विवेचन स्थूल दृष्टि से सक्षिप्त रूप मे किया गया है। वह प्रवृत्ति जो आत्मा से विमुख करती है, बहिर्मुखी बनाती है, पर की ओर अभिमुख करती है, सब पाप है।

उपर्युक्त सभी पाप बुरे हैं, यह ज्ञान स्वय सिद्ध है। क्योंकि कोई भी मानव बुरा नही कहलाना चाहता है, यह भी सर्व विदित है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर हम ये बुरे काम करते क्यो है? कहना होगा कि हम अपने विषय-सुख की पूर्ति के लिए इन सब पापो को करते है। इन पापो के फलस्वरूप दु ख मिलेगा तो फिर देखा जायेगा, भोग लेगे अभी तो सुख भोग ले। इस प्रकार हम क्षणिक विषय सुख की दासता मे इतने आबद्ध हैं कि अपने ज्ञान का अनादर कर विषय-सुख सामग्री की प्राप्ति के लिए इन दुष्कर्मों को, दोषो को, पापो को अपनाते है। साथ ही साथ दु ख भी पाते रहते है। इस प्रकार विषय सुख के साथ दु ख भोगते हुये अनन्त काल बीत गया, परन्तु न तो विषय-सुख की पूर्ति हुई और न दु ख से मुक्ति मिली। यदि हम आगे भी विषय-सुख के आधीन हो ऐसा ही करते रहेगे तो आगे भी हमारी यही स्थिति रहेगी। हमे जो सुख मिलेगा वह तो क्षणिक होने से नही रहेगा और हम दु ख पाते ही रहेगे। मानव-जीवन 'दु ख-रहित' होने के लिए मिला है, यही इस जीवन की विशेषता है। अत यदि हमने दु ख रहित सुखमय जीवन नही जीया तो समझना चाहिये कि हमारा जीवन व्यर्थ ही गया, कारण सुख-दु ख युक्त जीवन तो पशु भी जीता है फिर हमारे मे पशु के जीवन से क्या विशेषता आई।

अत हम विषय सुखो एव इनसे जुड़े हुए दुष्कर्मो-पापो का त्याग कर अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुखमय जीवन जीये, इसी मे हमारे जीवन की सार्थकता तथा सफलता है। मानव विषय-सुख का त्याग कर जिस क्षण चाहे उसी क्षण अव्याबाध, अनत सुख का आस्वादन कर सकता है। त्याग के लिए वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, स्थान, समय, अभ्यास, श्रम आदि किसी की भी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है, अत मानव त्याग करने मे समर्थ और स्वाधीन है। फिर भी त्याग को न अपनाकर दु खी रहे, यह कितने आश्चर्य की, कितनी खिन्नता की बात है, कितनी करूणाजनक और अशोभनीय स्थिति है।

वस्तुत त्याग ही जीवन है, विषय भोग ही मृत्यु है। जितना-जितना त्याग बढ़ता जायेगा उतना-उतना पाप घटता जायेगा। त्याग का बढ़ना और पाप का घटना युगपत् है। पाप के त्याग से ही शाति व मुक्ति के शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

■

पाप ही त्याज्य है, पुण्य नहीं

सम्पूर्ण आगमों का सार पापों का त्याग करना है। पापों के त्याग मे ही जीव का कल्याण है और पापों के सेवन में ही अकल्याण एव अहित है।

साधना में सर्वत्र पाप के त्याग का ही विधान है, पुण्य के त्याग का नही। साधना का प्रारभ होता है सामायिक से, समत्व से। सामायिक के प्रतिज्ञा पाठ में 'सावज्ज जोग पच्चक्खामि' आया है इसका अर्थ है सावद्ययोग-पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ। इस प्रतिज्ञा पाठ में पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का कही भी विधान नही है । साधना के क्षेत्र में आगे भी जितने पाठ हैं उनमें पापों के त्याग का ही विधान है। किसी भी पाठ मे किसी पुण्य प्रवृत्ति के त्याग का आदेश - निर्देश, उपदेश नही है। यहाँ तक कि साधना का अतिम चरम बिन्दु सलेखना है। उसके प्रतिज्ञा पाठ में भी 'सव्व पाणाइवाइय' जाव मिच्छादसण सल्ल पच्चक्खामि, पाठ आया है। इसमे भी अठारह ही पाप का त्याग किया गया है। पुण्य के त्याग का यहाँ पर भी कोई विधान नही है । इससे यह प्रमाणित होता है कि पुण्य के त्याग का साधना में कही भी कोई स्थान नही है। यह तथ्य अग्राङ्कित आगम उद्धरणों से पुष्ट होता है, यथा—

> (१) कह णं भंते! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ? गोयमा! पाणाइवाएण मुसावाएणं अदि० मेहुण० मयामोसमिच्छादसणसल्लेण, एवं खलु गोयमा! जीवा गुरुयत्त हव्वमागच्छंति। कह णं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छन्ति? गोयमा! पाणाइवायवेरमणेण जाव मिच्छादसणसल्लवेरमणेण एवं खलु गोयमा! जीवा लहुयत्त हव्वमागच्छंति, एव ससार आउलीकरेंति एवं परित्तीकरेंति दीहीकरेंति हस्सीकरेंति एव अणुपरियट्टति एव वीइवयंति। पसत्था चत्तारि अप्पसत्था चत्तारि ॥— भगवतीशतक १, उ ९, सूत्र ७२ तथा शतक १२, उद्देशक २, सूत्र ४४२

अर्थ—भगवन्! जीव किस प्रकार गुरुत्व-भारीपन को प्राप्त होते है? गोतम! प्राणातिपात, मृषावाद आदि अठारह पापों का सेवन करने से जीव शीघ्र गुरुत्व को प्राप्त होते है। भगवन्! जीव किस प्रकार लघुत्व को प्राप्त होते हैं? गोतम! प्राणातिपात आदि अठारह पापों के त्याग से शीघ्र लघुत्व (हलकापन) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार प्राणातिपात आदि पापों का सेवन करने से जीव (१) गुरुत्व को प्राप्त होते हैं, (२) ससार को बढ़ाते हैं, (३) ससार को लम्बे काल का करते हैं और (४) बार-बार भव-भ्रमण करते हैं तथा प्राणातिपात आदि पापों का त्याग करने से जीव (१) लघुत्व को प्राप्त करते हैं, (२) ससार को घटाते हैं, (३) ससार को अल्पकालीन करते हैं और (४) ससार को पार कर जाते हैं। इनमें से चार (हलकापन आदि) प्रशस्त हैं और चार (भारीपन आदि) अप्रशस्त हैं।

> (२) कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।

माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो ॥–दशवैकालिक ८/३८

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सर्वस्व नष्ट कर देता है।

(३) **पूयणट्ठा जसोकामी, माणसम्माणकामए।**
बहु पसवइ पावं, मायासल्लं च कुव्वई ॥ –दशवैकालिक ५/२/३५

अपनी पूजा-प्रतिष्ठा चाहने वाला, यश की कामना करने वाला तथा मान-सम्मान की अभिलाषा रखने वाला बहुत पाप उपार्जन करता है और माया शल्य का आचरण करता है।

(४) **सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,**
सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणतिआ ॥--उत्तरा ९/४८

कैलाश पर्वत के समान सोने-चादी के असख्य पर्वत हो और वे मिल जाये तो भी लोभी मनुष्य को किंचित् मात्र तुष्टि नही होती, क्योकि इच्छा आकाश के समान-अनत है।

(५) **सल्ल कामा विस कामा, कामा आसीविसोवमा।**
कामे पत्थेमाणा, अकामा जति दुग्गइ ॥—उत्तराध्ययन ९/५३

काम-भोग शल्य के समान है, विष के समान हैं और दृष्टि-विष सर्प के समान है। काम-भोग की अभिलाषा करने वाले, काम-भोग न भोगने पर भी दुर्गति को प्राप्त होते है अर्थात् दु:खी होते है।

(६) **जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो।**
मणसा कायवक्केण, सव्वे ते दुक्खसभवा ॥—उत्तराध्ययन ६/११

जो कोई प्राणी मन, वचन और काय से शरीर, रूप, वर्ण आदि मे आसक्त है, वे दु:ख के भाजन है, अर्थात् उन्हे दु:ख भोगना ही पडता है।

(७) **खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,**
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥—उत्तराध्ययन सूत्र १४/१३

काम-भोग क्षण भर सुख देने वाले है और बहुत समय तक दु:ख देने वाले है। काम-भोग अत्यल्प सुख देने वाले है और अत्यन्त दु:ख देने वाले है। ये ससार से मुक्ति पाने वाले के लिए विरोधी है और समस्त अनर्थों की खान है।

ससार से मुक्ति पाने वाल के लिए विरोधी हैं और समस्त अनर्थों की खान है।

(८) **जहा किंपागफलाणं परिणामो न सुन्दरो।**
एव भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥—उत्तराध्ययन १९/१८

जैसे किंपाक नामक फल के भक्षण का परिणाम अच्छा नही होता है अर्थात् हलाहल विष का काम करता है, उसी प्रकार भोगे हुए विषय भोगो का परिणाम भी अत्यन्त कष्ट प्रदायक एव अनिष्ट जनक होता है। आशय यह है कि भोग ऊपर से बड़े सुहावने, लुभावने, सुन्दर, सुखद एव मधुर लगते हैं, परन्तु उनका परिणाम बड़ा दु खद होता है। ससार के समस्त दु खो का कारण काम-भोग ही हैं।

(९) **उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पइ।**
भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चइ ॥—उत्तराध्ययन २५/४१

प्राणी काम-भोग भोगने से कर्मो से लिप्त होता है। अभोगी कर्मो से लिप्त नही होता है। भोगी ससार मे भ्रमण करता है, भटकता है। अभोगी ससार से मुक्त हो जाता है, पार हो जाता हे।

(१०) **उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।**
मायमज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे ॥—दशवैकालिक ८ ३९

क्रोध को उपशम से अर्थात् शान्ति एव क्षमा से जीतना चाहिए। मान को मृदुता से अर्थात् विनम्रता एव कोमलता से जीतना चाहिए। माया को आर्जव से अर्थात् ऋजुता एव सरलता से जीतना चाहिए तथा लोभ को सन्तोष से अर्थात् निष्काम भाव से जीतना चाहिए।

(११) **जहा कुम्मे सअगाइ, सए देहे समाहरे।**
एव पावाइ मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥
साहरे हत्थपाए य, मण पचिंदियाणि य।
पावग च परीणाम, भासादोस च तारिसं ॥१७॥

—सूत्रकृताग १८ १६-१७

जैसे कछुआ अपने अगो को अपने शरीर मे सकुचित कर लेता है, उसी प्रकार बुद्धिमान पुरुष को अध्यात्म-भावना मे अपने पापों को सकुचित कर लेना चाहिए।

ज्ञानीजन, कछुए की भाँति हाथ-पैर आदि अगो को, मन को, पाचो इन्द्रियो को, भाषा को एव भावों को पाप-प्रवृत्तियो से रोक लेते है।

जय चरे जय चिट्ठे जयमासे, जय सए।
जय भुजतो भासतो पावकम्म न बधइ ॥—(दशवै ४८)

यतना से चले, यतना से खडे रहे, यतना से बठे, यतना से सोए, यतना से खाए और यतना पूर्वक बोले तो पाप कर्म का बध नही होता हैं।

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम भूयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दतस्स, पावं कम्म न बधइ।दशवैकालिक ४ ९

जो सब जीवो को अपने समान समझता है और अपने समान देखता है इससे वह आस्रव को रोक देता है। ऐसी जितेन्द्रिय आत्मा को पाप कर्म का बध नही होता है।

कायगुत्तयाए णं भन्ते जीवे किं जणयइ?
कायगुत्तयाए णं सवर जणयइ।
संवरेण कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोह करेइ।—उत्तरा २९ ५६

कायगुप्ति से जीव को क्या प्राप्त होता है?

कायगुप्ति से जीव सवर (अशुभ आस्रव प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है। सवर से कायगुप्त होकर (साधक) फिर से होने वाले पापास्रव का निरोध करता है।

वन्दणएण भन्ते! जीवे किं जणयइ?
वन्दणएण नीयागोय कम्म खवेइ। उच्चगोय निबन्धइ। सोहग्ग च ण अप्पडिहय आणाफल निव्वतेइ दाहिणभाव च ण जणयइ।—उत्तरा २९ ११

भन्ते! वन्दना से जीव क्या उपलब्ध करता है?

वन्दना से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है एव उच्च गोत्र का बन्ध करता है। वह अप्रतिहत सौभाग्य को प्राप्त करता है, उसकी आज्ञा (सर्वत्र) अबाधित होती है (अर्थात् - आज्ञा शिरोधार्य हो, ऐसा फल प्राप्त होता है) तथा दाक्षिण्यभाव (जनता के द्वारा अनुकूल भाव) को प्राप्त करता है। यहा पुण्य का बधन उपादेय कहा है।

नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूण, एसो पच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं पढम हवइ मगल।

अरिहतो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, सब साधुओं को नमस्कार हो। ऐसे पाच नमस्कार सर्व पापो का नाश करने वाले है, मगल कारी हैं और सब मगलों में श्रेष्ठ मगल हैं।

उपर्युक्त नमस्कार सूत्र मे नमस्कार पुण्य को सब पापों का नाश करने वाला तथा श्रेष्ठ मगलकारी कहा है। इसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य से पाप का क्षय होता है।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं।—उत्तरा ३१ २

- एक से निवृत्ति करे और एक में प्रवृत्ति करे अर्थात् असयम से निवृत्ति करे और सयम में प्रवृत्ति करे।

यहाँ साधु के लिये सद्प्रवृत्ति—शुभयोग—पुण्य के आचरण का विधान है, निषेध नही है।

रागद्दोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभइ निच्चं, से न अच्छइ मडले।—उत्तरा ३१ ३

पाप कर्म मे प्रवृत्ति कराने वाले राग और द्वेष ये दो पाप है। जो साधु सदा इन्हे रोकता है वह ससार सागर में परिभ्रमण नही करता है। यहा पाप और पाप प्रवृत्ति के त्याग से ससार परिभ्रमण का निषेध होना कहा है पुण्य प्रवृत्ति (के त्याग) से नही।

दडाण गारवाणं च, सल्लाण च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से ण अच्छइ मडले।—उत्तरा ३१ ४

जो साधु तीन दड, तीन गारव तथा तीन शल्य को सदैव छोड़ देता है, वह ससार मे परिभ्रमण नही करता।

असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।

अर्थात् अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति को ही चारित्र समझो।

जहाउ पावगं कम्मं, राग दोस-समज्जियं।
खवेइ तवसा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण॥—उत्तरा ३० १

राग द्वेष से उत्पन्न हुए पाप कर्मो का जिस प्रकार, साधु तप के द्वारा क्षय कर देता है, उसे एकाग्रचित होकर सुनो।

पाणिवह-मुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राइभोयण विरओ, जीवो हवइ अणासवो। —उत्तरा ३० २

हिंसा, चोरी, झूठ, मैथुन, परिग्रह एव रात्रि भोजन से निवृत्त हुआ जीव आस्रव रहित होता है।

पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइदियो।
अगारव य निस्सल्लो, जीवो हवइ अणासवो॥—उत्तरा ३० ३

पाच समिति वाला, तीन गुप्ति वाला, कषाय रहित, जितेन्द्रिय तीन गारव रहित और तीन शल्य रहित जीव आस्रव रहित होता है। यहाँ पापास्रव का ही निषेध किया गया है।

खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया संजमअज्जवे गुणे।
धुणन्ति पावाइं पुरेकडाइं णवाइं पावाइं ण ते करेंति।

—दशवै ६.६८

निर्मोह भाव का दर्शन करने वाले, तप, सयम और आर्जव गुण मे रत साधक पूर्वकृत पाप कर्मो का क्षय करते हैं और नवीन पाप कर्मो का बध नही करते है। इस गाथा मे निर्मोह - वीतरागता के साधक के लिए तप, सयम, आर्जव आदि गुणो से पाप कर्मो का क्षय होना और नये पाप कर्मों का बध न होना ही कहा है। पुण्य कर्मो का या सब कर्मों का क्षय होना नही कहा है और नवीन पुण्य कर्मो के अनुबध का निषेध भी नही किया है।

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवति ।।औपपातिक, ५६

अच्छे (शुभ) कर्म का फल शुभ होता है। अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है।

पाशयति पातयति वा पाप। —उत्तराध्ययन चूर्णि,२

जो आत्मा को बाधता है, अथवा पतन करता है वह पाप है।

इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इह लोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति।
इह लोगे सुचिन्ना कम्मा परलोगे सुहफलविवागसजुत्ता भवति।।

—स्थानाग ४२

इस जीवन मे किए हुए सत्कर्म इस जीवन मे भी शुभ (सुखदायी) फल देने वाले होते है।

इस जीवन मे किए हुए सत्कर्म अगले जीवन मे भी शुभ (सुखदायी) फल देने वाले होते है।

जह वा विसगडूस कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ।।

—सूत्र कृताग, निर्युक्तिगाथा ५२

जिस प्रकार कोई लुक छिपकर विष पी लेता है, क्या वह विष से नही मारेगा ?अवश्य मरेगा। उसी प्रकार जो छिपकर पाप करता है तो क्या वह पाप उसके लिये घातक नहीं होगा ? अवश्य होगा।

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ।—सूत्रकृताग १/७/११

प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मो से दु ख पाता है।

तुट्टति पावकम्माणि, नव कम्ममकुव्वओ ।।

—सूत्रकृताग ११५५

जो नये कर्म नही करता है अर्थात् सवर करता है उसके पूर्वबद्ध पाप कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं।

कर्म सदा कर्ता का ही अनुगमन करते है। अर्थात् कर्म का बध कर्ता के भावो के अनुसार ही होता है।

अणुमित्तो वि न कस्सई, बंधो परवत्थुपच्चओ भणिओ।

—ओघनिर्युक्ति, ५७

पर (बाह्य) वस्तु के आधार पर किसी को अणुमात्र भी कर्म बध नही होता है (कर्म बध अपनी भावना के आधार पर ही होता है)

तुल्लम्मि अवराधे परिणामवसेण होति णाणत्त ॥

—वृहत्कल्पभाष्य, ४९७४

बाहर से समान अपराध होने पर भी अतर के परिणामो की तीव्रता-मदता के कारण दोषो की न्यूनाधिकता होती है।

एएसि तु विवच्चासे, रागदोस-समज्जिय।
खवेइ उ जहा भिक्खू, तमेगग्गमणो सुण ॥—उत्तरा. ३०.४

ये गुण जो ऊपर बतलाए गये हैं इनके विपरीत होने पर राग-द्वेष से सचित किये कर्मो को जिस प्रकार साधु क्षय कर देता है उस विधि को एकाग्रचित्त होकर सुनो।

जहामहातलायस्स, सण्णिरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणा भवे॥

—उत्तरा ३०.५

एव तु सजयस्सावि, पावकम्मणिरासवे
भवकोडिसचिय कम्म, तवसा णिज्जरिज्जई—उत्तरा ३०.६

जिस प्रकार किसी बडे तालाब के जल आने के मार्गो को रोक कर उस तालाब का पानी बाहर निकालने से तथा सूर्य के ताप द्वारा तालाब धीरे-धीरे सूख जाता है, उसी प्रकार सयमी साधुओ के भी नवीन पापकर्मो को रोक देने पर करोडो भवो के सचित कर्म तप द्वारा क्षय हो जाते है। इन सब गाथाओ मे अनास्रव मे पाप कर्मो के आस्रव के निरोध को ही ग्रहण किया गया है।

ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र के तीसवे अध्ययन की कतिपय गाथाएँ दी गई है। इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे तप से राग-द्वेष से उत्पन्न पाप कर्मो का क्षय होता है, यह स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है। यह नही कहा गया कि सब कर्म क्षय होते है या पुण्य कर्म क्षय होते है। आगे गाथा ६ मे पाप कर्मो के आश्रव का ही निषेध किया है तथा दूसरी गाथा मे हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह और

रात्रि भोजन इन पापों से निवृत्त होने को ही अनाश्रव कहा है। यहाँ भी अनाश्रव के लिये पुण्य का निषेध नही किया है। गाथा तीन मे भी पाच समिति (सद्प्रवृत्ति) तीन गुप्ति, अकषाय, जितेन्द्रियता आदि से अनाश्रव होना कहा है। जबकि इन सबसे पुण्य का उपार्जन होता है। अकषाय से अर्थात्, क्रोध, मान, माया, और लोभ के त्याग से क्रमश सातावेदनीय, उच्चगोत्र, शुभ नामकर्म और शुभ आयु कर्म इन चारों कर्मो का अर्थात् पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है, ऐसा भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ मे कहा है। तात्पर्य यह है कि जैनागमों मे पाप को त्याज्य कहा गया है पुण्य को नही।

पापों के सेवन से पाप कर्मों का उपार्जन

प्रश्न—कह ण भते! जीवाण पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति?

उत्तर—कालोदाई! से जहाणामए केइ पुरिसे मणुण्ण थाली-पागसुद्ध अट्ठारसवजणाउल विससंमिस्स भोयण भुज्जेजा तस्स ण भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे दुरुवत्ताए दुगधत्ताए जहा महासवए, जाव भुज्जो-भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाइ! जीवाण पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्ले, तस्स ण आवाए भद्दए भवइ। तओ पच्छा विपरिणममाणे विपरिणममाणे दुरुवत्ताए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एव खु कालोदाई! जीवाण पावकम्मा पावफलविवागसजुत्ता जाव कज्जंति।

—भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक १०

प्रश्न—हे भगवन्! पापफलविपाक सहित पापकर्म कैसे होते है?

उत्तर—हे कालोदायिन्! जेसे कोई पुरुष सुन्दर भाण्ड में पकाने से शुद्ध पका हुआ, अट्ठारह प्रकार के दालशाकादि व्यजनो से युक्त विष मिश्रित भोजन करता है, तो वह भोजन प्रारभ मे अच्छा लगता है, उसके बाद उसका परिणाम खराब रूप मे, दुर्गन्धपने यावत् छठे शतक के महाश्रव नामक तीसरे उद्देशक मे कहे अनुसार अशुभ होता है। इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीव के लिए प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य तक के अट्ठारह पापस्थान का सेवन तो अच्छा लगता है, किन्तु उनके द्वारा बन्धे हुए पापकर्म जब उदय मे आते है, तब उनका परिणाम अशुभ होता है। इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीवों के लिए अशुभ फल-विपाक सहित पापकर्म होते है।

पापो के त्याग से जीव कल्याण (पुण्य) कर्मो का उपार्जन करता है जैसा कि कहा है—

कालोदाई से जहाणामए केई पुरिसे मणुण्ण थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउल ओसहिमिस्स भोयण भुजेज्जा, तस्स ण भोयणस्स आवाए णो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए, सुवण्णत्ताए, जाव सुहत्ताए, णो दुक्खत्ताए, भुज्जो भुज्जो परिणमई, एवामेव कालोदाई! जीवाण पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे,

कोहविवेगे, जावमिच्छादंसणसल्लविवेगे, तस्स णं आवाए णो भद्दए भवइ तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए जाव णो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणा कम्मा जाव कज्जंति। —भगवतीसूत्रशतक ७ उद्दे १०

अर्थ—हे कालोदायिन् ! जैसे कोई एक पुरुष, सुन्दर भाण्ड में रांधने से शुद्ध पका हुआ और अट्ठारह प्रकार के दाल-शाकादि व्यञ्जनों से युक्त औषध मिश्रित भोजन करता है तो औषध से मिश्रित वह भोजन प्रारभ में अच्छा नहीं लगता, परन्तु उसके बाद जब उसका परिणमन होता है, तब वह सुरूपपने, सुवर्णपने यावत् सुखपने में बारबार परिणत होता है, वह दुःखपने में परिणत नही होता। इसी प्रकार हे कालोदायिन् ! जीवों के लिए प्राणातिपात-विरमण यावत् परिग्रह विरमण, क्रोध-विवेक (क्रोध का त्याग) यावत् मिथ्यादर्शनशल्य का त्याग, प्रारभ में कठिन लगता है, किन्तु उसका परिणाम सुखरूप यावत् नो दुःख रूप होता है। इसी प्रकार हे कालोदायिन् ! जीवों के पाप के त्याग रूप कल्याण फलविपाक सयुक्त कल्याण कर्म होते हैं। अर्थात् पुण्य कर्म रूप होते हैं।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पापों के क्षय से पुण्य का उपार्जन होता है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ में ७३ बोल की पृच्छा है तथा भगवती आदि अन्य समस्त आगमों में जितने भी बोल आए हैं उनमें सर्वत्र साधक के लिए पाप का क्षय करने का ही विधान है। कही भी पुण्य को क्षय करने का निर्देश-उपदेश-आदेश नही है बल्कि पाप के क्षय से पुण्य का उपार्जन होता है, ऐसा विधान किया गया है।

■

कषाय की मंदता पुण्य है, मंद कषाय पाप है

अशुभभाव, अशुभयोग, दुष्प्रवृत्ति, सक्लेश, अशुद्ध उपयोग ये सब प्राय समानार्थक एव पाप के पर्यायवाची है। कारण कि ये सब कषाय वृद्धि के द्योतक हैं। इनसे आत्मा का पतन होता है और कर्मो का बध होता है। इसके विपरीत शुभभाव, शुभयोग, सद्प्रवृत्ति, विशुद्धि, शुद्धोपयोग, क्षायोपशमिक भाव ये सब समानार्थक है एव पुण्य के पर्यायवाची है। कारण कि ये सब कषाय की कमी के द्योतक है। इनसे आत्मा पवित्र होती है और कर्मो का क्षय होता है। कर्मबध एव कर्मक्षय होने की प्रक्रिया इस प्रकार है—

कर्म-बध चार प्रकार का है—(१) प्रकृति बध (२) स्थिति बध (३) अनुभाग बध और (४) प्रदेश बध। इन चार प्रकार के बधनो में प्रदेश बध का कोई विशेष महत्त्व नही है कारण कि प्रदेश बध का उदय व क्षय कम हो या अधिक, इससे कर्म की फलदान शक्ति 'अनुभाग' मे कोई अतर नही पड़ता है। अत मुख्यता अनुभाग एव स्थिति बध की है। स्थिति बध होने से ही कर्म सत्ता (सत्त्व) को प्राप्त होते है व टिकते है और अपना फल देते हैं। स्थिति बध के अभाव मे कर्म बिना फल दिये ऐसे ही खिर (क्षय) जाते है जैसे सूखी बालू रेत को दीवार पर फेकने से वह रेत दीवार को छूकर खिर जाती है। स्थितिबध होने से ही प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग भी बध दशा को प्राप्त होते है। अत चारो प्रकार के बधनो मे स्थिति बध ही मुख्य बध है। स्थितिबध के अभाव मे शेष तीन प्रकार के बधनो मे से कोई भी बध सभव नही है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। अनुभाग घटने-बढ़ने से कर्म-प्रदेशो का क्षय व बध नही होता है। रस (अनुभाग) के घटने-बढ़ने पर कर्म के फल की तीव्रता-मदता निर्भर करती है। अर्थात् कर्म की फलदान-शक्ति अर्थात् कर्म का फल उसके रस (अनुभाग) पर ही निर्भर करता है। अर्थात् पुण्य-पाप का आधार अनुभाग ही है, स्थिति नही, क्योकि अनुभाग ही शुभ-अशुभ होता है, स्थिति तो समस्त पाप-पुण्य (तीनो शुभ आयु को छोड़कर) प्रकृतियो की अशुभ ही होती है। कारण कि पुण्य प्रकृतियो का स्थितिबध पाप प्रकृतियो के समान कषाय की वृद्धि से अधिक बधता है व कषाय की कमी से कम बधता है। कषाय मे कमी होना अच्छी बात है, परन्तु कषाय मे कमी होने के पश्चात् जो कम कषाय रह जाता है वह ओदयिक भाव है, अत वह कर्मो की स्थिति बध का कारण है। स्थिति बध से ही कर्म बधे (टिके) रहते है। स्थिति के क्षय होते ही कर्मक्षय हो जाते है। स्थिति का क्षय कषाय के क्षय से होता है। आशय यह है कि कर्मो का क्षय कषाय के क्षय से होता है।

कषाय की मदता क्या है। कषाय की मदता व वृद्धि का आधार कषाय की प्रकृति, स्थिति व प्रदेश नहीं है अपितु कषाय का अनुभाव है। कषाय के द्विस्थानिक आदि अनुभावों से बढकर त्रिस्थानिक, चतु स्थानिक होना कषाय की वृद्धि है, सक्लेश है। इसके विपरीत कषाय के चतु स्थानिक अनुभाव हीन होकर त्रिस्थानिक, त्रिस्थानिक से द्विस्थानिक होना कषाय की मदता है। कषाय की मदता में कषाय के अनुभाव या रस अथवा फलदान शक्ति का ह्रास होता है जिससे पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाव का क्षय होता है। अत यह क्षायोपशमिक भाव का सूचक है। इसके विपरीत कषाय की मदता होने पर भी शेष रहा कषाय का जो द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक अनुभाव उदय में आ रहा है वह औदयिक भाव है। यह औदियक भाव ही कर्मबध (स्थितिबध) का हेतु है। क्षायोपशमिक (कषाय की मदता) भाव कर्म क्षय का हेतु होने से शुभभाव है, शुद्धोपयोग है, विशुद्धिभाव है, पुण्य है, निर्जरा है, जबकि कषाय का औदयिक भाव अशुभ भाव है, अशुद्धोपयोग है, पाप है।

जिसका फल शुभ मिले वह शुभ कर्म है। जिसका फल अशुभ मिले वह अशुभ कर्म है। कर्म का फल उसके अनुभाव से ही मिलता है। फलदान शक्ति अनुभाव है। स्थिति व प्रदेश नही है। प्रदेश घटने-बढ़ने से अनुभाव व रस घटता-बढ़ता नही है। जैसे मिश्री को तोड़ देने से, काट देने से उसके रस (स्वाद) मे कोई कमी नही होती, यह तथ्य कर्म के अनुभाव पर भी घटित होता है।

कषाय के क्षय से पाप प्रकृतियों की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग आदि का क्षय होता है तथा पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध का भी क्षय होता है, परन्तु पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है। अत पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का हेतु कषाय का क्षय है कषाय का उदय नही, अर्थात् क्षायोपशमिक, औपशमिक एव क्षायिक भाव है, औदयिक भाव नही है। प्रत्युत् औदयिक भावों में कमी है। क्षायोपशमिक आदि भावो से मोक्ष होता है बध नही होता है। अत पुण्य व पुण्य का अनुभाग मोक्ष-प्राप्ति का सूचक है। कषाय की क्षीणता, मदता व कमी को ही विशुद्धि, शुभभाव, शुभयोग, क्षायोपशमिक भाव, पुण्य कहा जाता है। अत 'पुण्य' कर्म क्षय का, मोक्ष का हेतु है।

साराश यह है कि कषाय में कमी होना क्षायोपशमिक तथा क्षायिक भाव है और कम कषाय या मद कषाय औदयिक भाव है, जो कर्म बध का हेतु है। अत कषाय में कमी होना या कषाय की मदता शुभ है और कम कषाय या

मद कषाय अशुभ है। शुभ भाव, कषाय की मदता पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश एव अनुभाग के आस्रव मे हेतु है तथा पुण्य के बध (स्थिति-बध) के क्षय मे भी हेतु है एव पाप प्रकृतियो के प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग के आस्रव के निरोध एव पापकर्म के चारो प्रकार के बध के क्षय का हेतु है और मन्द कषाय पाप का, पापास्रव का उपार्जन करने वाला एव पापकर्म के चारो प्रकार के बध का हेतु है।

कषाय की मदता और मद कषाय मे उतना ही अन्तर है जितना रोग की कमी और कमरोग मे अन्तर है। रोग की कमी अच्छी बात है, शुभ है, परन्तु रोग कम हो या अधिक, रोग का होना तो बुरा ही है।

■

पुण्य-पाप तत्त्व और पुण्य-पाप कर्म में अन्तर

'पुण्य-पाप तत्त्व' शुभ-अशुभ परिणामो (भावों) से सम्बन्ध रखता है न कि पुण्य-पाप कर्म-प्रकृतियो के बध से, क्योकि पुण्य-पाप कर्म प्रकृतियाँ बध तत्त्व से सबधित है। जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थ सूत्र, ६ ३ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे कहा है—

क शुभो योग को वा अशुभ । प्राणातिपातादत्तादानमैथुनादिरशुभ-काययोग । अनृतभाषणपरुषासभ्यवचनादिरशुभो वाग्योग । वधचिन्तनेर्ष्यासूयादिरशुभो मनोयोग ततो विपरीत शुभ । कथ योगस्य शुभा शुभत्वम् । शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभ । अशुभ परिणामनिर्वृत्तश्चा शुभ । न पुन शुभाशुभकर्मकारणत्वेन। यद्येवमुच्यते शुभयोग एव न स्यात् शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ॥ तत्सद्वेद्यादि । पाति रक्षति आत्मान शुभादिति पापम् । तदसद्वेद्यादि ।

शका—शुभ योग क्या है और अशुभ योग क्या है ? **समाधान**—हिंसा, चोरी और मैथुन आदि अशुभ काययोग है । असत्य वचन, कठोर वचन और असभ्य वचन आदि अशुभ वचनयोग है । मारने का विचार, ईर्ष्या और डाह आदि अशुभ मनोयोग है तथा इनसे विपरीत शुभकाययोग, शुभ वचनयोग और शुभ मनोयोग है ।

शका—योग के शुभ और अशुभ ये भेद किस कारण से है ?

समाधान—जो योग शुभ परिणामो के निमित्त से होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामो के निमित्त से होता है वह अशुभ योग है। शायद कोई यह माने कि शुभ और अशुभ, कर्म का कारण होने से शुभ और अशुभ योग होता है सो बात नही है, क्योंकि यदि इस प्रकार इनका लक्षण कहा जाता है तो शुभयोग ही नही हो सकता, क्योकि शुभयोग को भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के बन्ध का कारण माना है । इसलिए शुभ और अशुभ योग का जो लक्षण यहाँ पर किया है वह सही है । जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है । जैसे सातावेदनीय आदि तथा जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है, जैसे असातावेदनीय आदि ।

यहाँ विचारणीय यह है कि जिससे पाप प्रकृतियाँ बधे उसे अशुभयोग माना जाय तो ज्ञानावरणीय, उपघात आदि बीसो ध्रुव बधने वाली पाप प्रकृतिया सदैव बधती रहती है । अत दशवे गुणस्थान तक सदैव अशुभ योग ही मानना होगा,

कभी शुभ योग हो ही नही सकेगा। इसी प्रकार तजस-कार्मण शरीर, अगुरुलघु आदि पुण्य प्रकृतियाँ भी सदैव बधती रहती है। अत दशवे गुणस्थान तक शुभ योग मानना ही पड़ेगा। कभी अशुभ योग हो ही नही सकेगा। इस प्रकार शुभ योग और अशुभयोग दोनो को एक साथ सदैव मानना पड़ेगा या दोनों का सदैव अभाव मानना पड़ेगा, सो ऐसा नहीं है। एक समय मे शुभ योग या अशुभ योग मे से एक ही योग माना गया है और योग का अभाव भी नही माना गया है। अत शुभ योग रूप पुण्यास्रव और अशुभ योग रूप पापास्रव का सम्बन्ध क्रमश शुभ परिणाम (भाव) और अशुभ परिणाम (भाव) से है। पुण्य-पाप की प्रकृतियों के बध से नही है तथा शुभ परिणाम पुण्य तत्त्व है और अशुभ परिणाम पाप तत्त्व है। अत पुण्य-पाप तत्त्व का सम्बन्ध पुण्य-पाप की प्रकृतियों के बध से नही है। इस प्रकार पुण्य तत्त्व रूप शुभ परिणाम वही है जिससे रागादि दोषो में कमी हो अर्थात् आत्मा पवित्र हो, आत्म-विशुद्धि हो तथा पाप तत्त्व रूप अशुभ परिणाम वही है जिससे दोषो में वृद्धि हो अर्थात् आत्मा का पतन हो।

■

पाप-पुण्य का आधार : संक्लेश-विशुद्धि

पुण्य-पाप तत्त्व का सबध सक्लेश-विशुद्धि भावों से है। इसी विषय पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

शुभः पुण्यस्य ॥ अशुभः पापस्य ॥ तत्त्वार्थसूत्र ६ ३-४ **अर्थ**—शुभ योग पुण्य का आस्रव है और अशुभ योग पाप का आस्रव है। इन सूत्रो की टीका करते हुए प श्री सुखलाल जी सघवी लिखते हैं —"काययोग आदि तीनों योग शुभ भी है और अशुभ भी। योगो के शुभत्व और अशुभत्व का आधार भावना की शुभाशुभता है। शुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग शुभ और अशुभ उद्देश्य से प्रवृत्त योग अशुभ है। कार्य—कर्मबन्धकी शुभाशुभता—पर योग की शुभाशुभता अवलबित नही है, क्योंकि ऐसा मानने से सभी योग अशुभ ही हो जायेंगे, कोई योग शुभ नही रह जायेगा, जबकि शुभ योग भी आठवें आदि गुणस्थानो मे अशुभ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बध का कारण होता है।"

"शुभ योग का कार्य पुण्य-प्रकृति का बध और अशुभ योग का कार्य पाप प्रकृति का बध है। प्रस्तुत सूत्रो का यह विधान आपेक्षिक है, क्योंकि सक्लेश (कषाय) की मदता के समय होने वाला योग शुभ और सक्लेश की तीव्रता से होने वाला योग अशुभ है। जैसे अशुभ योग के समय प्रथम आदि गुणस्थानो में ज्ञानावरणीय आदि सभी पुण्य-पाप प्रकृतियो का यथासभव बध होता है वैसे ही छठे आदि गुणस्थानो मे शुभयोग के समय भी पुण्य-पाप प्रकृतियो का यथासभव बध होता है। फिर शुभ योग का पुण्य बध के कारण रूप में और अशुभ योग का पाप-बध के कारण रूप में अलग-अलग विधान कैसे सगत हो सकता है? इसलिए प्रस्तुत विधान मुख्यतया अनुभाग बध की अपेक्षा से है। शुभ योग की तीव्रता के समय पुण्य-प्रकृतियो का अनुभाग बध (रस) की मात्रा अधिक और पाप प्रकृतियो के अनुभाग की मात्रा अल्प निष्पन्न होती है। इससे उलटे अशुभ योग की तीव्रता के समय पाप-प्रकृतियो का अनुभाग अधिक और पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बध अल्प होता है। इसमें जो शुभयोगजन्य पुण्यानुभाग की अधिक मात्रा तथा अशुभयोगजन्य पापानुभाग की अधिक मात्रा है, उसे प्रधान मानकर सूत्रो मे अनुक्रम से शुभ योग को पुण्य का और अशुभ योग को पाप का कारण कहा गया है। शुभयोग जन्य पापानुभाग की अल्पमात्रा और अशुभयोग जन्य पुण्यानुभाग की अल्प मात्रा विवक्षित नही है। क्योंकि लोक की भाँति शास्त्र मे भी प्रधानतापूर्वक व्यवहार का विधान प्रसिद्ध है।"

प श्री सुखलाल जी ने तत्त्वार्थसूत्र अ १ सूत्र ४ की टीका में कहा

है—"पुण्य-पाप दोनो द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार के है। शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पुण्य और अशुभ कर्म पुद्गल द्रव्य पाप है। इसलिए द्रव्य पुण्य तथा पाप बध-तत्त्व मे अतर्भूत है, क्योकि आत्म-सम्बद्ध कर्म पुद्गल या आत्मा और कर्म पुद्गल का सम्बन्धविशेष ही द्रव्यबध तत्त्व है। द्रव्य पुण्य का कारण शुभ अध्यवसाय जो भाव पुण्य है और द्रव्य पाप का कारण अशुभ अध्यवसाय जो भाव पाप है—ये दोनो ही बन्ध तत्त्व मे अन्तर्भूत है क्योकि बध का कारणभूत काषायिक अध्यवसाय (परिणाम) ही भाव बध है।"

पडितजी ने उपर्युक्त विवेचन मे सक्लेश की मन्दता को पुण्य के आस्रव का और तीव्रता को पाप के आस्रव का हेतु कहा है। कर्म-सिद्धान्त मे कषाय की मदता को विशुद्धि और कषाय की वृद्धि को सक्लेश कहा है यह सक्लेश-विशुद्धि दशवे गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे, प्रत्येक लेश्या मे, प्रत्येक असयम-सयम (चारित्र) आदि सब अवस्थाओ मे सभव है, जैसा कि भगवतीसूत्र के शतक २५ उद्देशक ७ मे कहा है—

'कइण भते! सुहुमसपराया पण्णत्ता? गोयमा! दुविहे पण्णत्ते-तजहा-सकिलिस्समाणए य विसुद्धमाणए य।' **अर्थ—प्रश्न**—हे भगवन्! सूक्ष्म सपराय सयत कितने प्रकार के होते है? **उत्तर**—हे गोतम! दो प्रकार के होते है यथा—सक्लिश्यमानक और विशुद्धय-मानक। क्योकि ये हीयमान और वर्द्धमान परिणाम वाले होते है। इससे स्पष्ट है कि सक्लेश शब्द हीयमान परिणामो का कषाय वृद्धि का सूचक है और विशुद्धि शब्द वर्द्धमान परिणामो का, कषाय की मदता का सूचक है। नवे गुणस्थान से चढ़ते समय दशवॉ गुणस्थान विशुद्ध्यमान कहलाता है और ग्याहरवे गुणस्थान से गिरते समय दशवॉ गुणस्थान सक्लिश्यमान कहलाता है।

कर्मो का शुभत्व-अशुभत्व उनके शुभ-अशुभ फल पर अवलबित है। शुभ फल देने वाले कर्म शुभ कर्म—पुण्यकर्म कहे जाते है और अशुभ फल देने वाले कर्म—अशुभ (पाप कर्म) कहे जाते है। कर्म का फल कर्म-प्रकृति के अनुभाव (अनुभाग) पर अवलबित होता है। अत कर्म के अनुभाव पर ही पाप-पुण्य कर्म का निर्धारण होता है—जैसा कि ऊपर प सुखलाल जी ने कहा है तथा इसी का प्रतिपादन तत्त्वार्थ सूत्र अ० ६ के सूत्र ३-४ की राजवार्तिक टीका मे यह कह कर किया है कि पुण्य-पाप का सबध अनुभाग से है। स्थिति बध से नहीं है। शुभ अनुभाग की वृद्धि कषाय मे कमी होने से होती है। पुण्य का आस्रव शुद्धोपयोग से और पाप का आस्रव अशुद्धोपयोग से होता है, यही कषायपाहुड

की जयधवला टीका पुस्तक १ मे स्पष्ट कहा है, यथा -

पुण्णासवभूदा अणुकपा सुद्धओ य उपजोओ।
विवरीओ पावस्स दु आसवहेउं वियाणाहि ॥

—कसायपाहुड, जयधवलटीका पुस्तक १, पृष्ठ ९६

अर्थात् अनुकम्पा और शुद्ध उपयोग पुण्यास्त्रव स्वरूप है या पुण्यास्त्रव के कारण हैं तथा इनसे विपरीत अर्थात् निर्दयता और अशुद्ध उपयोग ये पापास्त्रव के कारण है। इस प्रकार आस्त्रव के हेतु कहे गये है।

तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्य का आधार सक्लेश-विशुद्धि है। विशुद्धि से पुण्य का उपार्जन (आस्त्रव) होता है पुण्य बढ़ता है इसलिए विशुद्धि रूप शुद्धोपयोग को पुण्य का आस्त्रव कहा गया है तथा सक्लेश से पाप का अर्जन (आस्त्रव) होता है पाप बढता है इसलिए सक्लेश रूप अशुद्धोपयोग को पाप का हेतु कहा है। अत पुण्य-पाप का आधार विशुद्धि-सक्लेश है। कम व अधिक कषाय का उदय नही है।जैसा कि कहा है — को सकिलेसो णाम ? कोहमाणमायालोहपरिणाम विसेसो ।... को विसोही णाम ? जेसु जीवपरिणामेसु समुप्पण्णेसु कसायाण हानि होदि ।—जय धवल, पुस्तक ४, पृष्ठ १५ एव ४१ अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणामो मे वृद्धि होना सक्लेश है और जीव के जिन परिणामो से कषायो की हानि (कमी) होती है, उसे विशुद्धि कहते है। कषाय मे कमी होने से आत्मा की विशुद्धि तथा शुद्धि बढ़ती है अत इसे विशुद्धि व शुद्धोपयोग कहा जाता है और कषाय मे वृद्धि होने से आत्मा मे सक्लेश व अशुद्धि बढ़ती है। अत इसे सक्लेश व अशुद्धोपयोग कहा है।

ऊपर पाप-पुण्य सक्लेश-विशुद्धि पर अवलबित है यह कहा गया है अर्थात् कर्मो का शुभाशुभत्व उनके कर्ता के शुभाशुभ भावो पर अवलबित है। कर्ता के शुभाशुभ भावो का कर्मो के रूप में प्रकटीकरण उन कर्मो के प्रकृति व अनुभाव के रूप मे होता है। शुभभावो से पुण्य कर्म प्रकृतियो के अनुभाव की एव अशुभभाव से पाप प्रकृतियो के अनुभाव की वृद्धि होती है। शुभ (पुण्य) कर्म प्रकृतियो मे यह अनुभाव की वृद्धि विशुद्धि से, कषायादि दोषो की कमी से होती है और अशुभ (पाप) कर्म प्रकृतियो मे यह अनुभाव की वृद्धि सक्लेश से अर्थात् कषायादि दोषो की वृद्धि से होती है। अत पाप-पुण्य कर्मो का एव उनकी न्यूनाधिकता का आधार उनका अनुभाव है, प्रदेश व स्थिति बध नही है क्योंकि कर्मो के प्रदेशो के न्यूनाधिक होने से उनके अनुभाव न्यूनाधिक नही होता है और पाप-पुण्य दोनो प्रकार के कर्मों का स्थितिबध कषाय से होता है।

अत स्थितिबध पाप कर्मो का अधिक हो अथवा पुण्य कर्मों का, तीन शुभ आयुकर्मों के अतिरिक्त समस्त कर्म प्रकृतियो का अशुभ ही है। इसलिए पुण्य-पाप कर्मो के शुभत्व-अशुभत्व का आधार उनका अनुभाव ही है।

जयधवला टीका के उपर्युक्त उद्धरण मे सक्लेश और विशुद्धि की परिभाषा देते हुए कषाय शब्द के पहले समुत्पन्न विशेषण लगाया गया है जो वर्तमान क्षण मे उत्पन्न कषाय का अर्थात् उदयमान, विद्यमान कषाय का सूचक है। इसका अभिप्राय यह है कि सक्लेश - विशुद्धि का सबध वर्तमान मे उदयमान-विद्यमान कषाय में वृद्धि व हानि होने से है, कम कषाय व अधिक कषाय से नही है। यदि कम कषाय को विशुद्धि और अधिक कषाय को सक्लेश माना जाय तो सदैव शुक्ल लेश्या की अवस्था को विशुद्धि और कृष्ण लेश्या की अवस्था को सक्लेश मानना होगा। इस प्रकार दशवे सूक्ष्म सपराय गुणस्थान में शुक्ल लेश्या होने से विशुद्धि ही मानना होगा। सक्लेश नही माना जा सकेगा। जिससे भगवती सूत्र के शतक २५ उद्देशक ७ के उपर्युक्त कथन का विरोध हो जायेगा। जो किसी को भी इष्ट नही होगा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सक्लेश-विशुद्धि का, पाप-पुण्य तत्त्व का सबध उदयमान कषाय मे हानि-वृद्धि होने से है, कम व अधिक कषाय से नही है।

जैसा कि भगवती सूत्र मे प्राप्त निम्न वर्णन से स्पष्ट होता है—

प्रश्न — से णूण भते। कण्हलेस्से जाव सुक्कलेस्से भवित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जति ?

उत्तर — हता, गोयमा । जाव उववज्जति।

प्रश्न — से केणट्ठेण जाव उववज्जति ?

उत्तर — गोयमा । लेस्सट्ठाणेसु सकिलिस्समाणेसु वा विसुज्झमाणेसु वा णीललेस्स परिणमइ, णीललेस्स परिणमित्ता णीललेस्सेसु णेरइएसु उववज्जति से तेणट्ठेण गोयमा। जाव उववज्जति । -भगवती सूत्र शतक १३ उद्देश्क१

प्रश्न — हे भगवन्। कृष्णलेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी होकर जीव नील लेश्या वाले नैरयिकों मे उत्पन्न होता है ?

उत्तर — हाँ गौतम। यावत् उत्पन्न होता है।

प्रश्न — हे भगवन्। इस का क्या कारण है ?

उत्तर — हे गौतम। लेश्या के स्थान सक्लेश को प्राप्त होते हुए और विशुद्धि को प्राप्त होते हुए, वह जीव नीललेश्या रूप में परिणत होता है और

नीललेश्या रूप से परिणत होने के बाद वह नीललेश्यी नैरयिको मे उत्पन्न होता है। इसलिये हे गौतम। पूर्वोक्त रूप से कहा गया है ।

यही वर्णन आगे के सूत्रो में कापोत आदि लेश्याओं के लिए भी किया गया है। वहाँ अशुभ लेश्या की ओर बढ़ने को सक्लेश और शुभ लेश्या की ओर बढ़ने को विशुद्धि कहा गया है।

यदि उदयमान अधिक कषाय को सक्लेश तथा न्यून कषाय को विशुद्धि माना जाय तो कृष्ण लेश्या वाले जीवों के सदैव कषाय का उदय अधिक तथा शुक्ल लेश्या वाले जीवो के कषाय का उदय कम रहता है। अत कृष्ण लेश्या वाले जीवो के सदैव सक्लेश की विद्यमानता और विशुद्धि का अभाव मानना होगा। विशुद्धि का अभाव होने से उनके पुण्य आस्रव का ही अभाव मानना होगा जो कर्म सिद्धान्त व आगम के विरुद्ध है। इसी प्रकार शुक्ल लेश्या वाले जीवो के सदैव विशुद्धि की ही मौजूदगी (सद्भाव) और सक्लेश का अभाव मानना होगा। सक्लेश का अभाव होने से उनके पापास्रव का अभाव व निरोध हो जायेगा तथा इस मान्यता मे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान में सक्लेश का अभाव मानना होगा जो आगम विरुद्ध है। तात्पर्य यह है कि जैनागम मे उदयमान कषाय मे वृद्धि होने को अर्थात् हीयमान व गिरते परिणामो को सक्लेश, पाप तत्त्व, अशुद्धोपयोग तथा पापास्रव का कारण कहा है तथा उदयमान कषाय मे हानि होने को अर्थात् शुद्धता की ओर बढते वर्धमान परिणामो को विशुद्धि, शुद्धोपयोग (पुण्य तत्त्व) तथा पुण्यास्रव का कारण कहा है।

समस्त ससारी जीवो के वीतराग होने के पहले सदैव पुण्य और पाप इन दोनो का आस्रव तथा बध होता रहता है। अत सब जीवो के सदैव सक्लेश विशुद्धि दोनो मानना होगा। परन्तु यहॉ पर सामान्य से होने वाला यह पुण्य पाप का आस्रव व बध अपेक्षित व इष्ट नही है। प्रत्युत् पुण्य-पाप कर्म का आस्रव व अनुभाग जो पहले हो रहा था उसमे वृद्धि होने से है। कषाय मे हानि होने रूप परिणामो की विशुद्धि से पुण्यास्रव मे तथा बध्यमान एव सत्ता मे स्थित पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है और पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण होने से भी पुण्य प्रकृतियो के प्रदेशो मे वृद्धि होती है।

इसी वृद्धि को पुण्य का उपार्जन कहा है और विशुद्धि को इसका हेतु कहा है। इसी प्रकार कषाय मे वृद्धि होने रूप सक्लेश परिणामो से पापास्रव मे तथा बध्यमान एव सत्ता मे विद्यमान पाप प्रकृतियो के अनुभाग व स्थिति मे वृद्धि होती है और पुण्य प्रकृतियो का पाप प्रकृतियो में सक्रमण होने से भी पाप

प्रकृतियो के प्रदेशो मे वृद्धि होती है। इस वृद्धि को ही पाप का उपार्जन कहा है और इसी के हेतु को सक्लेश कहा है। जिससे किसी में वृद्धि नही हो, उसे उसके उपार्जन का अर्थात् आस्रव का हेतु नहीं कहा जा सकता।

■

कर्म-सिद्धान्त और पुण्य-पाप

जैन दर्शन मे प्रतिपादित तत्त्वज्ञान और कर्म-सिद्धान्त विश्व मे अद्वितीय है। तत्त्वज्ञान मे प्राणी के लिये हेय-उपादेय का वर्णन है और कर्म-सिद्धान्त मे प्राणी के जीवन से सबधित समस्त स्थितियो का विवेचन है। यह विवेचन नैसर्गिक नियमो के रूप मे है और अपने आप मे अनूठा है। यहाँ कर्म-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे 'पुण्य-पाप' पर सक्षेप मे प्रकाश डाला जा रहा है।

कर्म-सिद्धान्त

जैन दर्शन मे ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्म कहे गये है और इन आठ कर्मो की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ कही गई हैं। इन्ही १४८ प्रकृतियो को अभेद विवक्षा से बध योग्य १२० प्रकृतियों मे समाहित किया गया है। इसी विवक्षा मे पुण्य-पाप की प्रकृतियाँ इस प्रकार कही गई है - कर्म बध चार प्रकार का है - (१) प्रकृति बध (२) स्थिति बध (३) अनुभाग बध और (४) प्रदेश बध।

प्रकृति बध— कर्मो के भिन्न-भिन्न स्वभाव के उत्पन्न होने को प्रकृति बध कहते हैं। प्रकृति बध की अपेक्षा पुण्य-पाप की प्रकृतियाँ इस प्रकार है-

सुरनरतिगुच्च साय तसदस तणुवगवइरचउरस।
परघासग तिरिआऊ वन्नचउ पणिंदि सुभखगइ ॥१५॥
बायालपुन्नपगई अपढमसठाणखगइसघयणा।
तिरियदुग असायनीयोवघाय इगविगलनिरयतिग ॥१६॥
थावरदस वन्नचउक्क घाइपणयालसहियबासीई।
पावपयडित्ति दोसुवि, वन्नाइगहा सुहा-असुहा ॥१७॥—पचम कर्मग्रन्थ

पच सग्रह ३/२१, २२ गोम्मटसार कर्म काण्ड गाथा ४१, ४२, ४३।

अर्थ - सुरत्रिक (देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु) मनुष्यत्रिक (मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु), उच्च गोत्र, सातावेदनीय, त्रसदशक (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशकीर्ति) औदारिक, वैक्रिय आहारक, तेजस, कार्मण शरीर, अगोपागत्रिक (औदारिक अगोपाग, वैक्रिय अगोपाग, आहारक अगोपाग), वज्रऋषभनाराच-सहनन, समचतुरस्रसस्थान, पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थङ्कर, निर्माण। तिर्यच आयु, शुभ वर्णचतुष्क (वर्ण, गध, रस, स्पर्श) पचेन्द्रिय जाति और शुभ विहायोगति ये पुण्य की ४२ कर्म प्रकृतियाँ हैं।

पहले सस्थान व सहनन को छोडकर ५ सस्थान तथा ५ सहनन, अशुभ

विहायोगति, तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्चानुपूर्वी, असातावेदनीय, नीचगोत्र, उपघात, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) नरकत्रिक (नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु), स्थावर दशक (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, अयश कीर्ति) अशुभ वर्णचतुष्क (अशुभ वर्ण, गध, रस, स्पर्श) घाती कर्मो की ४५ प्रकतियाँ (ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ९, मोहनीय २६, अतराय ५) ये ८२ पाप की प्रकृतियाँ हैं।

स्थितिबंध—जीव के साथ कर्मों के रहने की मर्यादा को स्थितिबध कहते है। पुण्य-पाप कर्मों का स्थिति बध इस प्रकार है-

सव्वाण वि जिट्ठठिई असुभा ज साइसकिलेसेण।
इयरा विसोहिओ पुण मुत्तु नरअमरतिरियाउ ॥ पचमकर्म ग्रन्थ, ५२
सव्वट्ठिदीणमुक्कस्सओ दुउक्कस्स सकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतियवज्जियाणतु ॥गोम्मटसार कर्मकाण्ड, १३४

अर्थ- मनुष्य, देव और तिर्यञ्च आयु को छोडकर शेष सभी प्रकृतियो की उत्कृष्ट स्थिति अति सक्लेश परिणामो मे बधने के कारण अशुभ है। इनकी जघन्यस्थिति का बध विशुद्धि द्वारा होता है। तीन आयु का उत्कृष्ट स्थिति बध विशुद्धि परिणामो से और जघन्य स्थिति बध सक्लेश परिणामो से होता है।

अनुभाग बध - कर्म की फलदान शक्ति को अनुभाग कहते है। उत्कृष्ट और जघन्य अनुभाग के सबध मे कहा है—

बादाल तु पसत्था विसोहिगुणमुकडस्स तिव्वाओ।
बासीदि अप्पसत्था मिच्छुक्कडसकिलिइट्ठस्स।।गोम्मटसारकर्मकाण्ड ॥१६४॥
तिव्वो असुहसुहाण सकेसविसोहिओ विवज्जयउ।
मदरसो पचम कर्म ग्रन्थ, ६३

अर्थात्, ४२ पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट विशुद्धि गुणवाले जीवो के होता है और ८२ पाप प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग उत्कृष्ट सक्लेश परिणाम वाले मिथ्यादृष्टि जीवो के होता है। आतप, उद्योत, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु इन चार पुण्य प्रकृतियो के अतिरिक्त शेष ३८ पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध सम्यग्दृष्टि जीवो के ही होता है, मिथ्यात्वी जीवो के नही। इन ३८ प्रकृतियो मे से देवायु का अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती के, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपाग, वज्रऋषभ नाराच सघयण इन ५ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध अनन्तानुबधी की विसयोजना करते

हुए अनिवृत्तिकरण के अतिम समय मे सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है। शेष ३२ पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध चारित्र की क्षपक श्रेणी करने वाले साधक के केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होने के अतमुहूर्त पूर्व ही होता है यथा -

विउव्विसुराहारदुग सुखगइवन्नचउतेयजिणसायं।
समचउपरघातसदस पणिंदिसासुच्च खवगा उ ॥पचम कर्मग्रथ, ६७

अर्थ -वैक्रियद्विक, देवद्विक, आहारक द्विक, शुभ विहायोगति, वर्णचतुष्क, तेजसचतुष्क, तीर्थङ्कर नामकर्म, सातावेदनीय, समचतुरस्र सस्थान, पराघात, त्रसदशक, पचेन्द्रिय जाति, उच्छ्वास नाम और उच्च गोत्र का उत्कृष्ट अनुभागबध क्षपकश्रेणि करने वाले ही करते हैं।

इन ३२ पुण्य प्रकृतियो का यह उत्कृष्ट अनुभाग बध उसी भव मे मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव ही करते है। उनका यह अनुभागबध मुक्ति प्राप्ति के अतिम क्षण तक (दो समय पूर्व तक) उत्कृष्ट ही रहता है जैसा कि कहा है- **सुहाण पयडीणं विसोहिदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अनुभागघादो णत्थि त्ति जाणवेदि। खीणकसायसंजोगीसु ट्ठिदि अणुभागवज्जिदे सुहाण पयडीणमुकस्साणुभागो होदि णत्थि अत्थावतिसिद्ध।** (धवल पुस्तक १२ पृष्ठ १४) अर्थात् शुभ प्रकृतियो के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवलिसमुद्घात अथवा योग-निरोध से नही होता। क्षीण कषाय और सयोगी गुणस्थानो मे स्थिति घात व अनुभाग घात के होने पर भी शुभ प्रकृतियो का अनुभागघात वहाँ नही होता है, यह सिद्ध होने पर स्थिति व अनुभाग से रहित अयोगी गुणस्थान में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग यथावत बना रहता है। यह अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग क्षायिक चारित्र, वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन की उत्पत्ति मे बाधक नही है, अपितु आवश्यक है।

यह नियम है कि जब तक पुण्य कर्म प्रकृतियो का द्विस्थानिक अनुभाग बढ़कर चतु स्थानिक नही होता है तब तक सम्यग्दर्शन नही होता है और यह चतु स्थानिक अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट नही होता है तब तक केवलज्ञान नही होता है। इसके विपरीत पाप कर्म की प्रकृतियों का चतु स्थानिक अनुभाग घटकर द्विस्थानिक नही होता है तब तक सम्यग्दर्शन नही होता है और घाती पाप प्रकृतियो का पूर्ण क्षय नही होता है तब तक केवलज्ञान नही होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान मे पाप ही बाधक है। पुण्य बाधक नही है। पुण्य और पाप प्रकृतियो के अनुभाग (रस) के

विषय म कहा हे—

गुडखडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिवकजीरा।

विसहालाहलसरिसाऽसत्था हु अघादि पडिभागा ॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड, १८४

अर्थ- अघाती कर्मो मे प्रशस्त प्रकृतियो का रस गुड़, खाड, मिश्री और अमृत के समान होता है और अप्रशस्त प्रकृतियो का रस, नीम, काजीरा विष, हलाहल के समान होता है। यह कथन इन प्रकृतियो के एक स्थानिक-द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक एव चतु स्थानिक स्पर्द्धको की तरतमता का सूचक है। अर्थात् पुण्य-प्रकृतियो का अनुभाग बढ़कर चतु स्थानिक व उत्कृष्ट हो जाता है। वह अमरत्व (देवत्व, अविनाशीपन) का सूचक होता है। इसके विपरीत पाप प्रकृतियो का अनुभाग उत्कृष्ट होता है तो हलाहल विष का कार्य करता है। अभिप्राय यह है कि पुण्य का अनुभाग जीव के लिये शुभफलदायक व अत्यन्त हितकारी है और पाप का अनुभाग अशुभफलदायक व अत्यन्त अहितकारी है।

प्रदेशबध- जीव के साथ कर्म परमाणुओ के स्कधो का सबध होने को प्रदेशबध कहते है। कर्मो का प्रदेश बध योगो से होता है यथा—

अप्पयरपयडिबधी उक्कडजोगी व सन्निपज्जतो।
कुणइ पएसुक्कोस जहन्नय, तस्स वच्चासे ॥ पचम कर्मग्रथ ८९ ॥
उक्कड-जोगो सण्णी, पज्जतो पयडिबधमप्पदरो।
कुणदि पदेसुक्कस्स, जहण्णये जाण विवरीय॥—गोम्मटसार कर्मकाड, २१०

अर्थ-अल्पतर प्रकृतियो का बध करने वाला, उत्कृष्ट योगधारक और पर्याप्त सज्ञी जीव उत्कृष्ट प्रदेश बध करता है तथा इसके विपरीत अर्थात् बहुत प्रकृतियो का बध करने वाला, जघन्य योगधारक, अपर्याप्त जीव जघन्य प्रदेश बध करता है।

प्रदेश बध मुख्यत योगो से होता है। इस बन्ध मे सक्लेश-विशुद्धि का विशेष स्थान नही है और किसी भी पुण्य व पाप कर्म की प्रकृतियो के प्रदेश बध के न्यूनाधिक होने का इनके अनुभाव पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। जैसे कोई मधुर या कटु वस्तु बडी हो या छोटी हो, इससे इसके रस या स्वाद मे कोई अतर नही होता है। इसी प्रकार पुण्य-पाप की किसी प्रकृति के प्रदेश कितने ही कम हो या अधिक हो, इससे उसके फल पर कुछ भी प्रभाव नही पडता है। इससे यह फलित होता है कि मन, वचन, काया के योग अर्थात् इनकी प्रवृत्ति कितनी ही न्यून व अधिक हो इससे प्रदेशो का न्यूनाधिक बध

तो होता है, परन्तु उस बध से जीव को हानि-लाभ नही होता है। जीव का हित-अहित नही होता है। जीव का हित-अहित का सबध अनुभाग से है और अनुभाग बध का सबध कषाय की मदता -वृद्धि से है, कहा भी है—

परमाणूण बहुत्तमप्पत्त वा अणुभागवड्ढि हाणीण ण कारणमिदि।—कसाय पाहुड-जयधवलटीका पुस्तक ५ पृ ३३९ । अर्थात् कर्म परमाणुओ का बहुत्व या अल्पत्व, अनुभाग की वृद्धि और हानि का कारण नही है।

उदय—कर्मों का फल भोगना उदय है। मुक्ति प्राप्त करने वाले केवलज्ञानी जीवो के १३ वे गुणस्थान मे ४२ एव १४ वे गुणस्थान मे १२ प्रकृतियो का उदय रहता है यथा—

तदियेक्कवज्जणिमिण थिरसुहसरगदिउरालतेउदुग।
सठाण वण्णागुरुवउक्क पत्तेय जोगिम्हि ॥
तदियेक्क मणुवगदी पचिंदिय सुभगतसतिगादेज्ज।
जसतित्थ मणुवाउ उच्च च अजोगिचरिमम्हि ॥गोम्मटसार,कर्मकाड, २७१-२७२

अर्थात् तेरहवे सयोगी केवली गुणस्थान मे ४२ प्रकृतियो का उदय रहता है। इनमे से ३० प्रकृतियो का इस गुणस्थान के अतिम समय मे उदय विच्छेद हो जाता है और शेष १२ प्रकृतियो का उदय चौदहवे गुणस्थान के अतिम समय तक रहता है। ३० प्रकृतियो के नाम इस प्रकार है— वेदनीय कर्म के साता-असाता मे से कोई एक, वज्र ऋषभनाराच सहनन, निर्माण, स्थिर, शुभ, सुस्वर, विहायोगति, औदारिक और तैजस इन ६ का जोडा (स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ आदि) समचतुरस्रसस्थान आदि ६ सस्थान, वर्णादि चार, अगुरूलघु आदि चार और प्रत्येक शरीर। साता-असाता मे से कोई एक प्रकृति, मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रसादि तीन, आदेय, यश कीर्ति, तीर्थङ्कर, मनुष्यायु एव उच्चगोत्र ये १२ प्रकृतियॉ उदय योग्य है।

उदीरणा - जो कर्म प्रकृतियॉ उदयकाल से बाहर है उन्हे उदय मे ले आना उदीरणा है। 'उदय उदीरणा' कर्मग्रथ भाग २ गाथा २३ के अनुसार सब गुण-स्थानो मे उदय के समान ही उदीरणा की सख्या होती है, परन्तु साता वेदनीय, असातावेदनीय और मनुष्यायु इन तीन प्रकृतियो की उदीरणा सातवे गुणस्थान से लेकर तेरहवे गुणस्थान तक नही होती है। चौदहवे गुणस्थान मे किसी भी प्रकृति की उदीरणा नही होती है।

सत्ता- कर्मो का आत्म-प्रदेशो के साथ स्थित रहना सत्ता है। तेरहवे चौदहवे गुणस्थान मे सत्ता इस प्रकार है-

पणसीइ सजोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइगधदुग।
फासट्ठ वन्नरसतणुबधणसघायण निमिण ॥

सघयण अथिर सठाण-छक्क अगुरुलहु चउअपज्जत्त ।

सायं व असाय वा परित्तुवगतिग सुसरनिय ॥

बिसयरिखओ च चरिमे तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं ।

सुभगजिणुच्च पणिंदिय तेरस सायासायएगयरछेओ ॥— कर्मग्रथ भाग २, गाथा ३१-३३ गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा ३४०-३४१

गाथार्थ- सयोगी और अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक ८५ प्रकृतियो की सत्ता रहती है। उसके बाद देवद्विक, विहायोगति द्विक, गधद्विक, आठ स्पर्श, वर्ण, रस, शरीर, बधन और सघातन इन सबकी पाँच-पाँच, निर्माण, सहनन षट्क, अस्थिरषट्क, सस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, अपर्याप्त, साता अथवा असातावेदनीय, प्रत्येकत्रिक, उपागत्रिक, सुस्वर और नीच गोत्र इन ७२ प्रकृतियों का क्षय चौदहवे गुणस्थान के द्विचरम समय में होता है। इसके बाद मनुष्यत्रिक, त्रसत्रिक, यश-कीर्ति, आदेय, सुभग, जिननाम, उच्चगोत्र, पचेन्द्रिय जाति, साता अथवा असाता वेदनीय, इन तेरह प्रकृतियों की सत्ता का क्षय चौदहवें गुणस्थान के अतिम समय में होने से आत्मा कर्मरहित होकर मुक्त हो जाता है।

तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थान मे पूर्वोक्त ४२ प्रकृतियों का उदय होता है। इन प्रकृतियों में अघाती कर्मो की पाप व पुण्य दोनो प्रकार की प्रकृतियो का उदय है। इससे यह सिद्ध होता है कि मुक्ति के हेतु वीतरागता की उपलब्धि मे अघाती कर्मो की पुण्य-पाप प्रकृतियो का उदय बाधक नही है। इसी प्रकार चौदहवे अयोगी केवली गुणस्थान मे अघाती कर्मों की ८५ प्रकृतियो की सत्ता द्विचरम समय तक रहती है। इन ८५ प्रकृतियो मे वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की पाप प्रकृतियाँ, असातावेदनीय, नीच गोत्र एव अनादेय, अयशकीर्ति आदि की सत्ता भी है तथा पुण्य की ४२ प्रकृतियो मे से देव, तिर्यञ्च आयु, आतप, उद्योत इन चार प्रकृतियो को छोड़कर शेष ३८ प्रकृतियो की सत्ता है। जब वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की पाप प्रकृतियों की सत्ता भी वीतरागता की उपलब्धि व शुक्ल ध्यान मे बाधक नही है तब पुण्य प्रकृतियो की सत्ता वीतरागता मे व शुक्ल ध्यान मे बाधक होने की बात तो सोची भी नही जा सकती। अत "पुण्य कर्म वीतरागता व मुक्ति मे बाधक हे।" यह मान्यता निराधार है।

उत्कर्षण-अपकर्षण-संक्रमण—

कम्माण सबधो बधो, उक्कट्टण हवे वड्ढी।

सकमणमणत्थगदी हाणीओकट्टण णाम ॥—गोम्मटसारकर्मकाण्ड, ४३८

कर्मो का आत्मा के साथ सबध होना बध है। सत्ता मे स्थित कर्मों की

स्थिति व अनुभाग का बढ़ना उत्कर्षण है एव स्थिति व अनुभाग का कम होना अपकर्षण है और अन्य प्रकृति रूप परिणमन या रूपान्तरण होना सक्रमण है।

सक्लेश परिणामो से पाप प्रकृतियो की स्थिति व अनुभाग का उत्कर्षण, पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का अपकर्षण एव पुण्य प्रकृतियो का अपनी सजातीय पाप प्रकृतियो मे सक्रमण होता है। विशुद्ध परिणामो से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण, पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण एव पाप प्रकृतियो का अपनी सजातीय पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण होता है अर्थात् विशुद्ध भावो से पुण्य कर्मों का उपार्जन होता है, साथ ही सत्ता मे स्थित पाप - प्रकृतियो का सजातीय पुण्य-प्रकृतियो में रूपान्तरण होता है जिससे पुण्य कर्मो मे अभिवृद्धि होती है।

बंधुक्कट्टणाकरण सगसगबंधोत्ति होदि णियमेण।
संकमण करण पुण सगसगजादीण बधोत्ति ॥—गोम्मटसार कर्मकाण्ड, ४४४

अर्थात् बधकरण और उत्कर्षण करण ये दोनो अपनी-अपनी प्रकृतियो की बधव्युच्छित्ति पर्यन्त होते है और अपनी-अपनी जाति की प्रकृतियो की जहा बध व्युच्छित्ति होती है वहाँ तक इनका सक्रमण होता है।

ऊपर कर्मो के बध, उदय, उदीरणा व सत्ता उत्कर्षण, अपकर्षण, अपवर्तन एव सक्रमण के परिप्रेक्ष्य मे पुण्य-पाप का विवेचन किया गया है। उसी पर यहा घाती-अघाती कर्म प्रकृतियो की दृष्टि से विचार किया जा रहा है। आत्मा के विकास व ह्रास का आधार आत्मा के गुणो का विकास एव ह्रास है। जिन कर्म-प्रकृतियो से आत्मा के गुणो का ह्रास (हानि) हो, उन्हे घाती कर्म कहा गया है और जिन कर्म-प्रकृतियो से आत्मा के गुणो का अशमात्र भी घात नही हो, उन्हे अघाती कर्म कहा गया है। घाती कर्म ही आत्मा के गुणो के घातक है। अत साधक के लिये इनका ही क्षय करना आवश्यक है। अघाती कर्म प्रकृतियो की सत्ता का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी, वीतरागता एव केवलीसमुद्घात से भी नही होता है।

ज्ञानावरण की ५, दर्शनावरण की ९, मोहनीय की २८ एव अतराय कर्म की ५ ये कुल ४७ कर्म प्रकृतियाँ घाती है। ये ही आत्मा के गुणो का घात करने वाली है। अत ये सब पाप प्रकृतियाँ आत्मा के लिये घोर अहितकारी है। शेष वेदनीय की २, आयुकर्म की ४, नाम कर्म की ६७ और गोत्र कर्म की २ प्रकृतियाँ —इन चार कर्मो की ये कुल ७५ प्रकृतियाँ अघाती है। इन्ही ७५ प्रकृतियो मे सातावेदनीय, तिर्यञ्च-मनुष्य-देव आयु, उच्च गोत्र तथा नाम कर्म की ३७ शुभ प्रकृतियाँ ये कुल ४२ प्रकृतिया पुण्य कर्म की है, शेष

प्रकृतिया पाप कर्म की है। अघाती कर्म के पुण्य-पाप की किसी भी प्रकृति के बध, उदय व सत्ता से जीव के किसी भी गुण का घात नहीं होता है। अत ये साधना मे, आत्म-विकास मे व मुक्ति के मार्ग मे बाधक नही है। यही कारण है कि चौदहवे अयोगी गुणस्थान के द्विचरम समय तक चारो अघाती कर्मो की पुण्य-पाप की प्रकृतियो की सत्ता रहने पर भी केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि क्षायिक लब्धियॉं प्रकट होने मे बाधा उपस्थित नही होती।अपितु मनुष्य गति, पचेन्द्रिय जाति, सुभग, आदेय, यश कीर्ति आदि पुण्य-प्रकृतियों के उदय की अवस्था मे ही श्रावकत्व (अणुव्रत), साधुत्व (महाव्रत) तथा वीतरागता की साधना एव केवलज्ञान, केवल दर्शन की उत्पत्ति सभव है। तात्पर्य यह है कि पुण्य कर्म-प्रकृतिया मुक्ति-प्राप्ति की साधना में बाधक नही है, अपितु आवश्यक है।

कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म की सातावेदनीय, उच्चगोत्र, सुभग, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियो का अक्षुण्ण व उत्कृष्ट अनुभाग बध होने से पूर्व इन पुण्य-प्रकृतियो का बध रुक जाने पर इनकी विरोधिनी असातावेदनीय नीचगोत्र, दुर्भग, अनादेय आदि पाप प्रकृतियो का आस्रव व बध अवश्य होता है अर्थात् पुण्य-प्रकृतियो के जीवन पर्यन्त के लिए उत्कृष्ट अनुभाग बध के स्वामी वीतराग जीवो को छोडकर शेष जीवो के पुण्य प्रकृतियो का बध रुक जाने पर उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियो का बध नियम से होता है। अत कर्म सिद्धान्तानुसार पुण्य का विरोध व निरोध करना पाप कर्मो का आह्वान करना व आमत्रण देना है।

'कर्म-सिद्धान्त मे पुण्य-पाप' विषयक उपर्युक्त निरूपण श्वेताम्बर एव दिगबर कर्म साहित्य मे सर्वमान्य है। कर्म-सिद्धान्त सबधी श्वेताबर साहित्य कर्म-ग्रथ, पच-सग्रह, कर्म-प्रकृति, भगवती सूत्र, पन्नवणा सूत्र आदि ग्रथो मे तथा दिगबर साहित्य षट्खडागम व उसकी धवला-महाधवला टीका, गोम्मटसार, कषाय पाहुड व उसकी चूर्णि तथा जयधवला टीका आदि ग्रथो मे कही पर भी, कुछ भी मतभेद नही है।

■

तत्त्वज्ञान और पुण्य-पाप

पूर्व के प्रकरण में कर्म-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे पुण्य-पाप कर्मो का सक्षेप मे विवेचन किया गया है। यहॉ पुण्य-पाप का विवेचन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से किया जा रहा है। कर्म सिद्धान्त और तत्त्वज्ञान में अन्तर यह है कि कर्म सिद्धान्त मे विश्व के स्वरूप का एव ससारी जीव की कर्म जन्य विविध अवस्थाओ का वर्णन है। इसमें हेय-उपादेय का विवेचन नही है। तत्त्वज्ञान का वर्णन आत्म-विकास व साधना की दृष्टि से हेय-उपादेय के रूप में किया गया है। जैन धर्म का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, सर्वबधनो से मुक्ति पाना है। अत तत्त्वज्ञान का समस्त विवेचन इसी दृष्टि से है। चेतन और अचेतन के स्वरूप का प्रतिपादन जीव और अजीव तत्त्व मे किया गया है। जीव का कौनसा भाव, प्रयास व प्रवृत्ति उसके साध्य मोक्ष की प्राप्ति मे, आत्मा की पवित्रता मे सहायक है उसे पुण्य तत्त्व मे तथा कौन सा भाव व प्रवृत्ति मुक्ति मे बाधक व आत्मा के पतन मे हेतु है उसे पापतत्त्व मे प्रतिपादित किया गया है। उस पाप प्रवृत्ति से पापकर्मो का सर्जन व बधन होने का वर्णन आस्त्रव व बध तत्त्व मे किया गया है। आस्त्रव के निरोध के हेतुओ का वर्णन सवर तत्त्व मे और बध के क्षय के हेतुओ का वर्णन निर्जरा तत्त्व मे किया गया है। अपने लक्ष्य मुक्ति के स्वरूप व इसकी प्राप्ति की साधना का वर्णन मोक्ष तत्त्व मे किया गया है। तत्त्वो का इस प्रकार का प्रतिपादन प श्री सुखलाल जी सघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र अ १ सूत्र ४ की टीका मे किया है। अभिप्राय यह है कि जेन दर्शन मे आस्त्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष तत्त्वो का विवेचन मुख्यत पाप को दृष्टि मे रखकर किया गया हे।

वीतराग के अतिरिक्त शेष समस्त जीवो मे आशिक गुण और आशिक दोष है। गुण स्वाभाविक है और सब जीवो को स्वत प्राप्त है। दोष प्राणी के द्वारा पैदा किये गये है । दोषो ने ही गुणो को आच्छादित किया है। अत गुण के प्रकट न होने मे दोष ही कारण है। दोष जितने-जितने अश मे कम होते जाते है उतने-उतने अश मे गुण प्रकट होते जाते है, आत्मा पवित्र होती जाती है। आत्मा का पवित्र होना ही पुण्य है।

दोष पाप है। इनसे पाप कर्मों का बध होता है और गुणों से आत्मा के पवित्र होने से पुण्य कर्मो का बध होता है। इसलिये सभी प्राणियो के जितने अश मे दोष हैं उतने पाप कर्म बधते है और जितने अश मे दोषो की कमी होती जाती है, गुण प्रकट होते जाते है उतने अशो में पुण्य कर्मो के उपार्जन मे वृद्धि होती जाती है। पुण्य का उपार्जन पाप की कमी से ही होता है। अत

दोष मिटाने का दायित्व जीव का है। दोषो को, पापो को मिटाना ही साधना हे। दु खो से मुक्ति पाना है। आगमो में जो भी तत्त्वो का वर्णन किया गया है वह दोषो को दूर करने को अर्थात् साधना व मुक्ति प्राप्ति को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। दोष मिटने से गुणों की अभिव्यक्ति एव पुण्य कर्मों का उपार्जन व वृद्धि निसर्ग से स्वत होती है। इसके लिए अन्य कोई प्रयत्न नही करना पड़ता है। पुण्य कर्म पाप की कमी का, आत्मा की पवित्रता का, आत्म-शुद्धि का, आत्म-विकास का सूचक है। जैसा कि कहा है-

पुनाति आत्मानम् इति पुण्यम् - स्थानाग सूत्र टीका एव सर्वार्थसिद्धि टीका ६ ३ 'पातयति आत्मान इति पापम्' अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो, शुद्ध हो वह पुण्य है और जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, अशुद्ध हो वह पाप है (अभिभान राजेन्द्र कोष, खड ५ पृ ७६) आत्मा पवित्र व शुद्ध शुभ योग से, सद्प्रवृत्ति से होती है और आत्मा अपवित्र व अशुद्ध अशुभ योग से, दुष्प्रवृत्ति से होती है। शुभ योग और अशुभ योग का हेतु विशुद्धि और सक्लेश परिणाम है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन कषायो मे वृद्धि होना सक्लेश परिणाम हैं और इन कषायो मे हानि होना विशुद्धि परिणाम है, जैसा कि कहा है-

को सकिलेसो णाम ? कोहमाणमायालोहपरिणामविसेसो । को विसोहिणाम जेसु जीवपरिणामेसु समुपण्णेसु कसायाण हानि होदि ।—जयधवल टीका पुस्तक ४ पृ १५ व ४१

विशुद्ध परिणाम से योगो मे शुभता बढ़ती है और सक्लेश परिणाम से योगो मे अशुभता बढ़ती है। विशुद्ध परिणामो एव तज्जन्य शुभ योगो-सद् प्रवृत्तियो से आत्मा पवित्र होती है। परिणामो की यह विशुद्धता अर्थात् बढते परिणाम , भाव पुण्य तत्त्व है और सद् प्रवृत्तियाँ द्रव्य पुण्य तत्त्व है। इसके विपरीत सक्लेश परिणामो एव तज्जन्य अशुभ योगो-दुष्प्रवृत्तियो से आत्मा का पतन होता है, आत्मा अपवित्र होती है। परिणामो की सक्लिष्टता अर्थात् गिरते परिणाम, भाव पाप तत्त्व है और दुष्प्रवृत्तिया द्रव्य पाप तत्त्व है। पुण्य और पाप तत्त्वो का आधार जीव के परिणामो की शुद्धता-अशुद्धता पर निर्भर है। उदाहरणार्थ - डाक्टर व डाकू दोनो छुरे से पेट चीरने की प्रवृत्ति करते है परन्तु इस प्रवृत्ति मे डाक्टर का परिणाम रोगी के प्राणो की रक्षा करना है और डाकू का परिणाम व्यक्ति के प्राण हनन करना है। अत डाक्टर का परिणाम अनुकपा युक्त होने से उसकी प्रवृत्ति शुभ योग है, पुण्य है और डाकू के परिणाम अशुद्ध, क्रूर होने से उसकी प्रवृत्ति अशुभ योग है, पाप है। इन्ही पुण्य-पाप परिणामो

से व प्रवृत्तियों से पुण्य-पाप का आस्रव होता है। पुण्य परिणाम जीव के लिये कल्याणकारी हैं जैसा कि ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के प्रथम अध्ययन में भगवान् महावीर ने मेघकुमार को प्रतिबोध देते हुये फरमाया है—**तुमं मेहा! ताए पाणाणुकपयाए भूयाणुकंपयाए जीवाणुकपयाए सत्ताणुकंपयाए संसारेपरित्तीकए माणुस्साऊ निबद्धे।**

अर्थ - हे मेघ! तुमने उस प्राणानुकपा, भूतानुकपा, जीवानुकपा तथा सत्त्वानुकपा से ससार परीत किया और मनुष्यायु का बध किया। इसमे अनुकपा को सर्व कर्मो का क्षय कर ससार पार करने का तथा मनुष्यायु रूप पुण्य कर्म बध का हेतु बताया है। इसी ज्ञाताधर्म कथा मे आगे अध्ययन ८ मे तीर्थकर नामगोत्र कर्म के २० हेतु बताये है- यथा-

अरहतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुएतवस्सीसु।
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्ख नाणोवओगे य।
दसण-विणय-आवस्सए सीलव्वए निरइयारो,
खणलवतवच्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥२॥

अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ सो उ ॥३॥

अर्थ - (१) अरिहत (२) सिद्ध (३) प्रवचन (४) गुरु (५) स्थविर (६) बहुश्रुत (७) तपस्वी के प्रति वत्सलता (८) अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग (९) दर्शन (१०) विनय (११) छ आवश्यक (१२) निरतिचार शील पालन (१३) क्षणलव (१४) तप (१५) त्याग (१६) वैयावृत्त्य (१७) समाधि (१८) अपूर्वज्ञान ग्रहण (१९) सुश्रुत भक्ति (२०) प्रवचन प्रभावना। इन बीस बोलो से तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन होता है। इसमे निरतिचार व्रत पालन, तप, सयम आदि के त्याग रूप निवृत्ति धर्म को तथा वात्सल्य, वैयावृत्त्य, ज्ञान ग्रहण रूप सद् प्रवृत्ति को पुण्य उपार्जन का कारण कहा गया है।

आस्रव तत्त्व का आधार पाप है, पुण्य नही

आस्रव तत्त्व — कर्मो के आने को आस्रव कहते है। पुण्य एव पाप के आस्रव के सम्बन्ध मे कहा है —

पुण्णासव भूदा अणुकपा सुद्धओ व उवजोओ।
विवरीओ पावस्स दु आसवहेउ वियाणाहिं ॥(५२)

कसाय पाहुड, जय धवल टीका, पुस्तक १ पृ ९६

अनुकपा अर्थात् सद् प्रवृत्तियो से और शुद्धोपयोग अर्थात् परिणामो की

शुद्धता से पुण्य कर्मों का आस्रव होता है। इसके विपरीत पाप के आस्रव के हेतु है अर्थात् अशुद्धोपयोग, परिणामो की अशुद्धता एव निर्दयता व दुष्प्रवृत्तियो से पाप कर्मों का आस्रव होता है।

मोक्ष शास्त्र – तत्त्वार्थ सूत्र के छठे अध्याय मे आस्रव के हेतुओ के सबध में कहा है -"शुभ पुण्यस्य, अशुभ पापस्य" अर्थात् शुभ योग पुण्य के आस्रव के हेतु है और अशुभयोग पाप के आस्रव के हेतु है। यहाँ शुभ और अशुभ योग का आधार शुभ और अशुभ कर्म प्रकृतियो का बध होना नही है अपितु विद्यमान पुण्य-पाप कर्मों के अनुभाग मे वृद्धि होना है। कारण कि यदि पाप कर्मों के बध होने के आधार पर पापास्रव माना जाय तो दशवे गुणस्थान तक ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि पाप कर्म प्रकृतियो का सतत बध होता रहता है। अत दशवे गुणस्थान तक अशुभ योग ही मानना पड़ेगा शुभ योग नही। इसी प्रकार आठवे गुणस्थान तक अगुरुलघु, निर्माण, तैजस, कार्मण शरीर आदि पुण्य प्रकृतियो का बध भी निरन्तर होता रहता है तथा दशवे गुणस्थान मे उच्चगोत्र, यश कीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियो का बध होता है। अत यहा तक शुभ योग ही मानना होगा अशुभ योग नही। इस प्रकार दशवे गुणस्थान तक शुभयोग और अशुभ योग इन दोनो योगो का होना और न होना युगपत् मानना पडेगा जो उचित नही है। आस्रव का अर्थ है, आगमन अर्थात् विद्यमान मे वृद्धि होना। अत जिससे शुभ (पुण्य) कर्मो के अनुभाग मे वृद्धि हो वह पुण्यास्रव है, शुभ योग है और जिससे अशुभ (पाप) कर्मों के अनुभाग मे वृद्धि हो वह पापास्रव है, अशुभ योग है। इसी तथ्य का समर्थन प्रज्ञाचक्षु प श्री सुखलालजी सघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सूत्र ४ की टीका मे किया है।

ऊपर गाथा मे पुण्य कर्म के आस्रव का हेतु शुद्धोपयोग को कहा है। इसका कारण यह है कि पुण्य का आस्रव व उपार्जन कषाय की कमी से होता है और कषाय की कमी होना शुद्धता के अभिमुख होना, शुद्धोपयोग है (समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०)।

पुण्यास्रव – वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चारो अघाती कर्मो में ही पुण्य प्रकृतिया होती है। इन चारो कर्मो की पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन अर्थात् पुण्य का आस्रव चारो कषायो की कमी से होता है यथा -

वेदनीय कर्म - वेदनीय कर्म की दो प्रकृतिया हैं साता वेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीय पुण्य प्रकृति है और असाता वेदनीय पाप प्रकृति है। इनके बध के हेतु है - दु **खशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभय**

स्थान्यसद्वेद्यस्य। '**भूतव्रत्यनुकंपादान सरागसंयमादियोग:, क्षान्ति: शौचमिति सद्वेद्यस्य**' 'तत्त्वार्थ सूत्र' अध्ययन -६/१२-१३

अर्थात् दु ख देना, शोक पैदा करना, ताप देना, आक्रदन करना, वध करना और परिदेवन ये असाता वेदनीय के हेतु हैं। ये सब अनुकपा एव क्षमाशीलता के अभाव के सूचक क्रोध कषाय के रूप हैं। इसके विपरीत भूत-व्रती-अनुकपा दान, सरागसंयमादि योग, क्षान्ति और शौच ये सातावेदनीय कर्म के बध के हेतु हैं।

क्षान्ति क्रोध के अभाव में ही होती है। अत क्रोध कषाय का अभाव, उपशम या क्षय ही सातावेदनीय का हेतु है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशक ६ में किया गया है।

आयुकर्म - आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ हैं। इनमें से नरकायु अशुभ है और तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु व देवायु शुभ हैं। इनके बध के हेतु है -

बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्यायुष । माया तैर्यग्योनस्य । अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुषस्य। सयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपासि सम्यक्त्व च देवस्य। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ सूत्र १६-१८ एव २०

बहुत आरभ-परिग्रह अर्थात् लोभ कषाय नरकायु के बध का हेतु है। माया कषाय तिर्यञ्च गति व आयु के बध का हेतु है। अल्प आरभ-परिग्रह, स्वभाव की मृदुता व सरलता ये मनुष्यायु के हेतु है। आरभ परिग्रह मे कमी होना लोभ कषाय की कमी का , स्वभाव की मृदुता मान कषाय की कमी का और सरलता माया कषाय की कमी का अभिव्यक्तक है अर्थात् लोभ, मान और माया कषाय की कमी से मनुष्यायु का बध होता है। सराग सयम, सयमासयम, अकाम निर्जरा, बालतप और सम्यक्त्व ये देवायु के हेतु है अर्थात् सयम और सम्यक्त्व आदि देवायु के बध के हेतु है। देवायु का उत्कृष्टबध अप्रमत्त साधु ही करता है। अत साधुत्व ही देवायु के बध का हेतु है। इसी तथ्य का प्रतिपादन भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ मे किया गया है।

नामकर्म - नाम कर्म की ९३ या ६७ प्रकृतिया है। इन ६७ प्रकृतियो में ३७ प्रकृतिया पुण्य की है शेष पाप कर्म की है। इनके बध के हेतु है— **योगवक्रता विसवादन चाशुभस्य नाम्न: । विपरीत शुभस्य ।** तत्त्वार्थ सूत्र अ ६ सूत्र २१-२२ 'मन वचन, और काया के योगो की वक्रता अर्थात् माया कषाय अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियो के बध का हेतु है और इसके विपरीत अर्थात् मन, वचन, काया के योगो की सरलता रूप माया कषाय की कमी शुभ नाम कर्म की

प्रकृतियों की हेतु है। इसी का प्रतिपादन भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ मे तथा उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ मे किया गया है।

गोत्र कर्म - गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ है। इनमे से उच्च गोत्र शुभ और नीच गोत्र अशुभ है। इनके बध के हेतु हैं - **परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ।।तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेको चोत्तरस्य** ।।तत्त्वार्थ सूत्र अध्ययन ६ सूत्र २४-२५

परनिन्दा, आत्म प्रशसा, सद्गुणों का आच्छादन, असद्गुणो का प्रकाशन अर्थात् मान कषाय नीच गोत्र के बध का हेतु है और इसके विपरीत अर्थात् मान कषाय की कमी उच्च गोत्र के बध की हेतु है। भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ९ मे कहा गया है कि जाति, कुल, बल श्रुत आदि का मद अभिमान करने से नीच गोत्र का और मद न करने से अर्थात् निरभिमानता - विनम्रता से उच्च गोत्र का बध होता है।

वदणएण नीयागोय कम्म खवेइ, उच्चागोय कम्म निबधइ ।।—उत्तरा अ २९ सूत्र १०। अर्थात् - वदना से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है और उच्च गोत्र कर्म का बध करता है।

तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय से क्रमश वेदनीय, गोत्र, नाम व आयु इन चारो कर्मो की अशुभ (पाप) प्रकृतियो का बध होता है। इन कषायो की कमी से इन कर्मों की शुभ प्रकृतियो का बध होता है। क्रोध कषाय की कमी से क्षमा व अनुकपा गुण प्रकट होता है जो सातावेदनीय के बध का हेतु है। मान कषाय की कमी से मृदुता - नम्रता , निरभिमानता गुण प्रकट होता है जो उच्च गोत्र के बध का हेतु है। माया कषाय की कमी से सरलता का गुण प्रकट होता है जो नाम कर्म की शुभ प्रकृतियो के बध का हेतु हे तथा लोभ कषाय की कमी से निर्लोभता का गुण प्रकट होता है जो शुभ आयु के बध का हेतु है। इस प्रकार कषाय के, पाप की कमी से समस्त पुण्य प्रकृतियो का आस्रव नियम से होता है। कोई साधक कषाय की कमी व क्षय करे और उसके पुण्य प्रकृतियो का अनुबध न हो यह कदापि सभव नही है। इन चारो ही कर्मो की सातावेदनीय , मनुष्यायु, उच्च गोत्र, मनुष्यगति, यश कीर्ति आदि १२ पुण्य प्रकृतियो का उदय चौदहवे गुणस्थान मे मुक्ति-प्राप्ति के अतिम समय तक रहता है। पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का क्षय कषाय के उदय से ही होता है। अत इनके अनुभाग का क्षय किसी भी साधना से सभव नही है।सभी साधनाओ से इनका अनुभाग बढ़ता ही है घटता नहीं है। इसीलिये पुण्य के उपार्जन को आस्रव तत्त्व के किसी भी भेद में नही लिया गया है यथा-

इदियकसायअव्वयजोगा पच चउ पंच तिन्निकम्मा ।
किरियाओ पणवीसं इमाउ ताओ अनुक्कमसो ॥

अर्थात् पाच इन्द्रिया, चार कषाय, पाच अव्रत, तीन योग और पच्चीस क्रियाएँ ये आस्रव के ४२ भेद हैं। तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ के सूत्र ४ मे आस्रव के भेद इस प्रकार हैं -

अव्रतकषायेन्द्रियक्रिया· पञ्चचतु पञ्चपञ्चविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदा । अर्थात् अव्रत ५, कषाय ४, इन्द्रिया ५, क्रियाएँ २५ ये ३९ सापरायिक आस्रव के भेद हैं। इन भेदो मे तीन योगो को मिलाने से ४२ भेद हो जाते है। इन ४२ आस्रव के भेदो मे कर्म उपार्जन के हेतुओं मे केवल पापास्रव को ही ग्रहण किया गया है। व्रत, प्रत्याख्यान, त्याग-तप से तथा दया, दान, अनुकपा आदि शुभ योगो से होने वाले पुण्यास्रव के हेतुओ को नही लिया गया है। इसका कारण यह है कि जैन धर्म मे साधक के लिये पाप के आस्रव के त्याग का ही उपदेश है। पुण्यास्रव के त्याग का उपदेश नही है। यदि पुण्यास्रव को आस्रव तत्त्व मे गिना जाता तो साधक के लिये इसका निरोध व त्याग आवश्यक होता। साधना काल मे अर्थात् दशवे गुणस्थान तक जब भी पुण्य प्रकृतियो के आस्रव का निरोध होता है तो उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियो का आस्रव अवश्य होता है। जैसे सातावेदनीय, उच्च गोत्र, यश कीर्ति नाम, आदेय नाम आदि पुण्य प्रकृतियो के आस्रव का निरोध होने पर असातावेदनीय, नीच गोत्र, अयशकीर्ति नाम, अनादेय नाम आदि पाप प्रकृतियो का आस्रव व बध अवश्य होता है। अत पुण्य प्रकृतियो के आस्रव के निरोध का अर्थ है पाप प्रकृतियो के आस्रव व बध को आमत्रण देना, आह्वान करना। जो जीव के लिये अहितकर है। अर्थात् - पुण्य के आस्रव का निरोध पाप के आस्रव का हेतु है। पुण्य का आस्रव शुभ योग से होता है। अत पुण्य के आस्रव का निरोध तभी सभव है,जब शुभ योग का अभाव हो। शुभ योग का अभाव तभी सभव है जब अशुभ योग हो। कारण कि अप्रमादी गुणस्थान तक ससार के समस्त जीवो के शुभ और अशुभ इन दोनो योगो मे से एक योग और इसके आगे शुभयोग सदैव अवश्य ही रहता है। अत शुभ योग के अभाव मे अशुभ योग अवश्य होता है जो पापास्रव का हेतु है। अत जहाँ योग को आस्रव का हेतु कहा है वहाँ अशुभ योग ही ग्राह्य है। तथा जहा आस्रव को त्याज्य कहा है वहाँ पापास्रव ही ग्राह्य है पुण्यास्रव नही। तात्पर्य यह है कि आस्रव तत्त्व के भेदो मे पाप व पाप कर्मो के बध के हेतु मिथ्यात्व अव्रत, कषाय व अशुभ योग को ही ग्रहण किया गया है। पुण्य तत्त्व व पुण्य कर्म प्रकृतियो के आस्रव व बध के हेतु सम्यग्दर्शन,

व्रत, प्रत्याख्यान, सयम, त्याग, तप, धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान शुभ योग आदि को ग्रहण नही किया गया है। अपितु इन्हे आस्रव निरोध का कारण बताया है यथा-

पचसमिओ तिगुत्तो , अकसाओ जिइदियो।
अगारवो य णिस्सल्लो, जीवो हवइ अणासवो ॥३॥

अर्थ - पाच समिति वाला, तीन गुप्ति वाला, कषाय रहित, जितेन्द्रिय तीन गारव रहित और तीन शल्य रहित जीव अनास्रवी होता है।

संवर - तत्त्व

निरुद्धासवे सवरो—उत्तरा २९ ११**आस्रवनिरोध सवर** तत्त्वार्थ सूत्र अ ९ सूत्र १ अर्थात् आश्रव का निरोध होना, रुक जाना सवर है। यह कथन पाप के आश्रव के निरोध से ही सबधित है, पुण्य के आश्रव के निरोध से नही। जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र अ २९ पृच्छा ५५ मे कहा है - **सवरण कायगुत्ते पुणो पावासवणिरोह करेइ**। अर्थात् सवर से पाप के आस्रव का निरोध होता है। सवर तत्त्व मे सवर के ५७ भेद कहे गये है-

समिति गुत्ती धम्मो अणुप्पेहा परीसह चरित्त च।
सत्तावन्न भेया पणतिगभेयाइ सवरणे ।स्थानाग वृत्ति स्थान।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै –तत्त्वार्थ सूत्र अ ९ सूत्र २ अर्थात् सवर समिति, गुप्ति , धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र रूप है। जिसके क्रमश ५, ३, १०, १२ २२ और ५ कुल ५७ भेद होते है। इन ५७ भेदो मे एक मे भी पुण्य के आश्रव का निरोध नही है। इन सब से पुण्य के अनुभाव मे वृद्धि ही होती है।

सवर के मुख्य पाच भेद है - जो आश्रव निरोध के है। यथा —

(१) **सम्यक्त्व सवर** - यह मिथ्यात्व पाप के आश्रव का निरोध करता है।

(२) **विरति सवर** - यह अविरतिभाव - प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान मैथुन और परिग्रह इन पापो के आश्रव का निरोध करता है।

(३) **अप्रमाद सवर** - यह प्रमाद से होने वाले पाप कर्मो का निरोध करता ह।

(४) **अकषाय सवर** - यह क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, राग, द्वेष इन पापो के आश्रव का निरोध करता है।

(५) **शुभयोग सवर** - यह अशुभ योग परपरिवाद, कलह अभ्याख्यान, आदि दुष्प्रवृत्तियो के पापास्रव का निरोध करता है।

सवर के ५७ भेदों में शुभ योग मे वृद्धि होती है जो पुण्य के आस्रव की हेतु ह । इन सबसे पुण्य कर्म के अनुभाग मे वृद्धि होती हें और इनका अनुभाग कभी भी चतुष्स्थानिक से घटता नही है। अत पुण्य कर्म के निरोध की दृष्टि से इन्हे सवर नही कहा है, अपितु पुण्य प्रकृतियों का आश्रव होने से इनकी विरोधिनी व अन्य पाप कर्म प्रकृतियों के आश्रव का निरोध होता है इसे ही सवर कहा है। अत पाप के आश्रव के निरोध को ही सवर तत्त्व मे स्थान दिया गया है। पुण्य के आश्रव के निरोध को सवर नही कहा गया है। अत पाप का आश्रव ही त्याज्य है। पाप के आश्रव के त्याग से पुण्य का आश्रव स्वत होता है।

इस प्रकार सवर के समस्त भेद-प्रभेद पापाश्रव के ही निरोधक है। किसी भी भेद से पुण्य के आश्रव का निरोध नही होता है।

शुभ योग को सवर क्यो कहा ?

तत्त्वार्थ सूत्र अध्य ६ सूत्र ३ में 'शुभ पुण्यस्य' कहा है अर्थात् शुभ योग से पुण्य का आश्रव होता है, अत शुभयोग आश्रव का हेतु है, इसे सवर क्यो कहा जाए ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है। उतर में कहना है कि- जैनागम मे आश्रव-सवर तत्त्वो का विवेचन मोक्ष-प्राप्ति की साधना की दृष्टि से किया गया है। मोक्ष प्राप्ति में पाप ही बाधक है, पुण्य नही। अत आस्रव, सवर, निर्जरा, बध, मोक्ष आदि तत्त्वो का विवेचन पाप को ही लक्ष्य मे रखकर किया गया है। कारण कि प्राणी पाप से, कषाय से ही कर्मो का बध करता है, ससार को बढ़ाता है व ससार मे परिभ्रमण करता हें। अत पाप ही हेय व त्याज्य है, पाप के क्षय से ही वीतरागता व मुक्ति की उपलब्धि सभव है।

पाप का अवरोध व निरोध होने पर पुण्य स्वत होता है। प्राणी पाप मे जितनी कमी करता है, उतनी ही पुण्य में वृद्धि होती है। अशुभ योग पाप है, जिससे पाप का आश्रव व बध होता है। अशुभ योग में कमी होने से शुभ योग होता है। जिससे अशुभ योग जन्य पापकर्मों के आश्रव का निरोध होता है नवीन पापकर्मो का बध रुकता है तथा पूर्व मे बधे पाप कर्मो का क्षय होता है। जैसे सातावेदनीय के आस्रव से असातावेदनीय पाप कर्म का, उच्च गोत्र से नीच गोत्र पाप कर्म का, शुभ नाम कर्म से अशुभ नाम कर्म की पाप प्रकृतियो के आस्रव का निरोध नियम से होता है तथा पूर्व मे बधी हुई इनकी पाप प्रकृतियों के स्थिति व अनुभाग का घात भी होता है। इस प्रकार पुण्य के आश्रव से पाप कर्मो के आश्रवो का निरोध तथा पूर्व बधे पाप कर्मों का क्षय होता है। जिससे

आत्मा मुक्ति के पथ पर आगे बढ़ती हे। इस प्रकार पाप के आश्रव के निरोध का हेतु होने से शुभ योग को सवर कहा है। शुभ योग से पाप कर्मो के आस्रव का निरोध तो होता ही है, साथ ही घाती कर्मो का क्षय भी होता है। यथा-

गरहणयाए ण अपुरक्कार जणयइ। अपुरक्कारगए ण जीवे अपसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ। पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ। उत्तरा अ २९ सूत्र ७। साधक गर्हणा से अपुरस्कार आत्म-नम्रता पाता है। आत्म-नम्रता से अप्रशस्त योगों से निवृत्त होकर प्रशस्त योगों को प्राप्त करता है। प्रशस्त योगो को प्राप्त अनगार ज्ञानावरणादि घाती कर्मो का क्षय करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन मे तिहत्तर बोलो की पृच्छा की गई है। इनमे से साधना की प्रत्येक क्रिया से पुराने पाप कर्मों का क्षय, नवीन पाप कर्मों के बध का निरोध एव पुण्य कर्मो के उपार्जन होना कहा गया है। यहा इस सातवे बोल मे भी कहा गया है कि गर्हा से अप्रशस्त योगो से निवृत्त होता है और प्रशस्त योगो मे प्रवृत्त होता है। तथा शुभ योगो से घाती कर्मो का क्षय होता है। घाती कर्मों का क्षय होने से पूर्ण निर्दोषता आती है जिससे केवल ज्ञान, केवल दर्शन, क्षायिक चारित्र आदि समस्त आत्मिक गुणो की उपलब्धि होती है और साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उपर्युक्त भगवद् वचन से स्पष्ट है कि शुभ योग से अघाती पाप कर्म ही नही घाती कर्म भी क्षय होते है एव मुक्ति की प्राप्ति होती है।

पाणिवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण परिग्गहा विरओ।
राईभोयण विरओ, जीवो भवइ अणासवो ॥ उत्तरा अ ३० गाथा २

प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह एव रात्रि-भोजन से विरत जीव अनाश्रव (आश्रव रहित) होता है। इस गाथा मे अनाश्रव होने अर्थात् सवर के लिए पाप के त्याग को ही ग्रहण किया गया है, पुण्य को नही।

"एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तण।
असजमे नियत्तिं च, सजमे य पवत्तण ॥ उत्तरा ३१ २

साधक एक ओर से विरति - निवृत्ति करे और एक ओर प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्ति व सयम मे प्रवृत्ति करे। इस दूसरी गाथा में पाप प्रवृत्ति का ही निषेध है और सद् प्रवृत्ति करने का आदेश है।

रागद्दोसे य दो पावे, पाव कम्मपवत्तेण।
जे भिक्खू रुम्भइ निच्च, से न अच्छइ मडले॥ उत्तरा. अ. ३१ गाथा ३

पाप कर्म मे प्रवृत्ति कराने वाले राग और द्वेष ये पाप हैं जो भिक्षु इन्हें रोकता

है, वह ससार सागर मे परिभ्रमण नही करता है।

तात्पर्य यह है कि जैनागम मे सवर तत्त्व मे, अनास्रव मे केवल पाप के आस्रव के निरोध को ही स्थान दिया गया है, पुण्य के आस्रव के निरोध को कही भी स्थान नही दिया है। प्रत्युत् पुण्य के आस्रव के निरोध को सवर मे ग्रहण नही किया है। कारण कि सकषायी जीवों के पुण्य के आस्रव का निरोध होने पर पाप का आस्रव (पाप कर्मों के दलिकों में वृद्धि) नियम से होता है। पुण्य के आस्रव-निरोध का प्रयास करना पाप के आस्रव को आह्वान करना व आमत्रण देना है।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के इकतीसवे अध्ययन 'चरण विधि' में इक्कीस गाथाओ में एक से लेकर तेतीस बोल ससार-परिभ्रमण से मुक्त होने के दिये है इन सब मे पाप प्रवृत्तियों का ही निषेध किया गया है पुण्य का निषेध कही भी नही किया गया है। उत्तराध्ययन के बत्तीसवें 'प्रमाद स्थान' अध्ययन मे एक सौ ग्यारह गाथाओ मे विषय, कषाय राग, द्वेष, मोह, तृष्णा आदि पापो के त्याग को ही सब दु खों से मुक्ति पाने का उपाय बताया है । कही पर भी पुण्य को त्याज्य नही कहा है।

एदे दहप्पयारा पावकम्मस्स णासया भणिया।
पुण्णस्स य सजणया, पर पुणत्थ ण कायव्वा ।।कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०

धर्म के दस भेद पाप कर्म का नाश करने वाले तथा पुण्य कर्म का उपार्जन करने वाले कहे है परन्तु इन्हे पुण्य के लिए नही करना चाहिए। इससे स्पष्ट है क्षमा, सरलता आदि धर्मो से पाप कर्मों का ही क्षय होता है। पुण्य कर्मों का क्षय नही होता है, अपितु इनसे पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है।

'विशुद्धि - सक्लेशाङ्ग' चेत् स्व-परस्थ सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद व्यर्थस्तवार्हत. ।।**देवागम कारिका, ९५**

आचार्य श्री समन्तभद्र के मत में सुख दु ख अपने को हो या दूसरे को हो, वह यदि विशुद्धि का अग हो तो पुण्याश्रव का और सक्लेश का अग हो तो पापाश्रव का हेतु है। यदि वह दोनो मे से किसी का भी अग नही है तो वह व्यर्थ है, निष्फल है।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो सो पुण्णो ।। **मूलाचार, २३४**

सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति, कषायनिग्रह रूप गुणो से परिणत आत्मा पुण्य स्वरूप है। जैनागम मे सम्यक्त्व, विरति, कषाय निग्रह आदि गुणो को जीव का स्वभाव व सवर कहा है। अत जहाँ सवर है वहाँ पुण्य है। अत सवर पाप

के निरोध व क्षय का ही हेतु है, पुण्य का नही।

शुभ योग मोक्ष रूपी फल को प्रदान करने वाला है। जैसा कि कहा है—

प्रतिवर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलदेषु।
नि:शल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेय प्रतिक्रमणम्॥-आवश्यक सूत्र

प्रतिक्रमण का स्वरूप बतलाते हुए इस श्लोक मे कहा गया है कि शल्य रहित मुनि का मोक्ष फल को प्रदान करने वाले शुभयोगो मे उत्तरोत्तर वर्तन करना प्रतिक्रमण है। यहाँ भी शुभयोग को मोक्ष रूपी फल प्रदान करने वाला कहा गया है।

निर्जरा तत्त्व

निर्जरा पाप की ही इष्ट है

कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते है। कर्मो का क्षय तप से होता है। तप के अनशन आदि बारह भेद है। तप से आत्मा पवित्र होती है, जिससे पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है और उनके अनुभाग मे वृद्धि होती है। पाप कर्मो का विशेषत घाती कर्मो के अनुभाग व स्थिति का क्षय होता है। जिससे आत्म-गुण प्रकट होते है। अत निर्जरा तत्त्व मे पाप कर्मों की निर्जरा ही इष्ट है, पुण्य कर्मो की निर्जरा नही। कारण कि तप से पुण्य कर्मो की ३२ प्रकृतियो का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है, फिर यह अनुभाग चौदहवे अयोगी केवली गुणस्थान के अतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है। किसी भी साधना से क्षीण नही होता है अर्थात् उसकी निर्जरा नही होती है।

इसी प्रकार निर्जरा तत्त्व को **तवसा निज्जरिज्जइ** (उत्तरा ३०/६) (तपसा निर्जरा च। तत्त्वार्थ ९/३)

अर्थात् तप से निर्जरा होती है। तप के १२ भेद है—१ अनशन २ उनोदरी ३ भिक्षाचर्या ४ रसपरित्याग ५ कायक्लेश ६ प्रतिसलीनता ७ प्रायश्चित्त ८ विनय ९ वैयावृत्य १० ध्यान ११ स्वाध्याय १२ व्युत्सर्ग। (भगवती शतक २५ उ ७, उत्तराध्ययन-३० गाथा ८ ३ तत्त्वार्थ सूत्र ९/१९ २०)

तप के बारह भेदो मे से किसी से भी पुण्य कर्म का क्षय नही होता है प्रत्युत् पुण्य का उपार्जन ही होता है। तप के बारह भेदो मे स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि तपो का विशेष महत्त्व है। इन सबसे पाप कर्मो का क्षय होता है, परन्तु पुण्य कर्मों का क्षय न होकर उपार्जन होता है यथा —उत्तराध्ययन सूत्र अ अध्ययन २९ पृच्छा २८ - स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है।

पृच्छा २० - प्रतिपृच्छना से काक्षा मोहनीय कर्म का नाश होता है।

पृच्छा २२ - साधक अनुप्रेक्षा से सात कर्मो की पाप प्रकृतियों के गाढ बन्धनो को शिथिल बध, दीर्घ स्थिति बध को अल्प स्थिति बध, तीव्र अनुभाग को मन्द अनुभाग, बहुप्रदेशी को अल्प प्रदेशी करता है।

पृच्छा २३- धर्मकथा से भविष्य काल के लिए शुभ (पुण्य) कर्मों का बध करता है।

पृच्छा ४॰ - वैयावृत्त्य से तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म का बध करता है।

पृच्छा १२ - कायोत्सर्ग से आत्म-विशुद्धि व शुभ ध्यान करता हुआ सुख से विचरता है।

काय-गुत्तयाए ण सवर जणयइ। संवरेण कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करइ। उत्तरा अ २९ बोल ५५। काय गुप्ति में सवर होता है और फिर सवर से पाप के आश्रव का निरोध होता है। यहा सवर से पाप के आस्रव का निरोध होना बताया है, पुण्य के आस्रव का नही।

जोग सच्चेण जोगं विसोहई ॥ –उत्तरा अ २९ बोल-५२

सत्य योग से योग (मन - वचन - काया की प्रवृत्ति) की विशुद्धि होती है।

धम्मकहाए ण निज्जर जणयइ। धम्मकहाए णं पवयण पभावेइ।
पवयण - पभावेण जीवे आगमिस्स भद्दताए कम्म निबधइ ॥
– उत्तरा अ २९ बोल २३

धर्म कथा से जीव के कर्मो की निर्जरा होती है, धर्म कथा से जीव प्रवचन की प्रभावना करता है। प्रवचन की प्रभावना से आगामी काल के भद्रता वाले अर्थात् भविष्य मे शुभ फल दायक पुण्य कर्मो का उपार्जन करता है।

धर्म कथा धर्म ध्यान की तृतीय भावना है। इससे कर्मो की निर्जरा होती है, स्थिति का क्षय होता है और शुभ कर्मो का उपार्जन (आस्रव) होता है। पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती है।

जहा उ पावग कम्म रागदोससमज्जिय।
खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥उत्तरा अध्य ३० १

भिक्षु राग-द्वेष से उपार्जित पाप कर्म का क्षय तप से जिस प्रकार करता ह उसे एकाग्रचित्त होकर सुनो-

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिचणाए तवणाए, कमेण सोसणाभवे ॥
एव तु सजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भव कोडि-सचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥–उत्तरा ३० ५-६

जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के जल के आने को रोक देने पर उलीचने

एव तपने से पहले का जल सूख जाता है, इसी प्रकार सयमी साधु के भी पाप कर्मों का आश्रव रुक जाने पर तप से करोड़ो भवों के कर्म निर्जरित-क्षीण हो जाते है। इन गाथाओ में तप से पाप कर्मों के क्षय व पापाश्रव के निरोध का ही प्रतिपादन किया गया है, पुण्यास्रव के निरोध का नही।

"तवसा धुणइ पुराणपावग, जुत्तो सया तवसमाहिए।"

दशवैकालिक सूत्र अ ९, उ४ गाथा ४

समाधि से युक्त साधक तप से पुराने पाप कर्मो का क्षय कर देता है।

खवेंति अप्पाणममोहदसिणो, तवे रया सजम-अज्जवे-गुणे।
धुणंति पावाइ पुरे कडाइ, णवाइ पावाइ ण ते करेंति॥

-दशवैकालिक सूत्र अ ६, गा ६८

मोह रहित होने मे, सयम मे, आर्जव, मार्दव आदि गुणो मे और तप मे रत साधु पूर्वकृत पाप कर्मो को क्षय करता है व नवीन पाप कर्मों का बध नही करता है। इस प्रकार साधक अपने अशुभ कर्मो का क्षय कर देते है।

उपर्युक्त गाथा मे सयम से, आर्जव आदि गुणो से अर्थात् कषाय की कमी से तथा तप से केवल पुराने पाप-कर्मो का क्षय एव नये पाप कर्मो का बध नही होना कहा गया है। यदि इनसे "पुण्य कर्मो का भी क्षय होना तथा पुण्य कर्मो का नया बध नही होना", गाथाकार को इष्ट होता तो कर्म शब्द के पहले पाप विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नही होती।

ऊपर निर्जरा तत्त्व मे तप के १२ भेद कहे गये है। इनसे पाप कर्मो की ही निर्जरा होती है पुण्य कर्मो की निर्जरा नही होती है, अपितु पुण्य कर्मो का प्रदेश व अनुभाग बढ़ता है। यदि निर्जरा तत्त्व मे पुण्य कर्मो की निर्जरा भी इष्ट होती तो पुण्य कर्मो की निर्जरा पाप प्रवृत्तियो से होती है, अत पुण्य कर्मो की निर्जरा के हेतु प्राणातिपात आदि १८ पापों को निर्जरा तत्त्व मे स्थान दिया जाता। लेकिन ऐसा नही किया गया। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि निर्जरा तत्त्व मे पुण्य कर्मो की निर्जरा को स्थान नही दिया गया है।

बध तत्त्व

बध चार प्रकार का है। इनमे से प्रकृति और प्रदेश बध योग से तथा स्थिति और अनुभाग बध कषाय से होता है। जैसा कि कहा है—**जोगा पयडिपएस ठिइअणुभाग कसायाउ** ॥९६॥ पचम कर्म ग्रथ, गोम्मटसार कर्म काण्ड गाथा २५७, इन चार प्रकार के अधनो का विवेचन पहले कर आए है। इनमे महत्त्व अनुभाग का है कारण कि कर्म का फल उसके अनुभाग से मिलता है स्थिति बध और प्रदेश बध से नही। प्रदेश बध किसी भी कर्म का कितना ही

न्यूनाधिक हो उसका अनुभाग पर कुछ भी प्रभाव नही पड़ता है। यहाँ 'अणुभाग कसायाउ' सूत्र कहा गया है, यह सूत्र भी पाप कर्मों पर ही लागू होता है पुण्य कर्मों पर नही। कारण कि कषाय से पाप कर्मों के अनुभाग मे वृद्धि होती है और पुण्य कर्मो के अनुभाग में कषाय से वृद्धि नही होती अपितु क्षति होती है। पुण्य कर्मों के अनुभाग मे वृद्धि कषाय से नही होकर कषाय की कमी से होती है।

कषाय का सपूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी मे होता है। अत वहाँ विद्यमान पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। यह उत्कृष्ट अनुभाग मुक्ति प्राप्ति के समय तक ज्यों का त्यो विद्यमान रहता है, केवलिसमुद्घात की साधना से भी इसका क्षय नही होता है। कारण कि पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का क्षय सक्लेश भाव से ही होता है और किसी भी हेतु से नही होता है जो केवली के यथाख्यात चारित्र मे सभव नही है। समस्त साधनाआ से पुण्य का अनुभाग बढ़ता ही है, घटता नही।

मोक्ष तत्त्व

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग - तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय १ सूत्र १। अर्थात्-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के मिलने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनमे जो बाधक है वे ही मोक्ष की प्राप्ति में बाधक है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे मिथ्यात्व बाधक है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मे अज्ञान बाधक है और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति मे अनतानुबधी, अप्रत्याख्यान आदि कषाय बाधक है, ये सब बाधक कारण मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं अर्थात् मोक्ष मार्ग मे बाधक कारण पाप प्रकृतियाँ व पाप प्रवृत्तिया है। पुण्य प्रकृतियाँ व शुभ योग नही है। अपितु मनुष्यगति, पचेन्द्रिय जाति आदि पुण्य प्रकृतियो के उदय के अभाव मे मोक्ष मार्ग की साधना ही सभव नही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा पवित्र होती है, जिससे शुभ योग मे एव पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग में वृद्धि होती है। अत साधक मोक्ष मार्ग मे जितना बढ़ता जाता है उतनी ही उसके पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती जाती है। प्रथम तो जब तक पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढकर चतु स्थानिक नही हो जाता तब तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नही हो सकता और फिर यही चतु स्थानिक अनुभाग बढकर उत्कृष्ट हो जाता है तब ही केवलज्ञान होता है। पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग के अनुत्कृष्ट रहते क्षायिक चारित्र व केवलज्ञान नही होता है। अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष मार्ग

म पुण्य कहीं भी बाधक नही ह, अपितु सहायक ह।

अत पुण्य कर्म के सवर, निर्जरा व क्षय करने की मुक्ति-प्राप्ति म किंचित् भी अपेक्षा नही ह। इसीलिये पुण्य कर्म को आस्रव सवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्व के किसी भी भेद प्रभेद म स्थान नहीं दिया गया ह। जीव के लिये पाप तत्त्व पापास्रव, पाप प्रवृत्ति, पाप कर्म का बध ही अहितकर ह। अत साधना म पाप के सवर, निर्जरा व क्षय को ही स्थान दिया गया ह।

उपर्युक्त तथ्य महर्षि श्री जिनभद्रगणी विरचित एव श्री हरिभद्रसूरि द्वारा टीका कृत 'ध्यान शतक ग्रथ मे वर्णित धर्म ध्यान आर शुक्ल ध्यान के फल से भी स्पष्ट प्रकट होता ह यथा

होति सुहासव - सवर विणिज्जराऽमर सुहाइ विउलाइ।
झाणवरस्स फलाइ सुहाणुबधीणि धम्मस्स ॥९३।

(धवला पु १३ गाथा५६)

ते य विससेण सुभासवादआऽणुत्तरामरसुह च।
दाण्ह सुक्काण फल परिनिव्वाण परिल्लाण ॥९४॥
आसवदारा ससारहेयवा ज ण धम्म - सुक्केसु ।
ससारकारणाइ तओ धुवा धम्मसुक्काइ ॥९५॥
सवर - विणिज्जराओ मोक्खस्स पहा तवो तासि।
झाण च पहाणग तवस्स तो मोक्खहेउय ॥९६॥

अर्थात - उत्तम धर्मध्यान से शुभास्रव (पुण्य कर्मो का आगमन), सवर (पापास्रव का पाप कर्मो का निरोध) निर्जरा (सचित कर्मो का क्षय) तथा अमर (देव) सुख मिलत ह। एव शुभानुबधी (पुण्यानुबधी) विपुल फल मिलत ह ॥९३॥

धर्मध्यान के फल शुभास्रव, सवर, निर्जरा आर अमरसुख इनम विशष रूप म उत्तरोत्तर वृद्धि होना प्रारभ क दो शुक्ल ध्यान (पृथक्त्व वितर्क सविचार आर एकत्व वितर्क अविचार) का भी फल ह। अतिम दो शुक्ल ध्यान सूक्ष्मक्रिय अनिवर्ति आर व्युपरतक्रिय अप्रतिपाति का फल मोक्ष की प्राप्ति ह ॥९४॥

जो मिथ्यात्व आदि आस्रवद्वार ससार के कारण है वे चूकि धर्म ध्यान आर शुक्ल ध्यान म सभव नही ह। इसलिये यह ध्रुव नियम ह कि ये ध्यान नियमत ससार के कारण नही है, किन्तु सवर आर निर्जरा ये मोक्ष के मार्ग ह। उनका पथ तप ह आर उस तप का प्रधान अग ध्यान ह। अत ध्यान मोक्ष का हेतु ह ॥९५-९६॥

गाथा ९३-९४ म बताया गया ह कि धर्म ध्यान म शुभास्रव (पुण्यास्रव)

सवर (पापास्रव का निरोध), निर्जरा (कर्मो का क्षय) अमर (अविनाशी-देव) सुख एव शुभानुबध (पुण्यानुबध) कहा है। टीका मे शलेशी अवस्था तथा अपवर्ग (मोक्ष) का अनुबध कहा है। इससे यह फलित होता है कि धर्मध्यान पुण्य, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध व मोक्ष इन सब तत्त्वो व रूपो मे है।

सवर, निर्जरा, बध व मोक्ष तत्त्व का वर्णन पाप कर्मो को दृष्टि मे रखकर ही किया गया है पुण्य कर्मो को नही, क्योकि पुण्य कर्मो का आस्रव व अनुबध आत्म विशुद्धि मे होता है।

जो कार्य धर्म-ध्यान मे होते है, वे ही कार्य विशुद्धि भाव रूप चढते विचार से पुण्य तत्त्व से भी होते है, उदाहरणार्थ पुण्य से अनादेय अयश कीर्ति, नीच गोत्र आदि पाप कर्म प्रकृतियो का निरोध सवर होता है, आदेय आदि पुण्य कर्म प्रकृतियो का आस्रव होता है, स्थिति बन्ध का अपवर्तन होने से पाप कर्मो का क्षय-निर्जरा होती है। पुण्य कर्म प्रकृति का अनुभाग बध होता है व पाप कर्मो का पुण्य कर्मो मे सक्रमण होता है जिससे पुण्य कर्मो मे वृद्धि होती है।

पुण्य तत्त्व के फल मे पुण्य कर्म प्रकृतिया के स्थिति बन्ध का क्षय होता है और अनुभाग बन्ध मे वृद्धि होती है। इस प्रकार पुण्य कर्म का क्षय व बन्ध दोनो होते है। इन सबका कथन युगपत् अवक्तव्य है। क्रम से यथा प्रसग ही सभव है। प्रत्येक स्थल पर कैसे सभव है?

धवला टीका पुस्तक १३ गाथा २६ पृष्ठ ६८ मे धर्मध्यान की चार भावनाए है—(१) ज्ञानभावना (२) दर्शनभावना (३) चारित्रभावना और (४) वैराग्यभावना। इनमे से चारित्र भावना के स्वरूप व गुण के विषय मे कहा गया है -

नव कम्माणायाण पोराणविणिज्जर सुभायाण।
चारित्तभावणाए झाणमयत्तेण य समइ ॥ध्यान शतक धवल पु १३ गाथा २६

अर्थ - चारित्रभावना से नवीन कर्मो के ग्रहण का अभाव, पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा, शुभ (पुण्य) कर्मो का ग्रहण (आदान) और ध्यान, ये बिना किसी प्रयत्न के (स्वत) होते है।

पापाचरण (सावद्ययोग) की निवृत्ति को चारित्र कहा है। इसके ग्रहण का नाम चारित्र भावना है। इस भावना से वर्तमान मे आते हुए ज्ञानावरणादि पाप कर्मो का निरोध और पूर्वोपार्जित इन्ही पाप कर्मो की निर्जरा होती है। तथा पुण्य कर्म प्रकृतिया का ग्रहण व ध्यान की उपलब्धि, ये सब अनायास (स्वत) होते है।

यहाँ चारित्र भावना से नवीन कर्मो का अनादान पाप कर्मो का ही कहा गया

है ; शुभ (पुण्य) कर्मो का नही कहा है क्योकि यहा बल्कि पुण्य कर्मो का आदान ग्रहण होना कहा है ।

विवेचन - ध्यान के अतिप्राचीन एव प्रामाणिक ध्यान शतक ग्रन्थ के रचनाकार जैन जगत के विख्यात महर्षि श्री जिनभद्रसूरिक्षमाश्रमण एव वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरी हैं। जैन धर्म की दोनो सम्प्रदायो में इस ग्रथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रथ की उपर्युक्त गाथाओ से निम्नाकित तथ्य प्रकट होते है।

गाथा ९३-९४ में श्रेष्ठध्यान - धर्मध्यान का प्रतिपादन करते हुये कहा है कि धर्मध्यान से (१) आश्रव (२) सवर (३) निर्जरा (४) बध और (५) देवसुख होता है और गाथा ९६ मे इसे मोक्ष का हेतु भी कहा है। पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान जो उपशम कषाय वाले साधु के होता है तथा एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान जो क्षपक कषाय वाले साधु के होता है। इन दोनों शुक्लध्यानो का फल भी धर्मध्यान से होने वाले आश्रव सवर, निर्जरा व मोक्ष का होना कहा है।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि आश्रव और सवर दोनों परस्पर मे विरोधी है तथा निर्जरा और बध ये दोनो भी परस्पर मे विरोधी है। इन विरोधियों का धर्मध्यान व शुक्लध्यान मे एक साथ होना कहा गया है, यह कैसे सभव है ? **समाधान** - यहाँ आस्रव व बध मे शुभास्रव और शुभानुबध को ही लिया गया है, अशुभ (पाप) आस्रव और अशुभ (पाप) अनुबध को नही लिया गया है। इसी प्रकार सवर और निर्जरा मे पाप के सवर और पाप कर्मों की निर्जरा को ही लिया गया है, शुभ कर्मो के सवर व निर्जरा को नही लिया गया है। कारण कि धर्म ध्यान आदि समस्त साधनाओ से आत्म-विशुद्धि होती है, आत्मा पवित्र होती है जिससे पुण्य का आस्रव तथा पुण्य का अनुबध होता है। जिस समय जिस पुण्य कर्म प्रकृति का आस्रव व अनुबध होता है उस समय उसकी विरोधिनी पाप कर्म प्रकृति के आस्रव का निरोध-सवर हो जाता है तथा पाप प्रकृतियों की निर्जरा (क्षय) होती है। पुण्य का आस्रव चार अघाती कर्मो का ही होता है। इनमे से आयु कर्म को छोडकर शेष वेदनीय, गोत्र व नाम कर्म, कर्म की प्रकृतियो मे शुभ अथवा अशुभ दोनो मे से किसी एक का आस्रव व बध निरतर होता रहता है। अत जब सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ गति, व आनुपूर्वी, पचेन्द्रिय जाति, वज्रऋषभनाराच सघयण, समचतुरस्र सस्थान, शुभ वर्ण-गध-रस-स्पर्श, शुभविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, आदेय और यशकीर्ति इन पुण्य प्रकृतियो में से जिनका आस्रव व

अनुबध होता है तब इनकी विरोधिनी पाप कर्म प्रकृतियाँ असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ गति व आनुपूर्वी अशुभ सघयण-सस्थान वर्ण-गध-रस-स्पर्श, अशुभ विहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अशुभ अस्थिर, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति के आस्रव का निरोध-सवर हो जाता है, बध रुक जाता है तथा सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन रूप क्षय (निर्जरा) होता है। अत समस्त साधनाओं से होने वाली आत्म विशुद्धि से शुभास्रव-शुभानुबध होता है और अशुभ (पाप) प्रकृतियों की सवर व निर्जरा होती है। अत साधक के लिये पाप प्रकृतियो का सवर व इनकी निर्जरा ही इष्ट है, जब आत्म-विशुद्धि से पाप प्रकृतियो का सवर व निर्जरा होती है तब पुण्य प्रकृतियो का आस्रव व अनुबध स्वत ही होता है।

अत पुण्यास्रव का निरोध व पुण्य कर्मों के अनुभाग के अनुबध का क्षय व निर्जरा किसी भी साधक के लिये अपेक्षित नही है और न किसी भी साधना से सभव ही है। प्रत्येक साधना से पुण्यास्रव व पुण्यानुबध में वृद्धि ही होती है। इसलिये पुण्य के आश्रव के निरोध को सवर मे और पुण्य कर्मों के अनुभाग बध के क्षय को निर्जरा मे ग्रहण नही किया है, क्योंकि पुण्यकर्म का सवर और अनुभाग की निर्जरा सयम, तप, त्याग आदि साधन से सभव नही है। यही तथ्य उपर्युक्त गाथा ९५ से प्रकट होता है। गाथा ९३-९४ मे तो कहा है कि धर्म ध्यान-शुक्ल ध्यान से शुभास्रव होता है और इसकी अगली गाथा मे यह कह दिया गया कि आश्रव द्वार ससार के कारण है इसलिये धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान से नही होते है। इससे यह स्पष्ट है कि आगम मे आस्रव द्वार उन्ही को कहा है जो ससार वृद्धि के हेतु हैं। शुभास्रव (पुण्यास्रव) ससार वृद्धि का हेतु नही है अपितु ससार क्षय का सूचक है, इसलिये इसके निरोध को सवर के किसी भी भेद मे स्थान नही दिया है अत पुण्य के आस्रव को ससार का हेतु मानना आगम व कर्म सिद्धान्त के विपरीत है। साधना के क्षेत्र मे केवल पाप के आश्रव के निरोध को और निर्जरा मे पाप कर्मो के क्षय को ही ग्रहण किया है।

ध्यान सब तपो मे प्रधान तप है, कर्मों की निर्जरा का मुख्य हेतु है। इससे पुण्य का आश्रव होता है पुण्यकर्म का निरोध (सवर) व पुण्य के फल की निर्जरा नही होती है। पुण्य का आस्रव व पुण्य कर्म का शुभानुबध ये आत्म-विशुद्धि से ही होते हैं। अत उपर्युक्त गाथाओं मे इन्हे धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का फल कहा है। इनको त्याज्य व हेय नही बताया है। केवल पाप के आस्रव के निरोध

का सवर और पाप कर्म के क्षय का निर्जरा व मोक्ष तत्त्व मे समाहित किया है।

शुक्ल ध्यान के आलबन

> **अह खति मद्दवऽज्जवमुत्तीओ जिणमदप्पहाणाओ।**
> **आलबणाई जेहि सुक्कज्झाण समारुहइ** ॥ ध्यान शतक ६९, धवलटीका पुस्तक १३ गाथा ६४ पृष्ठ ८०।

अर्थ - क्षमा, मार्दव आर्जव और मुक्ति ये जिनमत मे ध्यान के प्रधान आलबन या अग कहे गये है। इन आलबना का सहारा लेकर ध्याता शुक्ल ध्यान पर आरूढ होता है। इसी लेख मे पहले तत्त्वार्थ सूत्र एव भगवती सूत्र के उद्धरणो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया गया है कि क्षमा से सातावेदनीय, मार्दव से उच्च गोत्र, आर्जव से शुभ नाम कर्म और मुक्ति से शुभ आयु का शुभास्रव व शुभानुबध होता है और इन्ही गुणो मे शुक्लध्यान होता है। अर्थात् जो शुक्लध्यान के हेतु है वे ही शुभास्रव, पुण्यास्रव के शुभानुबध के भी हेतु है। शुक्ल ध्यान मोक्ष का हेतु है। अत शुभास्रव व शुभानुबध मोक्ष के बाधक नही हो सकते। क्षमा, मार्दव,आर्जव व मुक्ति इन गुणो की उपलब्धि क्रमश क्रोध, मान, माया व लोभ कषाय के क्षय से होती है। अत ये गुण जीव के स्वभाव है, धर्म है, परिणामो की विशुद्धि के द्योतक है, शुद्धोपयोग है और इन गुणो का क्रियात्मक रूप शुभ योग है। अत ये पुण्यास्रव के हेतु है। इससे जयधवल टीका मे प्रतिपादित यह कथन कि शुद्धोपयोग और अनुकपा (शुभ योग) से पुण्यास्रव होता है, पुष्ट होता है। कषाय की हानि या क्षय से ही परिणामो मे शुद्धता तथा योगो मे शुभता आती है जिससे ही पुण्य का आस्रव व अनुबध होता है।

पूर्वोक्त कर्म-सिद्धान्त व तात्त्विक विवेचन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि चार घाती कर्मो की ४७ पाप कर्म प्रकृतियो के बध, उदय व सत्ता- वीतरागता, केवलज्ञान, केवलदर्शन और क्षायिक चारित्र मे बाधक है। पुण्य कर्मो की कोई भी प्रकृति वीतरागता मे, शुक्ल ध्यान मे या मुक्ति मार्ग मे बाधक नही है। कुछ लोग यह मानते है कि पुण्य के आस्रव की हेतु दया, दान, करुणा आदि सद् प्रवृत्तियो का व शुभ योग तथा समिति गुप्ति, सयम, आदि का त्याग किये बिना वीतरागता, क्षायिक चारित्र, केवलज्ञान, केवल दर्शन की उपलब्धि सभव नही है। ऐसी मान्यता नितान्त निराधार है एव कर्म सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान व आगम-विरुद्ध है और मानवता की भी घोर विरोधी है। वास्तविकता तो यह है कि दया, दान, करुणा, अनुकपा, सेवा सरलता, मृदुता आदि सद् प्रवृत्तियो व शुभयोग से तथा

समितिगुप्ति सयम आदि समस्त साधनाओ से पाप कर्मों के आस्रव का निरोध अर्थात् सवर होता है तथा पाप कर्मों का क्षय अर्थात निर्जरा होती है। पाप कर्मों के सवर व निर्जरा से ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। सक्षेप मे कहे तो दोष या पाप से आत्मा अशुद्ध- अपवित्र होती है। दोष या पाप प्राणी के करने से होता है स्वत नही होता है। अत दोष के त्याग से, दोष न करने से आत्मा निर्दोष पवित्र होती है, जिससे पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुबध होता है। आशय यह है कि पुण्य कर्मो का आस्रव व अनुबध निर्दोषता से, पाप के त्याग से स्वत होता है, किया नही जाता है। अत साधक पर पाप के त्याग का ही दायित्व है, पुण्य का नही। पुण्यास्रव व अनुबध पाप के त्याग से होता है। अत पुण्य कर्म मे भी महत्त्व पाप के त्याग का ही है।

राग प्रशस्त नही होता

वर्तमान मे तथाकथित कतिपय अध्यात्मवेत्ताओ का यह कहना है कि देव गुरु व धर्म के प्रति राग होता है यह प्रशस्त व शुभ राग है,इससे पुण्य कर्म का बध होता है। अत यह राग वीतरागता मे मुक्ति मे बाधक है इस राग के त्याग से ही वीतरागता सभव है। इस कथन पर यहा कर्म सिद्धान्त व तत्त्वज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे विचार करते है—

राग मोहनीय कर्म की प्रकृति है। मोहनीय कर्म घाती कर्म है। इसकी सभी प्रकृतियाँ घाती है, आत्मा के गुणो का घात करने वाली है, इसकी कोई भी प्रकृति अघाती नही है। घाती होने से मोहनीय कर्म की समस्त २८ प्रकृतियाँ पाप प्रकृतियाँ है अप्रशस्त व अशुभ है। इसकी कोई भी प्रकृति पुण्य प्रकृति नही है अर्थात् प्रशस्त व शुभ नही है। कर्म सिद्धान्त मे राग को माया व लोभ कषाय के उदय मे होना कहा है और इसे पाप प्रकृतियो मे गिनाया है। राग व कषाय को पापास्रव व बध का हेतु कहा है। राग व कषाय से पाप का आस्रव व बध होता है, राग से पुण्य का आस्रव व अनुबध सभव नही है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि मे राग पाप प्रवृत्ति है। अठारह पापो मे दशवे नबर का पाप राग है। राग को पुण्य तत्त्व मे कही भी स्थान नही दिया गया है। कोई भी पाप कभी भी शुभ - प्रशस्त नही होता है। राग को प्रशस्त व शुभ मानना पाप को पुण्य मानना है, जो भूल है। यदि राग-पाप के शुभ और अशुभ ये दो भेद किये जाये तो फिर क्रोध, मान, माया लोभ प्राणातिपात, मृषावाद आदि समस्त १८ पापो के भी शुभ और अशुभ भेद मानने होंगे अर्थात शुभ मान और अशुभ मान शुभ लोभ और अशुभ लोभ शुभ द्वेष

और अशुभ द्वेष, शुभ क्रोध और अशुभ क्रोध, शुभ हिंसा और अशुभ हिसा भेद स्वीकार करने होंगे, जो अनुचित है। पाप का अर्थ ही है अप्रशस्त, अशुभ। कोई भी पाप कभी भी शुभ व प्रशस्त नही होता है। कम पाप है तो कम अशुभ है, अधिक पाप है तो अधिक अशुभ है। कम और अधिक होना सापेक्ष है, तरतमता के सूचक है। किसी दोष मे तरतमता होने से वह दोष बदलकर गुण नही हो जाता । दोष से आत्मा कभी भी पवित्र नहीं होती है। अत कोई भी दोष पुण्य नही हो सकता। राग को प्रशस्त मानना, उसे आत्मा को पवित्र करने वाला मानना है। जो आत्मा को पवित्र करने वाला है वह कभी भी त्याज्य नही हो सकता। यदि राग को प्रशस्त व शुभ माना जाय तो उसे त्याज्य व हेय नही माना जा सकता। राग से आत्मा कभी भी पवित्र नही होती, अपवित्र होती है। अत राग पाप रूप ही होता है पुण्य रूप नही। राग को शुभ व प्रशस्त मानना कर्म सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान एव युक्ति विरुद्ध है। यथार्थता यह है कि कम दोष शुभ नहीं है। यदि शुभ कम दोष को माना जाय तो शुभ योगधारी सयोगी केवल ज्ञानी के भी दोष मानना होगा, जो अनुचित है। अत कम दोष शुभ नही है, दोष मे कमी होना शुभ है। कारण कि दोष मे जितने अश मे कमी होती है उतने ही अश मे आत्म- गुण प्रकट होता है, जिससे आत्मा मोक्ष के अभिमुख होती है।

राग मे अपने से अभिन्न पदार्थ शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, धन, सपत्ति आदि पर पदार्थो से सुख लेने की इच्छा होती है, राग से आसक्ति उत्पन्न होती है । अत जहाँ पर से सुख का भोग है वहाँ राग है। राग में आसक्ति, स्वार्थपरता, जडता , निर्दयता आदि समस्त दोषो की उत्पत्ति होती है। राग के विपरीत अनुराग होता है। अनुराग प्रीति का रूप है। प्रीति क्रोध कषाय के क्षय से होती है। अत प्रीति आत्मा का गुण है, स्वभाव है, धर्म है। देव, गुरु एव धर्म के प्रति राग नही होता है। अनुराग होता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है। अत धर्म के प्रति अनुराग स्वभाव के प्रति, आत्म-गुणो के प्रति अनुराग है। देव, गुरु के प्रति अनुराग उनके शरीर व व्यक्तित्व के प्रति अनुराग नही है। शरीर और व्यक्ति के प्रति राग होता है वह मोह है। जैन धर्म मे व्यक्ति पूजा को स्थान नहीं है, गुण-पूजा को ही स्थान है। अर्थात् व्यक्ति-पूजा राग है गुण-पूजा अनुराग है व गुरु के प्रति अनुराग का अभिप्राय है देवत्व व गुरुत्व के रूप मे प्रकट होने वाले गुणो के प्रति अनुराग, प्रीति, प्रमोद। दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन ८ गाथा ३८ मे कहा है

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयणासणो। माया मित्ताणि णासेइ - अर्थात् क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का एव माया से मैत्री का नाश होता है। आशय यह है कि प्रीतिभाव, मार्दव व प्रमोद भाव एव मैत्री भाव की अभिव्यक्ति क्रोध, मान व माया कषाय के क्षय से होती है।

इसी प्रकार औपपातिक सूत्र में श्रमणोपासक के अनेक गुणो का वर्णन करते हुये धर्म के प्रति प्रेम और अनुराग को गुण मे ग्रहण किया गया है। मोह या दोष में नही, यथा -

अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता - औप. सूत्र १२४, भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक ५, सूत्र कृताग , द्वितीय श्रुतस्कन्ध द्वितीय अध्ययन, उपासकदैशा, प्रथम अध्ययन । अर्थात् अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रति प्रेम तथा अनुराग से भरे हैं।

इसी प्रकार पूज्य जवाहराचार्य ने भी सम्यक्त्व पराक्रम (जवाहरकिरणावली) मे कहा है - वीतरागदेव, वीतराग धर्म और निर्ग्रन्थ गुरु के प्रति अनुराग रखने से सवेग (सम्यक्त्व के लक्षण की वृद्धि होती है) —पहला बोल पृष्ठ ९७

अभिप्राय यह है कि देव, गुरु और धर्म के प्रति अनुराग गुण है, स्वभाव है, धर्म है, दोष, विभाव व अधर्म नही है और राग मोहनीय पाप कर्म के उदय से होने के कारण अवगुण है, दोष है, विभाव है, अधर्म है, पाप है। राग के, पाप के उदय से पाप का ही आस्रव व बध होता है, पुण्य का आस्रव नही हो सकता। अत देव, गुरु, धर्म के प्रति अनुराग को राग मानना, गुण को दोष, धर्म को अधर्म, स्वभाव को विभाव मानना है, जो भयकर भूल है। राग दोष है, मोह है। दोष कभी शुभ व प्रशस्त होता ही नही है। अत राग कभी शुभ होता ही नही है। अत राग शब्द के शुभ विशेषण लगाना ही उचित नही लगता है। शुभ योग या प्रशस्त योग राग मे कमी होने से होता है राग से नही। यदि शुभ योग राग से होता तो शुभ योग के रहते कोई वीतराग हो ही नही सकता। परन्तु वीतराग के शुभ योग का सद्भाव सदा रहता है। अत शुभ व प्रशस्त योग को राग मानना अनुचित है।कारण कि राग से पाप रूप ही फल मिलता है, पुण्य रूप नही। जैसा कि कहा है -

जह रागेण कडाण कम्माण पावगो फलविवागो।- औपपातिक सूत्र, ५६ अर्थात् राग पूर्वक किए गए कर्मो का विपाक (फल) पापरूप ही होता है।

शुभ योग से शुभास्रव व शुभानुबध होता है। अत वीतराग के भी धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान मे शुभ योग से शुभास्रव व शुभानुबध होता है। परन्तु शुभ योग कषाय की कमी से होता है। अत शुभ योग, पुण्यास्रव , पुण्यानुबध

आर कषाय का क्षय इन सत्रम विशष महत्त्वपूर्ण कषाय का क्षय कमा या कषाय का त्याग ह । साधक का हित विषय, कषाय, राग, द्वष आदि दाषा क त्याग म ही ह । दोषो के त्याग से ही आत्म-विकास होता है, आत्मा के गुण प्रकट होते ह । पुण्यास्त्रव पुण्य बध पुण्य कर्म के उदय से मिली सामग्री से स्वत जीव का कोई गुण प्रकट नही होता । जीव के पुण्योदय से प्राप्त सामग्री मन, वचन, काया, इन्द्रिय, आदि का सदुपयोग दया, दान, सेवा आदि सद् प्रवृत्तियो मे करने से दुष्प्रवृत्तियो, पापास्त्रव एव दोषो का निरोध होता है, कषायो का क्षय होता है जिससे आत्म-गुण प्रकट होते ह । अत पुण्योदय से प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य व योग्यता के सदुपयोग का महत्त्व है, सामग्री का नही । कारण कि मन, मस्तिष्क, शरीर, इन्द्रिय आदि सामग्री का उपयोग कामना, ममता, अहत्व-सग्रह, परिग्रह, भोग वासना, भोग-भोगना, सघर्ष, युद्ध, शोषण, सम्मान मान, माया आदि में करे तो पाप का उदय ह एव पापास्त्रव, पापबध, कषाय वृद्धि एव आत्म पतन का हेतु है । इस प्रकार पुण्य से प्राप्त सामग्री का सदुपयोग आत्म-विकास का एव दुरुपयोग आत्म-हनन का हेतु हे । अत पुण्य मे प्राप्त सामग्री का सदुपयोग सद् प्रवृत्तियो मे करना मुक्ति मे सहायक हे । यह सदुपयोग व सद्प्रवृत्तिया साधन हे साध्य नही । साधन को साध्य मान लेना, इसे ही सर्वस्व समझ लेना भूल है मुक्ति के मार्ग म अटकाव ह । साधक का साध्य पूर्ण निर्दोषता एव वीतरागता प्राप्त करना ह । अत साधक को सद् प्रवृत्तिया के साथ रहे हुए कर्तृत्व व भोक्तृत्व का त्याग करना ह । दुष्प्रवृत्तियो के त्याग से स्वत होने वाले शुभ याग को ही विशेष महत्त्व देना ह ।

उपसहार

जन दर्शन म कर्म सिद्धान्त का उद्देश्य जीव की कर्मजन्य विविध अवस्थाआ का यथातथ्य वर्णन करना है ओर तत्त्वज्ञान का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति को लक्ष्य मे रखकर आत्म-विकास व साधनाओ का वर्णन करना ह । कर्म मुख्यत दो प्रकार के है शुभ ओर अशुभ । शुभ कर्म वे है जो जीव के लिये हितकर, कल्याणकारी, मगलकारी है, आत्मा को पवित्र करने वाले है, जो जीव के किसी भी गुण का घात करने वाले नही है । इन्हे पुण्य कर्म कहा गया ह और अशुभ कर्म वे है जो आत्मा का पतन करने वाले है, अहितकर है, इन्हे पाप कर्म कहा गया ह । पाप कर्म आत्मा के गुणो का घात करने वाले है ओर मुक्ति म बाधक हे । अत पाप कर्मो को आधार बनाकर ही आस्त्रव, सवर, निर्जरा, बध व मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया गया हे । इन तत्त्वा मे पुण्य को ग्रहण नहीं किया गया

है। कारण कि पुण्य से आत्मा पवित्र होती है मुक्ति की ओर बढ़ती है, पुण्य मुक्ति में सहायक है बाधक व घातक नहीं है। अत परिणामों की विशुद्धि रूप पुण्य तत्त्व से उपार्जित पुण्य कर्मों का आस्रव व अनुभाग जीव के किसी भी गुण का घातक नहीं है। समस्त पुण्य कर्म प्रकृतियां पूर्णरूपेण अघाती हैं लेश मात्र भी अहितकर नहीं हैं अत मुक्ति प्राप्ति के लिये इनके सवर, निर्जरा व क्षय की आवश्यकता ही नहीं है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सयम, त्याग, तप, आदि किसी भी साधना से पुण्य के आस्रव का निरोध व अनुभाग का क्षय नहीं होता है, अपितु वृद्धि होती है। अत मुक्ति प्राप्ति के अतिम क्षण तक इनकी सत्ता व उदय रहता है तथा इनका अनुभाग उत्कृष्ट व अक्षुण्ण रहता है। निर्वाण प्राप्ति के समय जब देह का अवसान होता है तब इनका भी स्वत अवसान हो जाता है। अत यह मान्यता कि "पुण्य कर्म साधना मे, वीतरागता मे, आत्म विकास मे, बाधक है, इसलिए हेय व त्याज्य है " तथ्य हीन है, निराधार है तथा कर्म-सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान, युक्ति और आगम के विरुद्ध है।

जैन दर्शन मे तत्त्व का निरूपण पाप कर्मों को ही लक्ष्य मे रखकर किया गया है, पुण्य कर्मों को लेकर नहीं। कारण कि पाप आत्मा के पतन से होता है और पुण्य आत्मा के उत्थान से होता है। अत ये दोनो परस्पर म विरोधी है । अत आस्रव, सवर, निर्जरा व मोक्ष तत्त्व मे जो भेद पाप की अपेक्षा से होगे ठीक उसके विपरीत पुण्य की अपेक्षा से होगे। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व मे परस्पर मे विरोधी भेदो को स्थान देना होगा जिससे तत्त्व का स्वरूप ही लुप्त हो जाने का प्रसग उत्पन्न हो जायेगा।

■

पुण्य - पाप का परिणाम

कर्म के बध व क्षय का आधार जीव के परिणाम है। कहा भी है - **परिणामादो बधो मोक्खो।** -भाव पाहुड ११६ **बधपमोक्खो अज्झत्थेव** - आचाराग १९५। परिणाम दो प्रकार के होते है अशुभ और शुभ। अशुभ परिणामों को पाप और शुभ परिणामो को पुण्य कहा है। जिस प्रकार एक घड़ा ओधा रख देने पर उस पर जितने भी घड़े रखे जायेगे वे सब औंधे ही रखे होगे। उसी प्रकार पाप रूप सक्लेश परिणाम से आस्रव, बन्ध, उदय, उत्कर्षण, सक्रमण आदि करण होते है वे पापात्मक ही होते है और जिस प्रकार एक घड़ा (मटका) सीधा रख देने पर उसके ऊपर जितने भी घड़े रखे जायेगे वे सब सीधे ही रखे होते है उसी प्रकार पुण्य रूप विशुद्धि परिणाम मे आस्रव, सवर, निर्जरा, मोक्ष तथा बध, उदय, सत्ता, अपकर्षण, उत्कर्षण, सक्रमण आदि करण पुण्यात्मक ही होते है।

विशुद्धिभाव से अर्थात् पुण्यात्मक परिणाम एव प्रवृत्ति से नवीन पुण्य के आस्रव मे वृद्धि तो होती ही है साथ ही अनेक अन्य बाते भी होती है यथा (1) पुण्य तथा पाप कर्म प्रकृतियो की स्थिति का अपवर्तन होता है (2) पाप प्रकृतियो के अनुभाव का अपकर्षण होता है (3) पुण्य प्रकृतियो के अनुभाव (अनुभाग) का उत्कर्षण होता है (4) पूर्व बद्ध पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण होता है (5) पाप के आस्रव मे कमी होने रूप पापास्रव का निरोध अर्थात् सवर होता है। (6) कर्म प्रकृतियो की स्थिति का क्षय होने से कर्मो का क्षय अर्थात् निर्जरा होती है (7) आत्म - विशुद्धि मे स्वभाव की अभिव्यक्ति रूप मुक्ति होती है। इस प्रकार शुभ भाव रूप पुण्य तत्त्व कर्म - क्षय व मुक्ति का हेतु है। इसके विपरीत सक्लेश भाव से अर्थात् पापात्मक परिणाम एव प्रवृत्ति से नवीन पाप कर्मा के आस्रव मे वृद्धि होती है तथा अन्य बाते भी होती है। यथा - (1) पुण्य-पाप प्रकृतियो की स्थिति का उद्वर्तन होता है (2) पाप प्रकृतियो के अनुभाव का उत्कर्षण होता है (3) पुण्य प्रकृतियो के अनुभाव का अपकर्षण होता है (4) पूर्व बद्ध पुण्य प्रकृतियो का पाप प्रकृतियो मे सक्रमण होता है। (5) पापास्रव मे वृद्धि होती है (6) कर्मो के स्थिति बध मे वृद्धि होने से ससार भ्रमण बढ़ता है (7) कषाय या विभाव की वृद्धि होती है।

उपर्युक्त तथ्यो पर विचार करने पर पुण्य ओर पाप इन दोनो में सैद्धान्तिक दृष्टि से आकाश - पाताल का अतर है । 'पाप' कर्म बध का कारण है और 'पुण्य' कर्म क्षय व मोक्ष का हेतु है। इसका प्रमुख कारण यह है कि सक्लेश भाव रूप पाप से पाप तथा पुण्य दोनो कर्मो की (तीन शुभ आयु कर्म की

प्रकृतियों को छोड़कर) प्रकृतियो की स्थिति बध का उद्वर्तन-वृद्धि होती है। जिससे ससार की वृद्धि होती है जबकि विशुद्धि भाव रूप पुण्य से पाप तथा पुण्य दोनों कर्मों के स्थिति - बध का अपवर्तन (कमी - क्षय) होता है जिससे ससार भ्रमण मे कमी होती है। यह कमी मिथ्यादृष्टि एव सम्यग्दृष्टि दोनो के ही होती है, परन्तु मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि के यह कमी असख्य गुणी अधिक होती है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि पुण्य के द्वारा पाप कर्मों का स्थिति ब". तो क्षीण (क्षय) होता ही है, किन्तु स्वय पुण्य का स्थिति बध भी क्षीण (क्षय-नाश) होता है जिससे ससार घटता है। यों कहें कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि अपने ही स्थिति बध को क्षय करने वाली होती है, जबकि पाप सदा पुण्य और पाप दोनो के स्थिति बध का उद्वर्तन (वृद्धि) करने में, पाप को परिपुष्ट करने मे, ससार बढाने मे सहायक होता है। 'पुण्य' पाप कर्मों का अवरोध, निरोध व क्षय करने वाला एव स्वय अपना अनुभाग बढाने वाला होता है जैसा कि कहा है-**तिव्वो असुहसुहाण संकेसविसोहिओ विवज्जउ मंदरसो**- पचम कर्म ग्रथ गाथा ६३ अर्थात् अशुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग सक्लेश से एव शुभ प्रकृतियो का तीव्र अनुभाग विशुद्धि से होता है। इसके विपरीत मदरस होता है, अर्थात् अशुभ प्रकृतियो का मद रस विशुद्धि से और शुभ प्रकृतियों का मद रस सक्लेश से होता है।

पुण्य का फल द्विमुखी होता है —(१) परिणामो की विशुद्धि और (२) स्थितिबन्ध का क्षय। इस प्रकार एक ओर तो कषाय में कमी होती जाती है, परिणामो मे विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, राग-द्वेष क्षीण होते जाते है, समता बढ़ती जाती है, जिससे कर्म क्षय होते जाते है, वीतरागता तथा मुक्ति की ओर प्रगति होती जाती है तथा दूसरी ओर स्थिति बध का क्षय होने से ससार वास मे अधिकाधिक कमी होती जाती है तथा ससार का किनारा निकट आता जाता है। इस प्रकार पुण्य की वृद्धि को परपरा से मोक्ष का हेतु कहा जाता है।

पाप प्रवृत्ति सदैव सकाम ही होती है। निष्काम नही होती है, क्योंकि पाप के साथ भोगों की कामना लगी रहती है, परन्तु पुण्य प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है - सकाम और निष्काम । जिस शुभ प्रवृत्ति के साथ सासारिक फल प्राप्ति की कामना होती है वह सकाम पुण्य है। फल की कामना से स्थिति बध होता है जो ससार बढ़ाने वाली होती है। कामना कषाय है, पाप है, अत पुण्य के साथ रही हुई फल की कामना हेय है, त्याज्य है, जैसे गेहूँ के साथ रहे हुए ककर

त्याज्य है गई नहीं, नारियल के साथ लगी हुई जटा त्याज्य है गिरि नहीं, शहद में मिला हुआ मोम औषधि में त्याज्य है शहद नहीं, इसी प्रकार पुण्य के फल की कामना त्याज्य है पुण्य नहीं। यही कारण है कि पुण्य के साथ लगी हुई कामना में जितनी कमी आती जाती है अर्थात् जितनी निष्कामता बढती जाती है उतना ही पुण्य का अनुभाग बढता जाता है और पाप का अनुभाग व स्थिति घटते जाते हैं, पाप का सक्रमण पुण्य में होता जाता है। स्थिति बध का व पाप का क्षय होना मुक्ति प्राप्ति का हेतु है। तात्पर्य यह है कि पुण्य का स्थिति बध कामना से, कषाय से, सकामता से होता है और पुण्य के अनुभाग का सर्जन निष्कामता से होता है। इसीलिये पुण्य-पाप का आधार इनके अनुभाव को माना गया है स्थिति को नहीं। फल अनुभाव (अनुभाग) से ही मिलता है, स्थिति बध फल देने में सक्षम नहीं है। फल की ही प्रधानता होती है । अत पुण्य-पाप का ग्रहण फल के आधार पर ही किया जाता है प्रदेश व स्थिति बध के आधार पर नहीं।

पहले कह आए है कि कर्म का फल उनके अनुभाव से मिलता है और कर्म सिद्धान्त में अनुभाव की न्यूनाधिकता का मापन उनके स्पर्धको से होता है। स्पर्धको की चार श्रेणिया होती है - एकस्थानिक, द्विस्थानिक त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक । ये श्रेणिया क्रमश अधिक से अधिक अनुभाग की सूचक है। पाप कर्मो के अनुभाव की वृद्धि अशुभ भाव व अशुद्ध भाव से तथा पुण्य के अनुभाव की वृद्धि शुभ भाव शुद्धभाव से होती है। शुभ व शुद्ध भाव कर्म क्षय के हेतु होने से मोक्ष प्रदायक है।

स्पर्धक तीन प्रकार के होते है (1) सर्वघाती (2) देश घाती एव (3) अघाती। इनमे से सर्व घाती स्पर्धक आत्मा के गुण का पूर्ण घात वाले होते है अत इनके उदय से आत्म-गुण बिल्कुल प्रकट नहीं होता है । देशघाती स्पर्धक का उदय आत्मा के गुण की आंशिक घात करते है अर्थात् इनके उदय मे आत्मा का गुण आंशिक रूप में प्रकट होता है। घाती कर्म आत्मा के गुण का घात करने वाले होने से इनकी समस्त प्रकृतियाँ पाप रूप ही होती है, इनकी एक भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं होती है तथा ये आत्मा के लिये अहितकर ही होते है। अघाती कर्मो की प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनो प्रकार की होती है। परन्तु इन दोनो प्रकार की प्रकृतियों के स्पर्धक न सर्वघाती होते है और न देशघाती होते है। अत इनके उदय से जीव के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नहीं होता है और इनके क्षय से कोई भी गुण प्रकट नहीं होता है। वीतराग केवलज्ञानी के उपघात

- पराघात आदि पाप पण्य प्रकृतिया का उदय सदव रहता ह परन्तु इनक उदय से उनक न तो किसी गुण की हानि होता ह और न इनक क्षय से किसी गुण की उपलब्धि ही होती ह।

अघाती कर्मो के स्पर्धक घाती नही होने से इन स्पर्धका क न्यूनाधिक उदय व क्षय होने से क्षायिक, औपशमिक एव क्षायोपशमिक भाव नही होत ह। ये तीनो भाव ही कर्म क्षय म हेतु होते है। ये तीनो भाव घाती कर्मो क क्षय उपशम व क्षयोपशम से होते है यथा - घाती कमो के सर्वघाती स्पर्धका क उदय के अभाव रूप क्षय व इन्ही स्पर्धको के सत्ता म उपशम होन स क्षयोपशम भाव होते ह। घाती कर्मो की प्रकृतियो के देशघाती एव सर्वघाती स्पर्धको के पूर्ण रूप से उपशम होने से औपशमिक भाव एव सपूर्ण रूप से क्षय होने से क्षायिक भाव होते ह। इन्ही तीनो भावो मे पापकर्मो के स्थिति व अनुभाग का घात होता ह, जो मुक्ति म हेतु ह। यह नियम ह कि जब पाप के अनुभाव का घात व क्षय होता ह तो पुण्य के अनुभाव मे वृद्धि होती ह।

■

पुण्य का उपार्जन कषाय की कमी से और पाप का उपार्जन कषाय की वृद्धि से

ससारी जीव के आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मो का बध निरन्तर होता रहता है। यह बध चार प्रकार का है - प्रकृति बध, स्थिति बध, अनुभाग बध और प्रदेश बध। प्रदेश बध न्यून हो या अधिक हो इससे स्थिति बध एव अनुभाग बध मे कोई अतर नही पड़ता है अर्थात् प्रदेश बध की न्यूनाधिकता से कर्मो की स्थिति एव फल मे हानि-वृद्धि नही होती है। सातों ही कर्मों की समस्त पुण्य-पाप प्रकृतियो का स्थिति बध कषाय से होता है। अर्थात् इनका स्थिति बध कषाय की वृद्धि से बढ़ता है तथा कषाय की मदता से घटता है। कषाय अधिक हो या कम अशुभ है अत पुण्य-पाप प्रकृतियो का स्थिति बध अधिक हो या कम अशुभ ही है। इसलिये कर्म की शुभता-अशुभता अर्थात् पुण्य-पाप का सबध कर्मों के प्रदेश व स्थिति बध से न होकर अनुभाग फलदान-शक्ति से है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एव अन्तराय इन चार घाती कर्मो की समस्त प्रकृतियों का अनुभाग बध कषाय से होता है। अत इनका अनुभाग बध भी अशुभ ही है, पाप रूप ही है। इनकी कोई भी प्रकृति शुभ या पुण्य रूप नही होती है। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मो में पाप और पुण्य दोनो प्रकार की प्रकृतियाँ होती है। इनमें पाप प्रकृतियों का उपार्जन कषाय के उदय से होता है और पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) से होता है।

कषाय के क्षय या कमी से आत्मा पवित्र होती है और आत्मा का पवित्र होना ही पुण्यत्व है अर्थात् शुभ भाव से पुण्य कर्म का उपार्जन होता है तथा अशुभ भाव से अर्थात् दुष्प्रवृत्ति से पाप कर्म का उपार्जन होता है। पाप अठारह है इनमे से कर्म बध मे चार कषाय मुख्य हेतु है यथा-क्रोध, मान, माया और लोभ। भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशक ५ मे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो के एकार्थक नाम दिये है। वहाँ क्रोध के लिए अक्षमा व द्वेष शब्दो का, मान के लिये मद शब्द का, माया के लिये जिह्मता, वक्रता शब्दो का और लोभ के लिए मूर्च्छा, परिग्रह, तृष्णा शब्दो का ग्रहण किया गया है। अत इन चारो कषायों के क्षय या कमी से चार गुण प्रकट होते है—(१) क्रोध, अक्षमा और द्वेष की कमी (क्षीणता) व त्याग से क्षमा गुण, (२) मान, मद के क्षय (क्षीणता) व त्याग से मृदुता गुण, (३) माया-वक्रता के क्षय व त्याग से ऋजुता, सरलता गुण और (४) लोभ मूर्च्छा (परिग्रह) व तृष्णा के क्षय (क्षीणता) व त्याग से सतोष गुण प्रकट होता है। इन्हे आगम की भाषा मे खति (क्षमा), मद्दवे

(मार्दव), अज्जवे ऋजुता, मुत्ती (मुक्ति) निर्लोभता भी कहा गया है। स्थानाग सूत्र के दसवे स्थान में इन्हें धर्म कहा गया है। कारण कि इन्ही गुणों के प्रकट होने से जीव के विभाव रूप घाती कर्मों का क्षय होता है और पुण्य रूप अघाती कर्मों का उपार्जन होता है। आगे इसी पर प्रकाश डाला जा रहा है—

साता-असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन

वेदनीय कर्म की दो प्रकृत्तियाँ हैं —(१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। इन दोनो प्रकृतियों के हेतु कहे गये हैं—

कहं णं भंते! जीवाणं सायवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ?गोयमा! पाणाणुकंपाए भूयाणुकंपाए, जीवाणुकंपाए, सत्ताणुकंपाए, बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोयणट्ठाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणयाए अपरियावणयाए, एव खलु गोयमा! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति॥

कह णं भंते! जीवाणं असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति? गोयमा! पर-दुक्खणयाए, परसोयणयाए, परजूरणयाए, परतिप्पणयाए, परपिट्टणयाए, पर परियावणयाए, बहूण पाणाण जाव सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए जाव परियावणयाए, एव खलु गोयमा! जीवाण असायावेयणिज्जा कम्मा कज्जंति।

—भगवती सूत्र शतक ७, उद्देशक ६

प्रश्न - हे भगवन्! जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते है?

उत्तर - हे गौतम! प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो पर अनुकपा करने से, बहुत से प्राणो, भूतों, जीवो और सत्त्वो को दु ख न देने से, उन्हे शोक उत्पन्न न करने से अथवा शोक दूर करने से, उन्हे खेदित व पीड़ित न करने व न पीटने से तथा उनकी पीड़ा परिताप दूर करने से जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

प्रश्न - हे भगवन्! जीव असातावेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर - हे गोतम! दूसरे जीवो को (१) दु ख देने से, (२) शोक उत्पन्न करने से, (३) खेद उत्पन्न करने से, (४) पीडित करने से, (५) पीटने से, (६) परिताप उत्पन्न करने से, (७) बहुत से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वो को दु ख देने से शोक उत्पन्न करने से यावत् परिताप उत्पन्न करने से जीव असाता वेदनीय कर्म का उपार्जन करते हैं।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरण में सातावेदनीय का हेतु अनुकपा को एव असातावेदनीय का हेतु क्रूरता को कहा है। अनुकपा का हेतु क्रोध कषाय का

क्षय है जैसा कि कहा है-

"**कोहविजएण खंतिं जणयइ**" – उत्तरा अ २९ सूत्र ६८

खमावणयाए पल्हायणभाव जणयइ। पल्हायणभावमुपगए य सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ। उत्तरा अ २९ सूत्र १७ "सर्वप्राणिषु मैत्री **अनुकम्पा**" राजवार्तिक अ १ सूत्र २

अर्थात् क्रोध के विजय (क्षय) से क्षमा गुण प्रकट होता है। क्षमापना से मैत्रीभाव उत्पन्न होता है और सर्व प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव होना ही अनुकपा है। अनुकपा से ही सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है। तात्पर्य यह है कि क्रोध कषाय के क्षय (क्षीणता) से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है साथ ही चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय भी होता है। जैसा कि कहा है–

अणुस्सुयाए णं जीवे अणुकपए, अणुब्भडे, विगयसोगे, चरित्त-मोहणिज्जं कम्मं खवेइ। –उत्तरा २९ सूत्र ३०

अर्थ–प्राणी मे विषयो के प्रति विरति से अनुकपा पैदा होती है तथा वह उद्धत एव शोक रहित होकर चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है, जिससे वीतरागता की उपलब्धि होती है।

अभिप्राय यह है कि कषाय के क्षय से क्षमा गुण, क्षमा से मैत्री भाव मैत्री भाव से अनुकपा गुण प्रकट होता है। क्षमाशीलता आदि गुणो से युक्त जीव ही सब जीवो के प्रति वैर भाव का त्याग कर उनके सब अपराधो को क्षमा कर सकता है, जैसा कि कहा है - **कोहो पीइं पणासेई** (दसवै अ ८ गाथा ३८) अर्थात् क्रोध प्रीति का नाश करता है। अत जहाँ क्रोध नही है वहाँ ही प्रीति भाव है। प्रीति ही मैत्री है। मैत्री जहाँ होती है वहाँ वैर भाव नही होता-क्षमा भाव होता है। कहा भी है–

खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ॥ आवश्यक सूत्र - पाचवा आवश्यक

अर्थात् सब जीव मुझे क्षमा करे, मैं सब जीवो को क्षमा करता हूँ। सब प्राणियो के प्रति मेरा मैत्री भाव है, मेरा किसी से भी वैर नही है। इस भाव से हृदय मे प्रीति उमडती है जो प्राणियो की पीड़ा-शोक आदि दुखो को दूर करने वाले अनुकपा गुण के रूप मे प्रकट होती है। जिससे साता वेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

सातावेदनीय के विपरीत असातावेदनीय है। क्रोध कषाय के उदय से द्वेष और वैर भाव उत्पन्न होता है जिससे वह दूसरों के प्रति क्रूरता या असाता

उपजाने का व्यवहार करने लगता है और स्वय द्वेष और वैरभाव की अग्नि मे जलने लगता है, जिससे अशान्ति और खिन्नता का अनुभव होता है। यही असातावेदनीय कर्म का हेतु है।

साराश यह है कि क्रोध कषाय के क्षय से सातावेदनीय एव क्रोध कषाय के उदय से असातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

शुभ आयुकर्म का बन्ध

आयु कर्म की चार प्रकृतियाँ है। इनमे (१) तिर्यञ्च आयु (२) मनुष्य आयु और (३) देव आयु पुण्य प्रकृतियाँ है। मनुष्य आयु और देव-आयु का निर्माण तृष्णा-लोभ की कमी से होता है अर्थात् जितना-जितना आरम्भ-परिग्रह घटता जाता है उतनी-उतनी शुभ आयु अधिक होती है। अभिप्राय यह है कि लोभ कषाय की कमी शुभ आयु मे वृद्धि की हेतु है यथा - शुभ आयु कर्म मनुष्य-देव-आयु के बध के हेतु है।

गोयमा! पगइभद्दयाए पगइविणीययाए, साणुक्कोसणयाए,
अमच्छरियाए मणुस्साउयकम्मा जाव पओगबधे॥
गोयमा! सरागसजमेण, सजमासजमेण, बालतवोकम्मेण,
अकामणिज्जराए, देवाउयकम्मासरीर जाव पओगबधे ।

–भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ९, सूत्र ८२-८३

अल्पारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुषस्य॥१८॥
नि.शीलव्रतत्व च सर्वेषाम्॥९॥
सरागसयमसयमासयमाकामनिर्जराबालतपासि देवस्य॥२०॥

'तत्त्वार्थसूत्र अ६ २०७

अर्थात् प्रकृति की भद्रता, विनीतता, मृदुता, दयालुता, अमत्सर तथा आरम्भ, परिग्रह की अल्पता से मनुष्य आयु का बध होता है। सरागसयम, सयमासयम (देश विरति), बालतप और अकामनिर्जरा से देवायु का बध होता है।

मनुष्य और देव आयु मे मुख्य हेतु आरम्भ परिग्रह के त्याग एव सयम है। सराग सयम, सयमासयम भी आरम्भ-परिग्रह के त्याग के सूचक है। अभिप्राय यह है कि लोभ-तृष्णा के त्याग मे शुभ आयु का बध होता है।

अशुभ आयु कर्म का बध

अशुभ आयु कर्म मे नरकायु का बध होता है जिसके हेतुओं के विषय मे कहा गया है - **गोयमा! महारभयाए, महापरिग्गहाए, कुणिमाहारेण, पंचिंदियवहेण, नेरइयाउयकम्मासरीरप्पओगनामाए कम्मस्स उदएण नरइकम्मा सरीर-जाव पओगबधे।**
-भगवतीसूत्र शतक ८ उ९

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः –तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन ६ सूत्र १६

अर्थ - हे गौतम ! महारंभ, महापरिग्रह, मासाहार एवं पचेन्द्रिय जीवों के वध से नरक आयु का बंध होता है।

बहुत आरम्भ, परिग्रह आदि तृष्णा या लोभ से ही होते हैं। अत नरकायु के बंध का मुख्य हेतु लोभ कषाय का उदय ही है। तात्पर्य यह है कि लोभ कषाय की क्षीणता व कमी से मनुष्य और देव संबंधी शुभ आयु का और लोभकषाय की वृद्धि से नरक के अशुभ आयु का बंध होता है।

नाम कर्म

नाम कर्म दो प्रकार का है - शुभ नाम कर्म और अशुभ नाम कर्म। शुभ नाम कर्म का अर्थात् नाम कर्म की पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन माया कषाय की क्षीणता से होता है एवं अशुभ नाम कर्म का अर्थात् नाम कर्म की पाप प्रकृतियो का अर्जन एवं बंध माया कषाय के उदय से होता है, यथा—

शुभ नामकर्म का उपार्जन

मायं चज्जवभावेण—दशवै अ ८ ३९

माया - विजएणं अज्जवं जणयइ- उत्तरा अ २९ सूत्र ७०

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? अज्जवयाए णं काउज्जुयय, भावुज्जुयय, भासुज्जुयय, अविसंवायण जणयइ। अविसंवायण-संपन्नयाए ण जीवे धम्मस्स आराहए भवइ। –उत्तरा अ २९ ४९

गोयमा ! कायउज्जुयाए, भावुज्जुययाए, भासुज्जुययाए अविसंवायणजोगेण सुभनामकम्मासरीर-जाव पओगबंधे। भगवतीसूत्र, शतक ८.९ ८४

योगवक्रताविसंवादनं चाशुभस्य नाम्न विपरीत शुभस्य। तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ २१-२२

अर्थ - माया कषाय को ऋजुभाव से जीते अर्थात् माया को जीतने से जीव ऋजुभाव को प्राप्त करता है। ऋजुता (सरलता) से जीव काया की सरलता, भावो की सरलता, भाषा (वचन) की सरलता और अविसंवादिता को प्राप्त करता है जिससे धर्म का आराधक होता है और काया की सरलता, भाव की सरलता, भाषा (वाणी) की सरलता तथा अविसंवादन योग शुभ नामकर्म के हेतु है।

अशुभ नाम कर्म का उपार्जन

गोयमा ! कायअणुज्जुययाए जाव विसंवायणजोगेणं पओगबंधे – भगवती सूत्र ८ ९

अर्थ - काया की वक्रता से, भाव की वक्रता से, भाषा की वक्रता से और विसंवाद योग से अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियो का बंध होता है।

उपर्युक्त आगम सूत्रो से स्पष्ट है कि अऋजुता से, वक्रता से अर्थात् माया कषाय के उदय से अशुभ नाम कर्म की प्रकृतियो का अर्जन (आस्रव) एव बध होता है तथा ऋजुता से, सरलता से अर्थात् माया कषाय की क्षीणता व कमी से शुभ नामकर्म की प्रकृतियो का उपार्जन होता है।

उच्च गोत्र कर्म का उपार्जन

गोत्र कर्म के दो भेद है—नीच गोत्र एव उच्च गोत्र। इनमें से नीच गोत्र पाप प्रकृति है। जिसका उपार्जन (आस्रव) मद से अर्थात् मान कषाय के उदय से होता है तथा उच्च गोत्र पुण्य प्रकृति है जिसका उपार्जन मृदुता से अर्थात् मान कषाय के क्षय व कमी से होता है। जैसा कि कहा है-

माण मद्दवया जिणे। -दशवै अ ८ गाथा ३९

माणं विजएण मद्दव जणयइ। - उत्तरा अ २९ सूत्र ६९

मद्दवयाए ण अणुस्सियत्तं जणयई। अणुसियत्तेण जीवे मिउ-मद्दव-सपन्ने अट्ठ-मयट्ठाणाइ निट्ठावेइ।—उत्तरा २९ सूत्र ५०

गोयमा! जाइअमएण, कुलअमएण, बलअमएण, रूवअमएण, तवअमएणं, सुयअमएण, लाभअमएण, इस्सरियअमएण उच्चागोयकम्मासरीर जाव पओगबंधे।— भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ९

अर्थ—मान कषाय को मृदुता से जीते अर्थात् मान कषाय पर विजय से मृदुता गुण प्रकट होता है। मृदुता से जीव अनुद्धतभाव को प्राप्त होता है। अनुद्धतभाव (विनय) से, मृदुता से जीव आठ मदो को नष्ट कर देता है। जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्य मद इन आठ मदो को न करने से उच्च गोत्र का बध होता है।

नीचगोत्र का उपार्जन

गोयमा! जाइमएण, कुलमएण, बलमएण, जाव इस्सरियमएणं णीयागोयकम्मा जाव पओगबधे। —भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ९ सूत्र ८७

अर्थ - जातिमद, कुलमद आदि उपर्युक्त आठ मद करने से अर्थात् मान कषाय के उदय से नीचगोत्र रूप पाप प्रकृति का बध होता है।

यह नियम है कि प्राणी जिस वस्तु का मद या अभिमान करता है अर्थात् जिस वस्तु के आधार पर अपना मूल्याकन करता है, उस वस्तु का मूल्य व महत्त्व बढ़ जाता है और उस स्वय का मूल्य घट जाता है। जिसके पास वह वस्तु उससे अधिक है उसके समक्ष अपने को दीन-हीन अनुभव करता है, उससे

अपने को निम्न स्तर का, निम्न श्रेणी का मानता है। वह हीनता और अभिमान की अग्नि मे जलता रहता है। यह हीनता-दीनता की भावना ही नीच गोत्र का हेतु है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपना मूल्याकन वस्तु के आधार पर नहीं करता है वह मद रहित निरभिमान हो जाता है। उसमे उच्च-नीच भाव छोटे-बड़े का भाव , गुरु-लघु, हान-दीन भाव पैदा नहीं होता है, यही निरभिमानता , अगुरु-लघुत्व उच्च गोत्र के उपार्जन के हेतु है।

तात्पर्य यह है कि मान कषाय के उदय से उत्पन्न मद से नीच गोत्र का उपार्जन एव बध होता है और मान कषाय के क्षय से विनम्रता, मृदुता से उच्च गोत्र का उपार्जन होता है।

पूर्वोक्त विवेचन एव आगमो के उद्धरणो से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कषायो के क्षय से पुण्य का उपार्जन एव कषायो के उदय से पाप का अर्जन होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ मे ७३ बोल की पृच्छा है वहाँ पर तथा भगवती आदि सूत्रो मे सर्वत्र पापो के क्षय का ही विधान है। कही पर भी पुण्य के क्षय करने का विधि-विधान नहीं आया है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ससारी जीव के आयु कर्म को छोडकर शेष सात कर्मो का प्रतिक्षण बध होता रहता है। इन कर्मो के बन्ध के कारण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय का उदय है। इनमे से प्रत्येक कषाय के उदय मे सातो कर्मो की पुण्य-पाप प्रकृतियो का उपार्जन व बध होता है। और कषाय के क्षय से कर्म बन्ध का क्षय होता है परन्तु उपर्युक्त विवेचन के अनुसार किसी कषाय के क्षय से किसी विशेष एक कर्म की पाप प्रकृतियो का क्षय और पुण्य प्रकृतियो के उपार्जन का कारण माना जाय तो शेष कर्मो का बन्ध किससे हो सकता है ?

उत्तर मे कहना होगा कि ऊपर पृथक-पृथक कषाय के क्षीण होने से पृथक्-पृथक कर्म की पाप प्रकृतियो का क्षय और पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन बताया गया है, वह स्थिति बध की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु अनुभाग बध की न्यूनाधिकता की अपेक्षा से समझना चाहिये। उदाहरणार्थ - काया की, भावो की, भाषा की सरलता और अविसवाद से नाम की शुभ प्रकृतियो का उपार्जन होना बताया है इसका अभिप्राय यह है कि इनसे सातो कर्मो की समस्त प्रकृतियो के स्थिति बध का तथा पाप प्रकृतियो के अनुभाग का क्षय होता है और चारो घाती कर्मो की पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है, किन्तु नाम कर्म की अशुभ प्रकृतियो का क्षय व शुभ प्रकृतियो के अनुभाग मे विशेष वृद्धि होती

है। इसी प्रकार अन्य कषायो के क्षय से समझना चाहिये। इसके विपरीत किसी कषाय के उदय से सातो कर्मो पाप कर्मो के स्थिति बध मे वृद्धि होती है, परन्तु किसी कर्म विशेष की पाप प्रकृतिया के अनुभाग में विशेष वृद्धि होती है।

फलितार्थ यह है कि कषाय के क्षय से दो प्रकार के फल मिलते है यथा - (१) पाप कर्मो का क्षय होता है एव (२) पुण्य कर्मो का उपार्जन होता है अथवा यो कहें कि कषाय क्षय का आभ्यतरिक फल है क्षमा, सरलता, मृदुता आदि धर्मो की उपलब्धि होना और बाह्य फल सातावेदनीय, उच्च गोत्र, शुभ नाम आदि पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन होना है।

इस प्रकार कषाय के क्षय व कमी से, आभ्यतरिक फल के रूप मे आध्यात्मिक विकास एव बाह्य फल के रूप मे भौतिक विकास होता है। भौतिक विकास पुण्य-प्रकृतियो के रूप मे प्रकट होता है। इससे यह भी फलित होता है कि भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास का घातक व विरोधी नही है, प्रत्युत् आध्यात्मिक विकास का आनुषगिक फल है और भौतिक विकास का सदुपयोग आध्यात्मिक विकास मे सहायक व सहयोगी है। आशय यह है कि भौतिक विकास का सदुपयोग दया अनुकपा, करुणा मे करने से भोग-वासनाओ का राग गलता है जिससे आध्यात्मिक विकास होता है। इसके विपरीत भौतिक विकास के दुरुपयोग रूप भोग-प्रवृत्ति से आत्मिक अधःपतन होता है। अत महत्त्व भौतिक विकास के पुण्यकर्म के सदुपयोग का है। इस प्रकार भौतिक विकास आध्यात्मिक विकास का सहयोगी कारण हो सकता है।

भौतिक विकास है इन्द्रिय मन, वचन, काया आदि की प्राण शक्तियो का विकास होना। प्राण शक्ति का विकास ही प्राणी का विकास है। पुण्य के सदुपयोग से शुभ आयु मे वृद्धि, उच्चगोत्र से उदात्तभावो का, शुभ वेदनीय से सवेदनशीलता का, शुभ नामकर्म से पाच इन्द्रिय, मन, वचन, काय रूप करणो का निर्माण एव इनकी शक्ति का विकास होता है।

■

पुण्य-पाप कर्म-बंध का मुख्य कारण कषाय है, योग नहीं

जैन-दर्शन मे योग और कषाय ये दो कर्म-बध के कारण कहे गये हैं। योग से कर्मों का प्रकृति और प्रदेश बध होता है तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बध होता है, ऐसा कहा गया है, सो यथार्थ ही है। कारण कि योगो की प्रवृत्ति से कर्मों की रचना (सर्जन-निर्माण) और कषाय से कर्मो का बध होता है।

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि प्रवृत्ति के बिना कर्मों या दलिको का अर्जन नही हो सकता और कर्मों का अर्जन ही नही हो तो बध किसका होगा। अत योगों के अभाव मे बध का अभाव होगा। इस प्रकार कर्म-बध की मौलिक सामग्री का निर्माण योगो से होता है। परन्तु कर्म दलिको (प्रदेशों) का अर्जन होना और उसका बध होना ये दोनो एक बात नही है। वीतराग केवली के योगों की प्रवृत्ति है, अत कर्म दलिको का अर्जन तो होता ही रहता है, परन्तु कर्म-बध नहीं होता है।

विश्व मे कर्म-वर्गणा सर्वत्र विद्यमान है और आत्माए भी सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् जहाँ कर्म वर्गणा विद्यमान है वहाँ आत्मा भी विद्यमान है, फिर भी उन कर्म वर्गणाओं का आत्मा के साथ बध नही होता है, क्योकि उनका आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित नही हुआ है। कर्मो का आत्मा के साथ स्थापित या स्थित होना ही कर्म-बध है और ये कर्म जितने काल तक स्थित रहेंगे वह ही स्थिति बध है। इस प्रकार आत्मा के साथ कर्मो का स्थित होना और स्थिति बध का घनिष्ट सम्बन्ध है और स्थिति बध होता है कषाय से। इस दृष्टि से कर्म-बध का प्रधान कारण कषाय है। "**गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्म पयडिओ बधसु, बधति, बंधिस्सति तजहा - कोहेण, माणेण मायाए, लोभेणं। द १-२४ एव नेरइया जाव वेमाणिया।**" पन्नवणा पद १४, द्रव्यानुयोग पृष्ठ - १०९३

हे गौतम !जीवो ने चार कारणो से आठ कर्म प्रकृतियो का बध किया है, करते हैं और करेंगे, यथा क्रोध से, मान से, माया से, और लोभ से । इसी प्रकार नैरयिको से लेकर वैमानिको तक २४ दडकों मे जानना चाहिए।

वस्तुत कषाय ही बध का कारण है, योग नही। योग से केवल कर्मों के दलिको (प्रदेशों) का अर्जन होता है, बध नही। क्योकि जिन कर्मों का स्थिति बध नही होना उनका न प्रकृति बध होता है, न प्रदेश-बध और न अनुभाग बध। ये तीनो प्रकार के बध स्थिति बध होने पर ही सम्भव हैं।

यह नियम है कि कर्म जितने काल तक आत्मा मे स्थित रहते हैं तब तक ही आत्मा कर्मों से बधी रहती है या कर्म आत्मा से बधे रहते है। कर्मों का

आत्मा के साथ बधे रहना ही स्थिति बध है। कर्मो का आत्मा मे स्थित न रहना, आत्मा से अलग हटना ही कर्म का मिटना है—कर्म का क्षय हे। अत कर्म का बध व क्षय कर्म की स्थिति के बध और क्षय पर निर्भर करता है। जैसा कि वीरसेनाचार्य ने जयधवला टीका में लिखा है—

पुव्वसचियस्स कम्मस्स कुदो खओ ? ट्ठिदिक्खयादो।
ट्ठिदिक्खयो कुदो ? कसायक्खयादो। उत्तं च–
कम्मं जोअणिमित्तं बज्झई कम्माठिदी कसायवसा।
ताणमभावे बंधट्ठिदीणभावा सडइ संतं॥-कसायपाहुड, प्रथम पुस्तक, पृष्ठ ५७

शका - पूर्वसचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है ?

समाधान - कर्म की स्थिति का क्षय हो जाने से उस कर्म का क्षय होता है।

शंका - स्थिति का विच्छेद किस कारण से होता है ?

समाधान - कषाय के क्षय होने से स्थिति का विच्छेद (घात) होता है अर्थात् नवीन कर्मो मे स्थिति नही पड़ती है और कर्मों की पुरातन स्थिति का विच्छेद (घात) हो जाता है। कहा भी है—

योग के निमित्त से कर्मों का आस्रव (अर्जन) होता है और कषाय के निमित्त से कर्मो मे स्थिति पड़ती है। इसलिए योग और कषाय का अभाव हो जाने पर बध और स्थिति का अभाव हो जाता है और उससे सत्ता मे विद्यमान कर्मो की निर्जरा होती है।

तात्पर्य यह है कि कर्मो का क्षय स्थिति के क्षय से होता है और स्थिति बध का क्षय कषाय के क्षय से होता है। इसके विपरीत कर्मो का बध स्थितिबध से होता है और स्थितिबध कषाय से होता है। कषाय के अभाव मे केवल योग से कर्म-बन्ध नही हो सकता। यही कारण है कि कषाय रहित वीतराग केवली के कर्म का बध नही होता। कुछ विद्वान् केवली के सातावेदनीय का बध मानते है, परन्तु केवली के सातावेदनीय का बध नही होता है, जैसा कि आचार्य श्री वीरसेन स्वामी ने कहा है—

जइ वि एवमुवदिसति तित्थयरा तोविण तेसिं कम्मबन्धो अत्थि तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जासेसकम्माणं बंधाभावादो। वेयणीयस्स वि ण ट्ठिदिअणुभागबंधा अत्थि, तत्थ कसायपच्चयाभावादो। जोगो अत्थि त्ति ण तत्थ पयडिपदेसबंधाणमत्थित्तं वोत्तुं सक्किज्जदे ? ट्ठिदिबंधेण विणा उदयसरूवेण आगच्छमाणाणं पदेसाणमुवयारेण बंधववएसुवदेसादो। ण च जिणेसु देस-सयलधम्मोवदेसेण अज्जियकम्मसंचिओवि अत्थि उदयसरूवकम्मागमादो असखेज्जगुणाए सेढीए

पुव्वसंचियकम्मणिज्जर पडिसमय करतम् कम्मसचयाणुववत्तीदा।

—कसायपाहुड प्रथम पुस्तक पृष्ठ ९२ ९३

अर्थात् यद्यपि तीर्थंकर श्रावको और मुनियो को उपदेश देते है तो भी उनके कर्म-बध नही होता है, क्योकि जिनदेव के तेरहवे गुणस्थान मे कर्म-बध के कारणभूत मिथ्यात्व, असयम और कषाय का अभाव हो जाने से वेदनीय कर्म को छोडकर शेष समस्त कर्मो का बध नही होता है। वेदनीय कर्म का बध होता हुआ भी उसमे स्थिति बध और अनुभागबध नहीं होता है, क्योकि वहाँ पर स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध के कारणभूत कषाय का अभाव है। यद्यपि वहाँ पर तेरहवे गुणस्थान मे योग है, फिर भी प्रकृति बध तथा प्रदेशबध के अस्तित्व का कथन नही किया जा सकता है, क्योकि स्थिति बन्ध के बिना उदय रूप से आने वाले निषेको मे उपचार से बध के व्यवहार का कथन किया गया है। जिनदेव देशव्रती श्रावको और सकलव्रती मुनियो को धर्म का उपदेश करते है, इसलिए उनके अर्जित कर्मो का सचय बना रहता है सो भी बात नही है क्योकि उनके जिन नवीन कर्मो का अर्जन होता है वे उदय रूप ही है उनसे भी असख्यात गुणी श्रेणि रूप से वे प्रति समय पूर्व सचित कर्मो की निर्जरा करते है। इसलिए उनके कर्मो का सचय नही बन सकता है।

वीरसेनाचार्य के उपर्युक्त कथन से यह परिणाम निकलता है कि कषाय के उदय क्षय व क्षयोपशम से क्रमश कर्म का बध, क्षय व क्षयोपशम होता है। कर्मसिद्धान्त मे कषाय की कमी को विशुद्धि व कषाय की वृद्धि को सक्लेश कहा है। साथ ही विशुद्धि से कर्म की स्थिति का घात बताया है जो कर्म के अपवर्तन या निर्जरा का द्योतक है तथा सक्लेश से कर्म की स्थिति की वृद्धि कही है जो कर्म-बध का व उद्वर्तन का द्योतक है, जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र अध्ययन सूत्र १० की टीका मे आचार्य अकलक व पूज्यपाद ने कहा है कि विशुद्धि से प्रीति का उदय, उपेक्षाभाव की जागृति तथा अज्ञान का नाश होता है। ये तीनो ही मुक्ति मे सहायक है अर्थात् विशुद्धि रूप शुभभाव मुक्ति-प्राप्ति मे हेतु है।

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि कषाय की वृद्धि से पूर्व सचित समस्त पाप प्रकृतियो की स्थिति व अनुभाग मे वृद्धि होती है तथा कषाय की कमी से स्थिति व अनुभाग मे कमी होती है। निष्कर्ष यह है कि कर्मो का बध, सत्ता, उद्वर्तन (वृद्धि), अपवर्तन (कमी), क्षय आदि कर्मो की समस्त स्थितियाँ कषाय पर ही निर्भर करती है। कहा भी—"कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव" अर्थात्

कषाय मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

पुण्य के स्थिति बध का कारण · कषाय

अब यह प्रश्न उठता है कि पुण्य का स्थिति बध अशुभ क्यों है?

समाधान—जो व्यक्ति यह चाहता है कि मेरा प्रभाव दूसरो पर पडे, मेरे सच्चरित्र, कर्तव्यनिष्ठा से अन्य जन प्रभावित हो, दूसरो पर मेरे व्यक्तित्व की छाप पडे, महत्त्व बढ़े और आगे भी बना रहे, मेरे गुणो से लोग प्रभावित हो, मुझे सज्जन, महापुरुष समझे मेरी गिनती महापुरुषो मे, सिद्ध पुरुषो मे हो, मेरे मरने के पश्चात् भी मुझे लोग याद करे, मेरा सत्कार हो, सम्मान हो, लोग मुझे पूजे, सुख-सुविधा पहुँचाये आदि फल की आशा रखे तथा अपने सरलता, क्षमा, निर्लोभता, मृदुता आदि गुणो से अपने महत्त्व का अकन करे तो उसका ऐसा चाहना या करना मान कषाय का सूचक है इससे उसके पुण्य व पाप प्रकृतियो का स्थिति बध बढ़ता है तथा पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग घटता है।

सद् प्रवृत्तियो के करने का राग, फल की आशा तथा गुणो का अभिमान भयकर दोष है। इस दोष के रहते साधक आगे नही बढ सकता। जब साधक अपने मे अपनी कोई विशेषता नही पाता, तब गुण का अभिमान नहीं रहता है, गुण उसका सहज स्वभाव बन जाता है। फिर गुणो की उपलब्धियो के लिए श्रम या अनुष्ठान नही करना पडता। वह सहज रूप से आगे बढता है।सभी जीवो को गुण स्वभावत स्वत प्राप्त है अत जब तक साधक गुणो को अपनी देन मानता है तब तक उसमे मै करता हूँ, मैने गुणो को पैदा किया है, यह अह भाव व कर्तृत्व भाव बना रहता है। जहा कर्तृत्व भाव है, अहभाव है वहाँ बध है। ऐसी साधना से दोष दबते है। दोषो का दमन होता है, परन्तु दोष मिटते नहीं है। केवल दोषो का उपशम होता है क्षय नही होता। वह उपशम श्रेणि करता है जिसमे समस्त दोष सत्ता मे ज्यो के त्यो विद्यमान रहते है। वे पुन अति अल्पकाल मे ही उदय मे आकर उसका पतन कर देते है।

क्षपकश्रेणि वही कर सकता है जो कर्तृत्वभाव, कर्तव्य का अहकार, श्रम युक्त साधना अनुष्ठान या अन्य किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता है, किसी भी प्रकार का सकल्प-विकल्प नही करता है। जो कर्म उदय के रूप मे प्रकट हो रहे है उनसे असग हो तादात्म्य तोडता है, उनका द्रष्टा रहता है। उन उदीयमान कर्मो के प्रति कोई प्रतिक्रिया नही करता है। उन्हे अच्छा-बुरा नहीं समझता है। ये कर्म क्या उदय हो रहे है, ऐसा भी नहीं विचारता है। वह निर्विकल्पता से मिलने वाली शान्ति के अक्षय रस मे रमण नही करता है।

अनाश्रय (पराश्रय के त्याग) से मिली स्वाधीनता के अखण्ड रस को महत्त्व नही देता है। उससे सन्तुष्ट नही होता हे। तब वह इन्द्रियातीत, देहातीत, लोकातीत, भवातीत, गुणातीत होकर अनन्त माधुर्य रूप वीतरागता का अनुभव करता है। ऐसा रस-एक बार चखने पर उसमे फिर परिवर्तनशील, क्षणिक एव आकुलतायुक्त विषय-रस की कामना कभी नही जगती है। इन्द्रिय, देह, लोक (ससार), गुण आदि इनसे सुख न लेना, इनके सुख को पसन्द न करना ही इनसे अतीत होना है। जब साधक की सरलता, विनम्रता, सहजता, स्वाभाविकता इतनी बढ़ जाती है कि वह जीवन का अग बन जाती है तब उसे अपने में कोई भी गुण या विशेषता नही दिखाई देती, फलत वह गुणो से अभिन्न हो जाता है। फिर गुण और गुणी का, साध्य और साधक का, साधन और सिद्धि का भेद व भिन्नता मिट जाती है। क्योकि चीज वही दिखाई देती है जो अपने से भिन्न हो। जो अपने से अभिन्न होती है वह दिखाई नही देती है। अत जब तक साधक को अपने मे गुण होने का भास होता है तब तक उसमे और गुणो मे एकत्व व अभिन्नता नही हुई, ऐसा समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि पुण्य के साथ रहा हुआ कषायभाव कर्तृत्व, भोक्तृत्व भाव (फल की आशा) स्थिति बध का कारण है। पुण्य का भी स्थिति बध, कषाय, पाप व विकार का सूचक है अत अशुभ है, परन्तु इससे पुण्य अशुभ नही हो जाता है। यह स्थिति बध, पुण्य के अनुभाग का घातक भी है। उदाहरणार्थ शरीर के साथ लगा हुआ रोग शरीर के स्वास्थ्य के लिए घातक है, परन्तु रोग हो जाने से शरीर बुरा नही हो जाता है, हेय नही हो जाता है, बुरा या हेय रोग ही होता है। इसी प्रकार पुण्य के साथ स्थिति बध लगा होने से पुण्य हेय नही हो जाता है केवल स्थिति बध ही बुरा है।

■

पुण्य-पाप की उत्पत्ति-वृद्धि-क्षय की प्रक्रिया

जीव मे शुभ-अशुभ परिणाम (भाव) उत्पन्न होत है। इनमे शुभ भाव भावपुण्य या पुण्य तत्त्व और अशुभ भाव को भावपाप या पाप तत्त्व कहते है। इन शुभ और अशुभ भावो के अनुरूप मन-वचन-काय की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति होती है, इसे योग कहते हैं। शुभ प्रवृत्ति शुभयोग और अशुभ प्रवृत्ति अशुभ योग कही जाती है। योगो के निमित्त से कार्मण पुद्गल वर्गणाए आकर्षित होकर आत्मा की ओर आती हैं और कर्म रूप ग्रहण करती हैं, इसे आस्रव कहते हैं। शुभयोग से शुभ आस्रव होता है, जिसे पुण्यास्रव कहते हैं और अशुभ योग से अशुभ आस्रव होता है, जिसे पापास्रव कहते हैं।

योग या प्रवृत्ति शुभ हो या अशुभ, इनसे आत्म-प्रदेशो में परिस्पन्दन होता है, जिससे कार्मण-वर्गणाओ के पुद्गल आते हैं और आत्म-प्रदेशो से मिलते हैं। ये कार्मण वर्गणाओ के पुद्गल प्रदेश कहलाते हैं। आत्म-प्रदेशों में जितना परिस्पन्दन अधिक होता है उतनी ही अधिक सख्या मे प्रदेशों का सर्जन होता है। इस प्रकार पुण्य व पाप कर्मों की प्रकृति व प्रदेश का सर्जन व उपार्जन योगो से होता है।

कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ मिलने पर उनका आत्मा के साथ जुड़े रहने के काल को स्थिति बध कहते हैं एव कर्म के स्वभाव की तीव्रता-मदता को अनुभाव (अनुभाग) कहते है।

अनुभाग और स्थितिबध इन दोनो का निर्माण कषाय से होता है। कषाय मे जितनी हानि-वृद्धि होगी आयु कर्म की तीन शुभ प्रकृतियो को छोडकर समस्त पुण्य-पाप की प्रकृतिया का स्थितिबध कम या अधिक होगा। कषाय की हानि होने पर स्थितिबध कम होगा। यही सिद्धान्त पहले के बधे हुए कर्मों की जो स्थिति है उस पर भी घटित होता है। कषाय की हानि से पूर्व बद्ध समस्त कर्म प्रकृतियो की स्थितिबध का अपवर्तन (क्षय) होता है और कषाय की वृद्धि से पूर्व बद्ध समस्त कर्म प्रकृतियो के स्थितिबध का उद्वर्तन (वृद्धि) होता है। इस प्रकार पूर्व मे बधा व वर्तमान मे बधने वाला सम्पूर्ण स्थितिबध कषाय पर निर्भर करता है। कषाय के क्षय से स्थिति का क्षय होता है और कषाय की वृद्धि से स्थिति बढ़ती है। स्थिति बध ही कर्मों को आत्मा के साथ बाधे रखने वाला होता है।

कर्म बध की विद्यमानता स्थितिबध पर ही निर्भर करती है। स्थितिबध की उत्पत्ति व वृद्धि होती है कषाय के उदय व वृद्धि से अर्थात् औदयिक भाव से। इसलिए जैनागम मे व कर्म सिद्धान्त मे एक मात्र औदयिक भाव (कषाय) को

ही कर्म बध का कारण कहा गया ह। स्थितिबध का नियम तीन शुभ आयु को छोड़कर समस्त पुण्य-पाप प्रकृतिया पर समान रूप से लागू होता है। परन्तु अनुभाग मे ऐसा नही है। कारण कि अनुभाग स्वभाव का अनुसरण करता ह। अत शुभ स्वभाववाली पुण्य प्रकृतिया का अनुभाग कषाय की हानि से बढता है ओर कषाय की वृद्धि से घटता ह। सीधे शब्दो में कह तो स्थितिबध से ठीक विपरीत सिद्धान्त अनुभाग पर लागू होता हे। अर्थात् पुण्य प्रकृतिया का स्वभाव व अनुभाव शुभ होता है और कषाय अशुभ होता है। ये दोनो परस्पर विरोधी है। कषाय की क्षीणता से शुभ व शुद्ध भावो से पुण्य प्रकृतियो का स्वभाव उत्पन्न होता है व बढ़ता है। इसमे कषाय का उदय कारण न होकर कषाय का क्षय या ह्रास कारण होता हें। इसके विपरीत पाप प्रकृतियो का स्वभाव व अनुभाव अशुभ होता है और कषाय भी अशुभ होता है। ये दोनो सजातीय है। अत कषाय की वृद्धि व ह्रास के साथ पाप प्रकृतियो का स्वभाव व अनुभाव बढ़ता व घटता है। यही नियम पूर्वबद्ध पुण्य-पाप प्रकृतियो पर भी लागू होता हे अर्थात् कषाय की वृद्धि से पूर्वबद्ध पुण्यकर्म प्रकृतियो के अनुभाव का अपकर्षण (ह्रास) होता है और पाप प्रकृतियो के अनुभाव का उत्कर्षण (वृद्धि) होता हे एव कषाय के क्षय (ह्रास) से पूर्वबद्ध प्रकृतियो के अनुभाव का उत्कर्षण (वृद्धि) होता ह एव पाप प्रकृतियो के अनुभाव का अपकर्षण होता हे।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट ह कि कषाय की वृद्धि जितनी अधिक होती हे उतना पुण्य-पाप कर्मो का बध (स्थिति बध) अधिक होता है ओर कषाय के क्षय (ह्रास) से पुण्य-पाप दोनो प्रकार के कर्मो का क्षय (स्थिति बध का क्षय) होता हे, परन्तु कषाय की वृद्धि से पाप प्रकृतियो का अनुभाव बढ़ता है ओर पुण्य प्रकृतियो का अनुभाव घटता हे। इससे यह भी फलित हुआ कि पुण्य प्रकृतियो का जितना आस्रव व अनुभाग बढता हे उतना ही पाप प्रकृतियो का ह्रास होता हें।

इन सब तत्त्वो के द्रव्य व भाव रूप पर विचार करे। जीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध ओर मोक्ष इन सबके भावात्मक रूप शुभ व अशुभ अध्यवसाय है। जीव के स्वभाव, पुण्य, पुण्यास्रव, सवर, निर्जरा, पुण्य का अनुभाव और मोक्ष इन सबका भावात्मक रूप एक ही है और वह शुभ अध्यवसाय है और इनका द्रव्यात्मक रूप शुभ योग और फल शुभ पुद्गल कर्मो का अर्जन व उनका फल देना ह जो नाना प्रकार का है। इसी प्रकार जीव के विभाव, पाप, पापास्रव, पाप का अनुभाव ह। इन सबका एक ही भावात्मक रूप

ह आर वह अशुभ अध्यवसाय हे तथा द्रव्यात्मक रूप अशुभयाग आर फल अशुभ पुद्गल कर्मा का उपार्जन बध व उनका विपाक हे जो नाना प्रकार का हे।

जीव के परिणाम ही मुक्ति व बध के मूल हेतु है। द्रव्य कर्म तो परिणामो के अनुरूप निसर्ग से स्वत उत्पन्न होते है। जीव के शुभ परिणाम मुक्तिदाता हे क्योंकि ये कषाय के क्षय (ह्रास) से होते है तथा इनसे पुण्य और पाप दोनो प्रकार के कर्मो का क्षय (स्थिति का क्षय) होता है। इसके विपरीत जीव के अशुभ भाव कर्म बध के हेतु होते है क्योकि ये कषाय की वृद्धि से होते है जिससे पुण्य और पाप इन दोनो प्रकार के कर्मो के स्थिति-बध मे वृद्धि होती हे।

जीव के कुल पाच भाव है। इनमे से औदयिक भाव ही कर्मबध के कारण है क्योकि इन अशुभ अध्यवसायो से पापास्रव व पाप प्रकृतियो का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबध नियम से होता है। इनसे पुण्य प्रकृतियो का आस्रव, प्रकृति प्रदेश व अनुभाव का सर्जन नही होता है प्रत्युत् इन सबका ह्रास ही होता है। केवल पुण्य प्रकृतियो का स्थिति बध होता है। परन्तु पुण्य प्रकृतियो का अनुभाव शुभ होने से पुण्य कर्मो का फल शुभ ही मिलता हे फिर वे भले ही कितने ही काल तक बधे रहें। ये जीव के लिए कभी अशुभ होते ही नही है, इनसे जीव को किसी भी प्रकार की हानि नही होती है। शेष रहे तीन भाव-ओपशमिक, क्षायिक, व क्षायोपशमिक, ये बध के कारण नही है। औदयिक भाव ही, इनमे भी कषाय भाव ही कर्मबध के कारण हैं। औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ये तीनो भाव शुभ अध्यवसाय, कषाय की मदता व क्षय के सूचक है। ये तीनो भावा शुभ अध्यवसाय रूप होने से मोक्षप्रदायक है। इन शुभ व शुद्ध भाव से पाप कर्म क्षय होते है कर्म-बध नहीं होते है।

तात्पर्य यह हे कि नव ही तत्त्वो का एव इनसे सबधित पुण्य-पाप का भावात्मक रूप शुभ-अशुभ भाव हे। अशुभ भाव पाप से सबधित पाप तत्त्व, पाप प्रवृत्ति, पापास्रव, पाप कर्मो के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभाव बध का एव पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध का हेतु है। इस प्रकार अशुभ भाव-औदयिक भाव आत्मा के आतरिक गुणो के घातक एव बाह्य मे शरीर इन्द्रिय-प्राण आदि के हानि के हेतु है। इसके विपरीत शुभ भाव आतरिक गुणो के एव बाह्य शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि शुभ प्रकृतियो के विकास के हेतु है। पुण्य तत्त्व पुण्यास्रव, पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश, अनुभाव इनमे से किसी से भी जीव को हानि नही होती है। प्रत्युत् जितनी इनकी वृद्धि होती है उतनी ही पाप के सब रूपो का

क्षय होता है। पाप ही जीव को ससार मे रोके रखने का, रुलाने, भव भ्रमण कराने का हेतु है, पुण्य नहीं। सवर और निर्जरा तत्त्व के जितने भेद है उन सबसे पुण्य का उपार्जन एव वृद्धि ही होती है। आशय यह है कि पुण्य का उपार्जन, क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, कषाय की मदता, सवर, तप, सयम आदि जितने भी मोक्ष देने वाले तत्त्व हैं उन सब से होता है। पुण्य तत्त्व आत्मा का सर्वाङ्गीण, सर्वतोमुखी विकास करने वाला है। पुण्य आत्मा के लिए अहितकर नही है। आत्मा का अहित पाप से ही होता है।

कषाय में कमी होना शुभ भाव है। शुभ भाव को ही प्रकारान्तर से शुभ योग, विशुद्धि, शुद्धोपयोग व पुण्य कहते है। अत पुण्य और पुण्य का फल सभी शुभ है, आत्मा के लिए हितकर है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य की उत्पत्ति व वृद्धि-क्षायिक, औपशमिक, क्षायोशमिक रूप शुभ भावों से शुभ योग (सद् प्रवृति) से होती है। शुभ योग से पुण्यास्त्रव, पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश व अनुभाव का सर्जन होता है। पुण्य की स्थिति बध का क्षय पाप के क्षय के साथ स्वत हो जाता है। इसके लिए अन्य किसी विशेष साधना की आवश्यकता नही होती है। इसके विपरीत पाप की उत्पत्ति व वृद्धि का कारण औदयिक भाव है। औदयिक भाव में भी कषाय का उदय ही मुख्य है। औदयिक भाव अशुभ ही होता है। औदयिक भाव से अशुभ योग (दुष्प्रवृत्ति) होता है जिससे पापास्त्रव होता है तथा पाप के प्रकृति, स्थिति, अनुभाव व प्रदेश का अर्जन व बध होता है। पाप के क्षय का उपाय है कषाय का ह्रास अर्थात् जिन भावो से पुण्य का उपार्जन व वृद्धि होती है वे ही भाव पाप-क्षय के हेतु है।

■

पुण्य की अभिवृद्धि से पाप का क्षय

प्राणी जितना-जितना पाप से, बुराई के दोष से बचता है, पाप का, दोष का, बुराई का त्याग करता जाता है उतनी-उतनी उसकी आत्मा विशुद्ध होती जाती है। जितनी-जितनी आत्मा की विशुद्धि बढ़ती जाती है उतना-उतना पाप का क्षय होता जाता है और पुण्य की अभिवृद्धि होती जाती है। अत सबसे बड़ा पुण्य है बुराई से बचना अर्थात् अपने राग-द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषों का, बुराइयों का त्याग करना तथा दूसरों का बुरा न चाहना, बुरा न कहना, बुराई न करना। यह नियम है कि जो कुछ भी बुरा नही करता है उससे जो कुछ भी होता है वह भला ही होता है। भलाई करना ही पुण्य है। भलाई वही कर सकता है जो बुराई नही करता है। बुराई नही करना तथा भलाई करना ये दोनों एक सिक्के के दो पहलु है। दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इनमें अन्तर यह है कि बुराई न करने में तो सब समर्थ एव स्वाधीन हैं क्योंकि उसके लिए किसी वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति की अपेक्षा नही होती है, परन्तु किसी का भला करने, हित करने के लिए वस्तु, शरीर आदि की आवश्यकता होती है। अत क्रियात्मक भलाई या सेवा सीमित ही हो सकती है। कोई भी व्यक्ति कितना ही सम्पन्न हो, वस्तुएँ देकर सारे समाज की गरीबी नही मिटा सकता, चिकित्सालय खोलकर सब रोगियों की चिकित्सा नही करवा सकता। विद्यालय खोलकर सबको प्रवेश नही दे सकता। धर्मशालाएँ बनवाकर सबको स्थान नही दे सकता। किन्तु भावात्मक भलाई सबके प्रति हो सकती है। सबका भला हो, सबका कल्याण हो, सबका मगल हो, यह भावना वह मन से कर सकता है। भावात्मक भलाई करने मे सब समर्थ एव स्वाधीन हैं। क्रियात्मक भलाई व पुण्य मे भी महत्त्व भावना का ही है। भावना रहित क्रियात्मक सेवा का मूल्य नही होता। कारण कि कोई व्यक्ति वस्तु, सम्पत्ति आदि को सेवा मे लगता है परन्तु उसमें कर्तृत्व भाव रूप करने का राग व फल की आसक्ति है, फल की आशा है तो वह सेवा या पुण्य घटिया श्रेणी का है। इससे पुण्य के अनुभाग मे कमी होगी और स्थिति बध अधिक होगा जो शुभ नही है।

सद्प्रवृत्ति से जो पुण्य का उपार्जन होता है वह भी पाप के क्षय व निवारण से होता है। कारण कि सद्प्रवृत्ति दुष्प्रवृत्ति काअवरोध कर देती है।दुष्प्रवृति जितनी कम होती जाती है, मिटती जाती है उतना ही नवीन पाप का उपार्जन रुकता जाता है तथा सत्ता में स्थित पुराने बधे पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन एव पुण्य प्रकृतियों में सक्रमण होता जाता है। यह सब पाप के क्षय के ही रूप हैं। आशय यह है कि पुण्य का अभिवर्द्धन पाप के क्षय की

अवस्था मे होता है। अत पुण्य का उपार्जन एव वृद्धि पाप क्षय की सूचक है।

पूर्वोक्त अन्न, जल, वस्त्र आदि नव प्रकार के पुण्यो मे से प्रथम पाँच वस्तुओ से सम्बन्धित है जो प्राय सभी गृहस्थो के यहाँ पाई जाती है, अत इन्हे देकर पुण्योपार्जन किया जा सकता है। अगले चार पुण्य अन्य पर निर्भर न होकर स्वय के तन, मन और वचन से सम्बन्धित है। मन से सभी का भला चिन्तन करना, नम्रता का व्यवहार करना, वचन से मधुर बोलना, शरीर से सेवा, सुश्रूषा करना आदि में सभी समर्थ व स्वाधीन है। अत पुण्य करने मे कोई पराधीन व असमर्थ हो, सो नही है।

यह नियम है कि पाप न करने से भी पुण्य का उपार्जन स्वत होता है, पुण्य मे वृद्धि होती है। जैसे किसी का बुरा न चाहने, बुरा न सोचने, बुरा न करने, बुरा न मानने, बुराई न सुनने से पाप रुकता है - पाप का सवर होता है। फिर उससे जो भी प्रवृत्ति होती है वह भली ही होती है, भलाई की ही होती है। यह भी नियम है कि जितनी हिंसा, झूठ, राग-द्वेष आदि पाप क्रिया रुकती है, घटती है, उतनी ही आत्मा मे विशुद्धि होती है और आत्मा की जितनी विशुद्धि होती है उतनी पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती हे। अत पाप का न करना भी पुण्य की वृद्धि का हेतु है। विवेकीजन प्रत्येक काम करते हुए भी किसी के प्रति राग-द्वेष व बुराई करने से बचते है, तटस्थ रहते है इससे वे पाप से तो बचते ही है, साथ ही उनके पुण्य की अभिवृद्धि भी होती है। साराश यह है कि पाप का त्याग ही सवर है, सवर से आत्मा की विशुद्धि होती है जिससे पाप का अपवर्तन रूप क्षय व पुण्य के अनुभाग की वृद्धि होती है।

शरीर के लिए सहायक व सुविधाजनक अन्न, जल, वस्त्र, पाट-पलग आदि वस्तुए देने का जितना महत्त्व है उससे अधिक हृदय मे अनुकम्पा भाव जगने का, हृदय की कठोरता पिघलने का, दूसरो का हित करने का भाव जाग्रत होने का महत्त्व है। मन मे किसी के प्रति अहित का विचार त्यागने से पाप कर्मो का भारी क्षय होता है। हृदय मे करुणाभाव नही है, धन देने की इच्छा नही है, परन्तु किसी के दबाव से वस्तु, धन आदि दान देता है और मन मे पछताता है तो वह उत्तम प्रकार का पुण्य नही कहा गया है। इसी प्रकार कोई सम्मान, सत्कार, कीर्ति व आदर पाने के लिए दान देता है तो उसे उस कार्य का फल सम्मान, सत्कार रूप ही मिलता हे जो उसके अहकार को पुष्ट करने वाला होने से पाप का क्षय करने वाला नही है। अत महत्त्व सद् प्रवृति के साथ रही भावना का भी है। हृदय की भावना का क्रियात्मक रूप मन की प्रवृत्ति है। अत

महत्त्व मन के शुभ-अशुभ विचारो का है। मन के शुभ विचारो से पाप का क्षय एव पुण्य की वृद्धि होती है और मन के अशुभ विचारो से पाप की वृद्धि एव पुण्य मे कमी होती है। मन से शुभ विचार प्रत्येक मानव, प्रत्येक क्षेत्र मे, प्रत्येक परिस्थिति म हर समय कर सकता है और अपने पाप का क्षय कर सकता है, पुण्य की वृद्धि कर सकता है। अत किसी के पास खिलाने-पिलाने आदि दान देने योग्य वस्तुएँ नही हों तब भी वह हर समय मन से शुभ विचार करने में स्वाधीन है और मन से शुभ विचार करने का महत्त्व वस्तुओ के दान देने के समान ही है। अत साधक को सदा शुभ विचार करने में एव उन्हे यथा सभव क्रियात्मक रूप देने मे सदा तत्पर रहना चाहिए, इससे पाप का क्षय एव पुण्य का उपार्जन होता रहेगा।

पुण्य : कर्मक्षय का हेतु

बध चार प्रकार का है। इनमे से प्रकृति बध व प्रदेश बध का कारण मन, वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग है और स्थिति बध व अनुभाग बध राग, द्वेष, कषाय (आसक्ति) है। परन्तु इन चारों प्रकार के बधनों मे से प्रकृति बध, अनुभाग बध व प्रदेश बध ये तीन प्रकार के बधन स्थिति बध पर ही निर्भर करते है, क्योकि यदि स्थिति बध न हो तो इन तीनो प्रकार के बधनो का बध ही न हो। अत स्थिति बध ही मुख्य बध है। स्थिति बध से ही कर्म सत्त्व या सत्ता को प्राप्त होते है। कर्मो की सत्ता स्थिति बध पर ही निर्भर करती है।

स्थिति बध कषाय से होता है। कारण कि आयु कर्म को छोडकर शेष सात कर्म जो निरन्तर बध रहे थे, उन सातो कर्मो की स्थिति का बध कषाय से ही होता है। कषाय की वृद्धि से इन सात कर्मो की समस्त प्रकृतियो की स्थिति मे वृद्धि होती है। यहॉ तक कि तीर्थंकर नामकर्म, मनुष्य गति, देवगति जैसी पुण्य प्रकृतियो की स्थिति मे वृद्धि भी कषाय की वृद्धि से ही होती है। अर्थात् इन समस्त प्रकृतियो की स्थिति की वृद्धि उत्कृष्ट होने का कारण उत्कृष्ट सक्लेश भाव है और कषाय की कमी रूप विशुद्धि भाव से पाप पुण्य रूप समस्त प्रकृतियो की स्थिति स्वत घटती है। अत कर्मो की स्थिति का बध होना व बढ़ना अशुभ है। परन्तु पुण्य के अनुभाग बध पर उपर्युक्त कर्म-सिद्धान्त का नियम लागू नही होता। पाप प्रकृतियो का अनुभाग बध व उसकी वृद्धि, कषाय व कषाय की वृद्धि से होती है। लेकिन पुण्य प्रकृतियो मे इससे विपरीत होती है। अर्थात् जैसे-जैसे कषाय की वृद्धि होती है वैसे-वैसे ही पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग घटता जाता है और कषाय मे कमी से पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग

बढ़ता जाता है अत पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि का कारण कषाय नही है प्रत्युत् कषाय की कमी है। अत पाप पुण्य का सबध अनुभाग से है स्थिति से नही कारण कि पुण्य व पाप की सभी प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थिति बध उत्कृष्ट सक्लेश से होता है। इसीलिये तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ६ , सूत्र ३-४ की व्याख्या करते हुये राजवार्तिक टीका मे कहा है **—सर्वोत्कृष्टस्थितीनाम् उत्कृष्टसक्लेशहेतुकत्वात् अनुभागबध प्रत्येतदुक्तम्। अनुभागबधो हि प्रधानभूत तन्निमित्तत्वात् सुखदु खविपाकस्य। तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्त सर्वाशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्ध.।**

अर्थ — यह नियम है कि सभी प्रकृतियो का उत्कृष्ट स्थिति बध उत्कृष्ट सक्लेश से होता है। अत यहा अनुभाग बधकी अपेक्षा इस सूत्र को लगाना चाहिये। पुण्य पाप मे अनुभाग बन्ध प्रधान है, वही सुख-दु ख रूप फल का निमित्त होता है। समस्त शुभ पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामो से होता है और समस्त अशुभ (पाप) प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध उत्कृष्ट सक्लेश परिणामो से होता है।

■

पुण्य -पाप की बन्ध-व्युच्छित्ति : एक चिन्तन

कतिपय लोगो की ऐसी मान्यता है कि कर्म-सिद्धान्त में पाप व पुण्य दोनों प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति कही है। इससे यह ज्ञात होता है कि जैसे पाप हेय है, उसी प्रकार पुण्य भी हेय है। इस जिज्ञासा के समाधान के लिये किसी कार्य की निवृत्ति किस प्रकार होती है , इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

किसी कार्य का अन्त दो प्रकार से होता है - 1 निवृत्ति से - क्षीण होकर, घटकर अर्थात् अभाव रूप मे और 2 पूर्णता से अर्थात् बढ़कर उससे अतीत होकर, जैसे - (अ) ऋण मुक्त होना दोनों अवस्थाओ मे समान होता है - 1 जिसने दिवालिया निकाल दिया और 2 जिसे देना था उसे दे दिया। बाह्य स्थिति एक होने पर भी ये दोनो बाते परस्पर विरोधी हैं।

(आ) एम.ए. पढ़ने के कार्य का अभाव दो व्यक्तियो के होता है 1 एम ए. नही देने वाले के 2 एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने वाले के।

(इ) देह का अभाव व व्युच्छित्ति देहान्त होने पर अथवा देहातीत होने रूप दोनो अवस्थाओ मे होती है। परन्तु देहान्त मृत्यु है और देहातीत होना सिद्ध अवस्था है, निर्वाण है।

(ई) तीर्थकर नाम कर्म पुण्य प्रकृति का बन्ध प्रथम गुणस्थान मे भी नही होता और दशवे गुणस्थान मे भी नही होता। परन्तु दशवे गुणस्थान मे तो कषाय के क्षय से तीर्थकर नाम का अनुभाग पूर्ण (उत्कृष्ट) हो जाने से नही होता है और प्रथम गुणस्थान मे अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के कारण बन्ध नही होता है।

(उ) एकेन्द्रिय जीव के भी स्थिति बन्ध अत्यल्प-एक सागर से भी कम होता है और यही स्थिति-बन्ध वीतराग अवस्था वाले क्षपक श्रेणि के साधक के भी होता है। बाहर से एक सी अवस्था प्रकट होने पर भी अन्तर में परस्पर विरोधी है ।

पाप प्रकृतियो की उत्पत्ति दोषो से और पुण्य प्रकृतियो की उत्पत्ति गुणो से होती है। दोषो के क्षय से पाप-प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है और गुणो की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियो की पूर्णता हो जाने से पुण्य प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति हो जाती है। गुणो की वृद्धि और दोषो का क्षय ये दोनो कार्य एक साथ युगपत् होते है अत पुण्य पाप प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति युगपत् होती है। इसी प्रकार क्षपक श्रेणि में पाप और पुण्य दोनो प्रकार की कर्म प्रकृतियो की व्युच्छित्ति होने मे दो विरोधी कारण है। क्षपक श्रेणि मे घाती कर्म

की पाप प्रकृतियो का अनुभाग बन्ध व स्थिति बन्ध घटता जाता है और घटकर उसका क्षय व अन्त हो जाता है। इसलिये बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। इसके विपरीत पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि हो जाती है और यह वृद्धि पूर्णता (उत्कृष्टता) को प्राप्त होकर रुक जाती है, कारण कि पूर्ण होने पर आगे बढने की गुजाइश ही नही रहती है।

इस प्रकार पाप प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति उनके स्थिति व अनुभाग के घात से होती है और पुण्य प्रकृतियो की व्युच्छित्ति उनके अनुभाग मे वृद्धि होकर पूर्ण होने से होती है। अत पाप प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति पाप प्रकृतियो के क्षय से होती है तथा पुण्य प्रकृतियो की बन्ध व्युच्छित्ति पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग की पूर्णता से होती है ये दोनो कार्य एक ही हेतु से होते है। यह हेतु है कषाय मे कमी होना, क्षीण होना, क्षय होना। जितना कषाय घटता जाता है, क्षीण व क्षय होता जाता है, उतना ही पाप के अनुभाग का क्षय व पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती जाती है। कषाय के क्षय होते ही ये दोनो कार्य पूर्ण हो जाते है। पाप प्रकृतियो का बन्ध, क्षय होकर उनकी बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है। पुण्य प्रकृतियो के बन्ध की पूर्णता होकर उनका बधना रुक जाता है अर्थात् बन्ध व्युच्छित्ति हो जाती है।

कैसा विचित्र सिद्धान्त है कि पुण्य-पाप कर्म दोनो परस्पर विरोधी है, फिर भी इन दोनो की कर्म प्रकृतियो की बन्ध-व्युच्छित्ति कषाय के क्षय से ही होती है। होता यह है कि क्षपक श्रेणि मे कषाय के क्षय से ज्ञानावरणादि घाति-पाप कर्मो की स्थिति और अनुभाग घटकर शून्य हो जाता है जिससे ये पाप कर्म निर्मूल-क्षय-अस्तित्वहीन हो जाते है और क्षपक श्रेणि मे कषाय के क्षय से पुण्य कर्म प्रकृतियो का अनुभाग बढकर पूर्ण उत्कृष्ट हो जाता है, जिससे बन्ध रुक जाता है। पाप कर्मो की उनके उन्मूलन होने के कारण से और पुण्य कर्मो की उनके अनुभाग के चरम सीमा पर पहुँचने के कारण बन्ध-व्युच्छित्ति होती है।

■

मुक्ति में पुण्य सहायक, पाप बाधक

जैन कर्म-सिद्धान्तानुसार पुण्य आत्म-विकास का द्योतक एव मुक्ति का सहायक अग है, मुक्ति का बाधक व घातक नही है। परन्तु वर्तमान मे कतिपय जैन सप्रदाय वालो का ऐसा मानना है कि "जैसे मुक्ति के लिये पाप त्याज्य है वैसे ही पुण्य भी त्याज्य है, क्योंकि वह मुक्ति में बाधक है। पुण्य करते-करते अनन्त जन्म बीत गये, अनत बार पच महाव्रत धारण कर मेरु पर्वत जितने पिच्छी-कमण्डल-ओघे पात्रों का उपयोग कर लिया, अनत बार नव ग्रैवेयक तक जा आए फिर भी मुक्ति नही मिली। इसका कारण है पाप को तो हेय समझ कर , त्याग करके पच महाव्रत धारण किये, परन्तु पुण्य को न हेय समझा और न त्यागा। यदि पाप की तरह पुण्य को हेयँ समझकर त्याग दिया जाता तो मुक्ति कभी की मिल जाती।"

उपर्युक्त यह मान्यता कि 'पुण्य मुक्ति मे बाधक है' कर्म-सिद्धान्त व आगम के विरुद्ध है। क्योकि त्याज्य वही होता है जो आत्म-गुणो का घात करता है, जो अशुभ व पाप रूप है। सभी पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती है इनसे आत्म-गुण का लेशमात्र भी घात नही होता है। यदि इनसे अशमात्र भी आत्म-गुण का घात होता तो देश घाती कहलाती, परन्तु ऐसा नही है। पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती होने से इनसे आत्मा का अहित नही होता है। अत पुण्य मुक्ति मे बाधक और त्याज्य नही है।

पुण्य मुक्ति मे सहायक है , क्योकि पुण्य का उपार्जन पाप की कमी से, पाप के त्याग से, शुभ योग से होता है। यह नियम है कि जितने-जितने अश मे कषाय मे कमी आती जाती है, पाप घटता जाता है, उतना-उतना पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है, कषाय के क्षय से पूर्ण शुद्धोपयोग होता है तो उत्कृष्ट पुण्य का अनुभाग होता है। पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग होने पर ही वीतरागता आती है, केवलज्ञान होता है, मुक्ति मिलती है। अत मुक्ति न मिलने का कारण पुण्य का पूर्ण उपार्जन न होना है पुण्योपार्जन मे कमी रहना है। इसे उदाहरणो से समझे, यथा -

उदाहरण -१ जैसे कोई व्यक्ति कुए से पानी पाने के लिए एक-दो फुट के अगनित गड्ढे खोदे तब भी पानी नही निकलता है, गड्ढा पूरा गहरा खोदने पर ही पानी निकलता है।

उदाहरण -२ किसी घड़ी या यन्त्र मे उसके हजारो पुर्जे लगा दिये जाये, परन्तु कुछ पुर्जे लगने से रह जाएँ तो वह घड़ी व यन्त्र कार्यकारी नही हो सकते,

सपूर्ण पुर्जे यथास्थान पर लगने से ही वह यन्त्र कार्यकारी व सफल होता है।

उदाहरण-३ जल का तापमान कुछ अशो मे लाखो करोडो बार घटता-बढता रहे, परन्तु वह बर्फ नही बन सकता। तापमान के शून्य होने पर ही वह जल बर्फ बनता है।

इसी प्रकार जीव के कषाय में आशिक कमी-वृद्धि असख्य अनत बार होती रहती है, परन्तु कषाय की आशिक कमी से प्रकट हुये आत्मा के गुणो का विकास व पुण्य की आशिक वृद्धि होने से किसी को मुक्ति नही मिलती है। मुक्ति मिलती है कषाय रूप पाप के पूर्ण क्षय से, पूर्ण निर्दोषता से, पूर्ण शुद्धोपयोग से, पूर्ण पवित्रता से, उत्कृष्ट पुण्य से। उत्कृष्ट पुण्य होता है सयम, सवर, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग की पूर्णता से, तथा पाप के क्षय से। पुण्य के अनुभाग की वृद्धि व पूर्णता पाप की कमी व क्षय की द्योतक है। पाप से आत्मा का पतन होता है, अत पाप ही मुक्ति मे बाधक है और पाप के क्षय से ही मुक्ति की उपलब्धि होती है। पुण्य भाव से आत्मा पवित्र होती है आत्मा का उत्थान होता है । आत्मा की पवित्रता मुक्ति मे सहायक होती है, बाधक नही।

पुण्य कर्म की बयालीस प्रकृतियाँ है। इनमे से सातावेदनीय, उच्च गोत्र आदि बत्तीस प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग चारित्र की क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना मे होता है। इनका उत्कृष्ट अनुभाग होने के पश्चात् अतर्मुहूर्त मे ही केवलज्ञान हो जाता है। इन प्रकृतियो के अनुभाग के अनुत्कृष्ट रहते आज तक न किसी को केवलज्ञान हुआ है और न आगे ही होगा और केवलज्ञान के बिना किसी को मुक्ति नही हो सकती। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि आज तक जिस किसी को मुक्ति नही मिली उसका कारण पुण्य की उत्कृष्टता में कमी रहना है, न कि पुण्य की उपलब्धि। दूसरे शब्दो मे कहे तो पुण्य की उत्कृष्ट अवस्था मे बाधक कारण पाप है। अत पाप ही मुक्ति मे बाधक है, पुण्य नही। केवलज्ञान और केवलदर्शन न होने का कारण कोई पुण्य प्रकृति नही, अपितु केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण आदि पाप प्रकृतियो का उदय है। इसी प्रकार क्षायिक चारित्र व क्षायिक सम्यक्त्व न होने का कारण भी मोह कर्म की पाप प्रकृतिया ही है कोई भी पुण्य प्रकृति नही। अत यह कहना कि पुण्य मुक्ति मे बाधक है जैनागम व कर्म सिद्धान्त के विपरीत है।

कर्मसिद्धान्त तथा आगमानुसार पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का उपार्जन न तो मन, वचन व काया के किसी योग से होता है और न किसी कषाय से होता है प्रत्युत आत्म-विशुद्धि व शुद्धोपयोग से होता है, क्योंकि योग से तो कर्म की प्रकृति व प्रदेश का उपार्जन होता है, स्थिति व अनुभाग का नही। यदि पुण्य

के अनुभाग का उपार्जन कषाय से होता तो पुण्य का अनुभाग कषाय के बढ़ने से बढ़ता तथा कषाय के घटने से घटता जैसा कि पाप प्रकृतियो में होता है। परन्तु ऐसा नही होता है। इसके विपरीत पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग कषाय बढ़ने से घटता है, कषाय घटने से बढ़ता है और जैसे-जैसे कषाय का क्षय होता जाता है वैसे वैसे बढता जाता है। सयम, त्याग, तप रूप क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना के समय कषाय के पूर्ण क्षय रूप पूर्ण शुद्धोपयोग होने पर साधक के पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढ़कर उत्कृष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् ही केवलज्ञान व केवलदर्शन होता है।

साराश यह है कि केवलज्ञान, केवलदर्शन व मुक्ति मे बाधक पुण्य की उपलब्धि नही है , बल्कि पुण्य के अनुभाग मे कमी रह जाना है तथा घातिकर्म की पाप प्रकृतियो का उदय है। अत मुक्ति प्राप्ति के लिये पाप के त्याग व क्षय की आवश्यकता है। साधना का लक्ष्य या कार्य मात्र पाप का क्षय करना है, पुण्य का नही। क्योकि किसी भी साधना से पुण्य के अनुभाग का क्षय नही होता है यहाँ तक कि केवली समुद्घात से भी पुण्य का अनुभाग क्षीण नही होता है और मुक्ति-प्राप्ति के अतिम समय तक पुण्य का यह अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। पुण्य के अनुभाग के क्षय का एक मात्र उपाय है सक्लेशभाव, जिसका वीतराग अवस्था मे सर्वथा अभाव है। रहा पुण्य की स्थिति का क्षय जो पाप प्रकृतियो की स्थिति के क्षय के साथ स्वत ही हो जाता है, इसके लिये अलग से किसी साधना की आवश्यकता नही होती।

पुण्य का उपार्जन सयम अर्थात् पाप के त्याग रूप निवृत्तिपरक साधना से तथा दया, दान, मैत्री, सेवा, वात्सल्य रूप प्रवृत्तिपरक साधना से होता है। अत पुण्य साधना का फल होने से मुक्ति मे सहायक होता है, बाधक नही। इस प्रकार पुण्य, कर्म बध का कारण नही है, बल्कि पाप कर्मो के कर्मक्षय का हेतु है। इसी पर प्रकाश डाला जा रहा है--

कषाय की कमी रूप विशुद्धि से पुण्य के अनुभाग में वृद्धि होती है जिससे समस्त पाप व पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध मे कमी आती है और सत्ता में स्थित समस्त कर्मों की स्थिति घटती है (स्थिति का क्षय कर्मो का क्षय है) तथा नई पाप प्रकृतियो के अनुभाग बध मे कमी होती है और सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों के अनुभाग मे भी कमी होती है। इस प्रकार पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि की अवस्था मे पाप प्रकृतियो की स्थिति व अनुभाग मे कमी आती है व इनकी स्थिति का घात होता है। तात्पर्य यह है कि पुण्य का उत्कर्ष पाप कर्म

के क्षय का कारण है, कर्म बध का कारण नही। पाप कर्म के क्षय मे सहायक होने से पुण्य ससार मे रोके रखने का एव ससार-वृद्धि या ससार-परिभ्रमण का कारण नही है। अत पुण्य को ससार-भ्रमण का कारण मानना अनुचित है।

कर्म-बध व ससार-परिभ्रमण का कारण राग-द्वेष रूप कषाय है। कषाय पाप रूप ही होता है, पुण्य रूप नही। कषाय के अभाव मे अकेले योग से कर्म बध नही होता। कषाय की तीव्रता से ही मिथ्यात्व, असयम, प्रमाद व अशुभ योग रूप दुष्प्रवृत्तियो की उत्पत्ति होती है। कषाय की कमी से मिथ्यात्व आदि के क्षय करने का सामर्थ्य आता है। इस सामर्थ्य के सदुपयोग से ज्ञानीजन पाप की दुष्प्रवृत्ति का त्याग कर सयममय जीवन अपना कर अपना कल्याण कर लेते है।

जो जीव प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग त्याग में न कर विषय भोग मे करते है वे अपने सामर्थ्य को खो देते है। फिर समस्त दशाओ व दिशाओ मे इधर-उधर भटकते रहते है। आशय यह है कि सद् प्रवृत्तियो से उद्भूत सामर्थ्य का उपयोग त्याग मे कर राग-द्वेष से मुक्त होना है। ये सद्-प्रवृत्तियाँ किसी भी प्रकार से अहित की कारण नही है, इसलिये हेय या त्याज्य नही है। इसके विपरीत पाप कर्म के क्षय की हेतु है। इसलिये उपादेय व ग्राह्य है, परन्तु ये आत्मा से भिन्न होने से साधन रूप हैं। अत इन्हे साध्य नही मान लेना है। इन्हे साध्य मान लेने मे साध्य की ओर प्रगति होने मे अवरोध होता है। जबकि इनके प्रति असग भाव रखने से साध्य की ओर तीव्र गति से प्रगति होती है।

इस प्रकार साधक, साधन, साध्य इन सब अवस्थाओ मे सद्प्रवृत्तियाँ अपनी उपादेयता बनाये रखती है। इनका निषेध कही नही कहा है। यह अवश्य है कि ये निरन्तर नही चल सकती। प्रवृत्ति के अन्त मे निवृत्ति आती ही है। उस निवृत्ति का भी महत्त्व है ।उस निवृत्ति से शक्ति का प्रादुर्भाव होता है जो सद् प्रवृत्ति करने म सहायक होता है। इस प्रकार सद् प्रवृत्ति (समिति) और निवृत्ति (गुप्ति) ये दोनो साधन रूप है या यो कहे कि साधना की प्रगति के लिये ये दाए-बाएँ पैर के समान है। साधना मे दोनो ही का महत्त्व है। इनमे से कोई भी उपेक्षा करने योग्य नही हैं।

दया, दान, करुणा, वात्सल्य, अनुकम्पा, मैत्री, वैयावृत्त्य (सेवा), परोपकार आदि भाव गुण है, दोष नही। गुण स्वभाव रूप होते है। स्वभाव को ही धर्म कहते है। अत ये धर्म है। यह नियम है कि स्वभाव या धर्म से कर्म का बध नही होता है। कर्म का बध तो अधर्म से होता है। अधर्म, दोष, पाप व विभाव

पर्यायवाची हैं । गुण, स्वभाव या धर्म सदैव उपादेय होता है, कभी भी, कही भी त्याज्य या हेय नही होता है । अत उपर्युक्त गुण सदैव उपादेय है इन्हें हेय या त्याज्य कहना या समझना भूल है । साधक का भला इस भूल को दूर करने में है। भूल बनाये रखने मे नही।

यही प्रश्न उठता है कि फिर पुण्य कर्म क्या है ? उत्तर मे कहना होगा कि सद् प्रवृत्तियों तथा सयम से आत्मा का जितना-जितना मोह-कषाय घटता जाता है उतनी-उतनी आत्मा निर्मल (पवित्र) होती जाती है । उसका चैतन्य गुण प्रकट होता जाता है अर्थात् आत्मिक (आध्यात्मिक) विकास होता जाता है । यह पुण्य तत्त्व है । 'जहा अतो तहा बाहि' अर्थात् जैसा भीतर वैसा बाहर । आचाराग आगम के इस सिद्धान्तानुसार आध्यात्मिक विशुद्धि के साथ भौतिक विकास होता जाता है । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन आदि पौद्गलिक पदार्थों की प्राप्ति व शक्ति मे वृद्धि होती जाती है । इसी को पुण्य कर्म कहा जाता है । पुण्य शुभ रूप ही होता है, अशुभ रूप नही । अर्थात् इससे जीव को किसी भी प्रकार की हानि या दुःख नही होता है । पुण्य की सभी प्रकृतियाँ अघाती होती है । अत ये आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नही करती ।

गुण के क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्ति से पुण्य कर्म के प्रकृति, प्रदेश और अनुभाग का सृजन होता है, स्थिति का नही । अत गुण बधन कारक होते ही नहीं है । गुण का क्रियात्मक रूप दया, दान आदि पुण्य है, अत पुण्य भी गुण का फल ही है ।

यह नियम है कि दोष पाप है ओर निर्दोषता गुण है । कर्मो का बध दोष से होता है, निर्दोषता से नही । प्रत्युत् निर्दोषता से कर्म टूटते ही है । अर्थात् जितना-जितना राग रूप दोष घटता जाता है - निर्दोषता प्रकट होती जाती है, उतने-उतने कर्म उसी क्षण क्षीण होते जाते है । राग के पूरा क्षय होते ही घाती कर्मो का पूर्ण क्षय हो जाता है और कैवल्य अवस्था प्रकट हो जाती है । कैवल्य होने पर अनन्त दान की उपलब्धि हो जाती है जो अनन्त करुणा व दया की द्योतक है । वीतराग विश्व वत्सल होते है । दया, दान, करुणा, वात्सल्य आदि स्वाभाविक गुणो को दोष या विभाव मानना और इसके फलस्वरूप ससार परिभ्रमण मानना आगम विरुद्ध है । गुण या दोष, इन दोनो ही के दो दो रूप होते है (१) भावात्मक और (२) क्रियात्मक । भावात्मक रूप का सम्बन्ध जीव के भाव के साथ होता है और क्रियात्मक रूप का सम्बन्ध बाह्य जगत से होता है । इसलिये भावात्मक रूप का प्रभाव या फल जीव के भाव या स्वभाव पर

तत्काल व सीधा पड़ता है और क्रियात्मक रूप का फल बाह्य जगत पर पड़ता है। दोष के भावात्मक रूप के फलस्वरूप घाती कर्मो का बध होता है और गुण के भावात्मक रूप के फल स्वरूप घाती कर्मो का क्षय होता है। दोष या गुण के भावात्मक रूप का सम्बन्ध जीव के भावो के साथ होने से घाती कर्मों के बध और क्षय मे जीव सदैव समर्थ और स्वाधीन होता है। वह अपने राग, द्वेष, मोह आदि दोषरूप कषाय भाव का जिस क्षण चाहे उसी क्षण त्याग कर अपने घाती कर्मो को नष्ट कर सकता है और केवलज्ञान व केवलदर्शन की उपलब्धि कर सकता है, कारण कि घाती कर्मो का सम्बन्ध जीव के विद्यमान दोषों से है। दोष के घटते, दूर होते ही घाती कर्म क्षीण या क्षय हो जाते हैं। अर्थात् दोष जितने-जितने अश मे घटते जाते है घाती कर्म उतने ही उतने अश मे निर्जरित होते जाते हैं और गुण प्रकट होते जाते हैं।

पाप मुक्ति में बाधक है, पुण्य नहीं

मुक्ति-प्राप्ति का मार्ग बतलाते हुये आचार्य कहते है - 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' तत्त्वार्थसूत्र १ १ अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से मुक्ति मिलती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का बाधक कारण मिथ्यात्व मोहनीय हे जो मोहनीय कर्म की प्रकृति है और पाप प्रकृति है तथा सम्यक्चारित्र का बाधक कारण अनतानुबधी आदि कषाय है जो चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ है एव पाप प्रकृतिया है। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र इन तीनो के बाधक कारण पापरूप दर्शन मोहनीय एव चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृतिया है। मोहनीय कर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म या कारण इनका बाधक नही है। तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त कराने वाली सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनो साधनाओ का बाधक व घातक कारण मोहनीय कर्म है, जो पाप कर्म है।

मोह अर्थात् कषाय ही समस्त पाप कर्मो के स्थिति-बध व अनुभाग-बध का हेतु है। मोह क्षीण होने से समस्त पाप प्रकृतियो का बध क्षीण होने लगता है। मोह के क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय ये तीनों घाती कर्म जो एकात पाप कर्म है, क्षय हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवल ज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवल दर्शन और अतराय कर्म के क्षय से अनत दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये पाँच लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और जब तक चारित्र मोह का अश मात्र भी उदय रहता है तब तक घाती कर्मो का

बध होता रहता है। जैसा कि दसवें सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान में सज्वलनलोभ अति सूक्ष्म कषाय का उदय रहता है। इस उदय से ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों का बध निरतर होता रहता है। घाती कर्म ही जीव के गुणों का घात करते है जिससे केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि जीव के गुण प्रकट नही होते हैं। इन गुणों के प्रकट हुये बिना मुक्ति कदापि सभव नही है। अत मुक्ति में, मुक्ति के मार्ग सम्यग्दर्शन - ज्ञान- चारित्र मे बाधक कारण घातीकर्म ही है जो एकान्त पापरूप है। अत पाप कर्म ही मुक्ति व मुक्ति के मार्ग में बाधक है, पुण्य कर्म नही।

पुण्य की समस्त प्रकृतियाँ अघाती कर्मों की है। अघाती कर्म उसे ही कहते है जो जीव के किसी गुण का अश मात्र भी घात न करे, जिससे जीव को कुछ भी हानि न हो। यदि अघाती कर्म जीव को कुछ भी हानि पहुँचाने वाले होते, अश मात्र भी किसी गुण का घात करने वाले होते तो जैनागम में इन्हें देशघाती कहा जाता। इन कर्मों के अघाती विशेषण इसीलिये लगाया गया है कि घाती कर्मों के समान कोई इन्हे भी जीव के किसी गुण का अश मात्र भी घात करने वाला न समझ ले अन्यथा इनके अघाती विशेषण लगाने की आवश्यकता ही नही थी। अभिप्राय यह है कि पुण्य से न तो किसी साधना मे बाधा पड़ती है, न यह मुक्ति में बाधक है और न इससे जीव के किसी गुण का घात ही होता है। मुक्ति प्राप्ति मे, मुक्ति प्राप्ति के मार्ग (साधना) मे केवल घाती - पाप कर्म ही बाधक होते हैं तथा ये ही जीव के ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण के घातक होते है। यही नही जब तक पुण्य कर्मों का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़कर चतु स्थानिक नही हो जाता, तब तक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नही होता है और यही अनुभाग बढकर उत्कृष्ट नही हो जाता है तब तक यथाख्यात चारित्र नही होता है।

■

पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी साधना से नहीं

कर्म-बध पुण्य रूप हो या पाप रूप, घाती हो या अघाती या अन्य किसी प्रकार का हो वह उदय मे आकर अपना फल देकर क्षय (निर्जरित) होता है। कर्मक्षय की यह प्रक्रिया प्राकृतिक है। साधक कर्म का क्षय सवर, निर्जरा आदि साधना के द्वारा भी करता है। यहाँ इसी दृष्टि से पुण्य के क्षय पर विचार किया जा रहा है। जो पुण्य को किसी भी दृष्टि से हेय मानते है उन्हे पुण्य का क्षय करना अभीष्ट होगा और पुण्य का क्षय दया, दान, सेवा, करुणा आदि सद्-प्रवृत्तियो, सयम, त्याग, तप, क्षमा, मार्दव, आर्जव, ज्ञान-दर्शन - चारित्र पालन रूप किसी भी साधना से नही हो सकता, क्योकि इन सबसे कषाय मे कमी होती है और यह नियम है कि जितनी कषाय में कमी होती है उतनी ही परिणामों मे विशुद्धि बढ़ती है और विशुद्धि की वृद्धि से पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती है। यह भी नियम है कि सयम-त्याग-तप और ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना से कषाय मे विशेष रूप से कमी होती है। जो विशेष विशुद्धि मे कारण है। यह विशुद्धि सद् प्रवृत्तियो से होने वाली विशुद्धि से विशेष होती है। जिससे कर्म सिद्धान्त के अनुसार पूर्व अर्जित सत्ता मे स्थित पाप प्रकृतियो के अनुभाग व स्थिति मे विशेष कमी होती है एव पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। यह कहा जा सकता है कि पुण्य के अनुभाग का सद् प्रवृत्तियो मे जितना उत्कर्ष (उत्कर्षण) होता है उससे भी सयम, त्याग, तप व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना से पुण्य-प्रकृतियो के अनुभाग मे विशेष उत्कर्ष (उत्कर्षण) होता है, वृद्धि होती हे। यही कारण है कि साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विशुद्धि कर जितना- जितना गुणस्थान पर आगे बढ़ता जाता है उतना ही अधिक पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग भी बढ़ता जाता है। कहा भी है-

तत्रोत्कृष्टविशुद्धपरिणामनिमित्त सर्वशुभप्रकृतीनामुत्कृष्टानुभागबन्ध ।—

—राजवार्तिक, ६ ३

अर्थात् उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम से समस्त शुभ (पुण्य) प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध होता है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सयम, त्याग, तप व ज्ञान - दर्शन - चारित्र रूप साधना पुण्य के उपार्जन व उत्कर्ष मे हेतु है, पुण्य के अनुभाव के क्षय मे लेशमात्र भी नही। इस प्रकार सवर - निर्जरा रूप सयम - त्याग तप आदि किसी भी साधना से पुण्य का क्षय हो नही सकता। इनसे तो पुण्य के अनुभाग म वृद्धि ही होती है। यह सर्वविदित है कि पुण्य - पाप तत्त्व का सम्बन्ध उनके अनुभाग से ही है, स्थिति बध से नही । दया, दान, परोपकार, वात्सल्य, आदि सद्-प्रवृत्तियो से पुण्य का उपार्जन ही होता है।

शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ अर्थात् - शुभ योग (पुण्य) मोक्ष मार्ग है और अशुभ योग (पाप) बंध का मार्ग है। अनन्त सामर्थ्यवान् वीतराग प्रभु के भी चौदहवे गुणस्थान के पूर्व तक नियम से सदैव शुभ योग रहता ही है। अनन्तदानी होना वीतराग का स्वभाव ही है। आशय यह है कि साधना के अन्तिम क्षण तक, मुक्ति के पूर्व क्षण तक पुण्य का सद्भाव बना ही रहता है।

■

पुण्य-पाप के अनुबंध की चौकड़ी

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते त जहा सुभे णाममेगे सुभे, सुभे णाममेगे असुभे, असुभे णाममेगे सुभे, असुभे णाममेगे असुभे।

—स्थानांग चतुर्थ स्थान, चतुर्थ उद्देश

कर्म चार प्रकार का कहा गया है जैसे –

(१) **शुभ और शुभ** — कोई पुण्य कर्म शुभ प्रकृति वाला होता है और शुभानुबधी होता है। जैसे सातावेदनीय के उदय मे साता वेदनीय का अनुभाग बध होना।

(२) **शुभ और अशुभ** – कोई पुण्य कर्म शुभ प्रकृति वाले के उदय में अशुभानुबधी होता है। जैसे सातावेदनीय के उदय में असातावेदनीय का अनुभाग बध होना।

(३) **अशुभ और शुभ** — अशुभ (पाप) कर्म प्रकृति के उदय मे शुभ (पुण्य) कर्म प्रकृति का अनुबध होना जैसे असातावेदनीय के उदय मे सातावेदनीय के अनुभाग का बध होना।

(४) **अशुभ और अशुभ** — अशुभ (पाप) कर्म की प्रकृति के उदय मे अशुभ (पाप) प्रकृति का बध होना - जैसे असातावेदनीय के उदय मे असातावेदनीय, नीच गोत्र, अशुभ नाम का अनुभाग बध होना।

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, त जहा - सुभे णाममेगे सुभेविवागे, सुभेणाममेगे असुभविवागे, असुभे णाममेगे सुभविवागे, असुभे णाममेगे असुभ विवागे।
—स्थानाग ४, उद्देशक ४, सूत्र ६०३

कर्म चार प्रकार का है—

(१) **शुभ और शुभ विपाक** —कोई कर्म शुभ होता है और उस का विपाक भी शुभ होता है।

(२) **शुभ और अशुभ विपाक**— कोई कर्म शुभ होता है और उसका विपाक अशुभ होता है।

(३) **अशुभ और शुभ विपाक** —कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक शुभ होता है।

(४) **अशुभ और अशुभविपाक** - कोई कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है। इनमे से दूसरे एव तीसरे भग सक्रमण करण से सम्भव है ।

पुण्य-पाप के अनुबध के चार प्रकार है - (१) **पापानुबंधी पाप** — पाप के

उदय मे पाप कर्म का बध होना, (२) **पुण्यानुबंधी पाप** – पाप के उदय मे पुण्य का बध होना (३) **पापानुबंधी पुण्य** – पुण्य के उदय मे पाप का बध होना और (४) **पुण्यानुबंधी पुण्य** - पुण्य के उदय में पुण्य का अनुबध होना। इस चौकड़ी मे पुण्य व पाप दो प्रकार से दिये गये हैं। एक प्रकार मे बध के रूप में पुण्य और पाप को लिया गया है जिसे पुण्यानुबध व पापानुबध कहा गया है। दूसरे प्रकार मे उदय के रूप मे पुण्य-पाप का ग्रहण किया है जिसे पुण्य का उदय व पाप का उदय कहा गया है।

प्रत्येक छद्मस्थ जीव के प्रतिपल पुण्य व पाप इन दोनों कर्मों का बध व उदय होता रहता है। ऐसी स्थिति मे पुण्य और पाप इन दोनों कर्मों के उदय मे से पुण्य के उदय को लिया जाय या पाप के उदय को लिया जाये इसी प्रकार दोनों कर्मों के बध मे से पाप के बध को लिया जाय या पुण्य के बध को लिया जाय, यह प्रश्न उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य सातवी नारकी की भयकर पाप प्रकृति का बध कर रहा है, उस समय वह अनन्त पुण्य रूप पचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, निर्माण, अगुरुलघु आदि अनेक पुण्य प्रकृतियो का बध भी कर रहा है और इन पुण्य प्रकृतियो का उदय भी उसके है तथा ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि पाप कर्मो का उदय भी है अर्थात् उसके पुण्य व पाप दोनो कर्मों का उदय एव दोनो का बध हो रहा है। ऐसी स्थिति में उसके पाप का उदय माना जाय या पुण्य का उदय माना जाय, पाप का बध माना जाय या पुण्य का बध माना जाय और उपर्युक्त चौकड़ी का कौनसा प्रकार या भेद माना जाय इसका निर्णय कैसे किया जाय, यह प्रश्न व जिज्ञासा उठना स्वाभाविक ही है।

यहाँ प्रथम पापानुबधी पाप किसे माना जाय इस पर विचार करते है। कर्म प्रकृतियो के बध के आधार पर तो यह निर्णय हो नही सकता है, क्योकि पुण्य और पाप कर्मो की प्रकृतियो का बध दशवे गुणस्थान तक निरन्तर होता रहता है। इसका निर्णय सक्लेश व विशुद्धि के आधार पर ही किया जा सकता है। कारण कि सक्लेश भाव कषाय की वृद्धि से होता है जिससे वर्तमान मे बधने वाली तथा भूतकाल मे बधी हुई सत्ता मे स्थित व उदयमान समस्त पाप प्रकृतियो की स्थिति व अनुभाग बध मे वृद्धि होती है। पुण्य- प्रकृतियो का अनुभाग क्षीण होता है तथा पूर्व बद्ध पुण्य-प्रकृतियो का पाप-प्रकृतियो मे सक्रमण होता है। इस प्रकार सक्लेश भाव पुण्य का क्षय व पाप की वृद्धि करने वाला होने से पापानुबधी होता है। इसी प्रकार विशुद्धि भाव कषाय मे कमी

होने व आत्मा के पवित्र होने का सूचक है। इससे वर्तमान में बधने वाली तथा भूतकाल मे बधी हुई पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है, पाप प्रकृतियो का अनुभाग क्षीण होता है तथा पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण होता है। इस प्रकार विशुद्धि भाव पाप का क्षय व पुण्य की अभिवृद्धि करने वाला होने से पुण्यानुबधी कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि पापानुबधी और पुण्यानुबधी का निर्णय सक्लेश व विशुद्धि भाव के आधार पर ही किया जा सकता है।

इसी प्रकार उदय को ले। घाती कर्मों की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप होती ही नही है तथा चारो ही घाती कर्मो का उदय दशवे गुणस्थान तक व बध नवम गुणस्थान तक नियम से रहता है। यदि इनके उदय को पाप रूप मे ग्रहण किया जाय तो केवली के अतिरिक्त शेष समस्त जीवो मे सदैव पाप का ही उदय मानना होगा। जिससे पापानुबधी पुण्य और पुण्यानुबधी पुण्य इन दो प्रकारो के अभाव का प्रसग उत्पन्न हो जायेगा। अत यहाँ पर उदय मे अघाती कर्म की अशुभ व शुभ प्रकृतियॉ ही अभीष्ट है और उनमें भी यदि तैजस - कार्मण शरीर, अगुरुलघु आदि पुण्य प्रकृतियो को ही उदय मे ग्रहण किया जावे तो सभी जीवो के सदैव पुण्य का ही उदय मानना होगा। अत पुण्य प्रकृतियो मे से धवला टीका मे मुख्यत साता वेदनीय के उदय को पुण्य के उदय मे एव असातावेदनीय को पाप के उदय मे ग्रहण किया है, जो उचित लगता है। अत उपर्युक्त विवेचन के अनुसार पुण्य और पाप की चौकड़ी इस प्रकार है–

(१) **पापानुबन्धी पाप** – असातावेदनीय के उदय मे सक्लेश भावो से होने वाला कर्मबध पापानुबन्धी पाप है।

(२) **पुण्यानुबधी पाप** - असातावेदनीय के उदय मे विशुद्धि भावो से होने वाला कर्मबन्ध पुण्यानुबन्धी पाप है।

(३) **पापानुबन्धी पुण्य** - सातावेदनीय के उदय मे सक्लेश भावो से होने वाला कर्मबन्ध पापानुबन्धी पुण्य है।

(४) **पुण्यानुबन्धी पुण्य** - सातावेदनीय के उदय मे विशुद्धि भावो से होने वाला कर्मबन्ध पुण्यानुबन्धी पुण्य है।

पुण्य का पालन : पाप का प्रक्षालन

* आत्मा जिससे पवित्र हो वह पुण्य है। [१]
* आत्मा क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव से पवित्र होती है।
* क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव मोक्ष के हेतु हैं। [२]
* इन भावों से कषाय क्षीण होता है।
* कषाय क्षीण (क्षय) होने से सत्ता में स्थित पाप कर्मों के स्थिति-बध एव अनुभाग-बध का अपकर्षण (क्षय) होता है । अर्थात् पाप कर्मों की निर्जरा होती है। [३]
* कषाय की क्षीणता से आध्यात्मिक (आतरिक) एव भौतिक (बाह्य) विकास होता है। आध्यात्मिक विकास से घाती और अघाती कर्मों की समस्त पाप प्रकृतियाँ क्षीण होती है जिससे आत्मा की शुद्धि मे वृद्धि होती है।
* भौतिक विकास से शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि होती है अर्थात् पुण्य का उपार्जन होता है।
* पुण्य के उपार्जन से पाप के आस्रव का निरोध होता है
* पापास्रव का निरोध सवर है।
* पाप और पुण्य कर्मों का फल उनके अनुभाग के रूप मे मिलता है। अत पाप-पुण्य का आधार उनका अनुभाग है[४] । स्थिति बध व प्रदेश बध मे फल देने की शक्ति नही है।
* स्थिति बध और प्रदेश बध की न्यूनाधिकता से कर्मों का फल न्यूनाधिक नही होता है।
* पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय क क्षय से कमी से होता है, कषाय के उदय से नहीं होता है। कषाय का पूर्ण क्षय क्षपक श्रेणी मे होता है अत वही बध्यमान पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध होता है।
* पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग उत्कृष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त पश्चात केवल ज्ञान हो जाता है।
* पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर पुण्य परिपूर्ण हो जाता है फिर पुण्य का उपार्जन शेष नही रहता है। अत वीतराग के साता वेदनीय को छोड़कर अन्य किसी पुण्य कर्म का उपार्जन नही होता है।
* पुण्य के प्रदेशो का अर्जन (पुण्याश्रव) और पुण्य के अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) अर्थात् शुद्धोपयोग से ही होता है। अशुद्धोपयोग से नही होता है।अशुद्धोपयोग से पाप का आश्रव ही होता है।
* शुद्ध आत्मा के अभिमुख करने वाले परिणाम अथवा औपशमिक क्षायोपशमिक, क्षायिक भाव शुद्धोपयोग है।
* पुण्य के परिणाम से पूर्व सचित पाप कर्मों के स्थिनि बध व अनुभाग बध का अपवर्तन (क्षय) होता है एव पाप कर्मों का पुण्य कर्मों मे सक्रमण होता

है। जिससे पाप कर्मों के प्रकृति बध व प्रदेश बध का क्षय होता है।

* अत पुण्य का परिणाम पाप कर्मों के प्रकृतिबध, स्थिति बध, अनुभाग बध और प्रदेश बध इन चारो प्रकार के बधनो के क्षय में हेतु है।
* पुण्य की समस्त प्रकृतियाँ अघाती ही होती हैं, सर्वघाती व देशघाती नही होती है अत पुण्य से आत्मा के किसी गुण का कभी भी अश मात्र भी घात नही होता है।
* पुण्य कर्म चार है - वेदनीय कर्म, गोत्र कर्म, नाम कर्म और आयु कर्म। इन चारो कर्मों की पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन चारो कषायों के क्षय (क्षीणता) से होता है।
* क्रोध (द्वेष, क्रूरता) कषाय के क्षय व कमी से (अनुकपा, करुणा आदि) से साता वेदनीय का उपार्जन होता है।[७]
* मान कषाय (मद) के क्षय व कमी से (निरभिमानता, विनम्रता से) उच्चगोत्र का उपार्जन होता है।[८]
* माया (वक्रता) कषाय के क्षय व कमी से (ऋजुता से) शुभ नाम कर्म का उपार्जन होता है।[९]

लोभ कषाय के क्षय से (सतोष से) व कमी शुभ आयु कर्म का उपार्जन होता है।[१०]

* इन चारो कर्मों की पाप प्रकृतियो का आश्रव व बध उपर्युक्त चारों कषायो के उदय से होता है।[११]
* पुण्य का आश्रव (प्रदेश) व अनुभाग का सर्जन कषाय के क्षय (क्षीणता) से होता है। परन्तु पुण्य कर्म का स्थिति बध (शुभ आयु कर्म को छोड़कर) उदय में रहे शेष कषाय से होता है।
* पुण्य के अनुभाग की वृद्धि स्थिति बध का क्षय करने वाली होती है।
* वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति के अन्तिम समय जब पाप-पुण्य कर्मो का पूर्ण क्षय होता है तब तक पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। अश मात्र भी क्षय नही होता है। केवली समुद्घात से भी उत्कृष्ट अनुभाग मे क्षीणता नही आती है।[१२]
* पुण्य कर्म के स्थिति-बध का क्षय पाप कर्म के स्थिति बध के क्षय के साथ स्वत होता जाता है, इसके लिये किसी साधना की आवश्यकता नही होती है।
* पुण्य कर्म किसी भी गुण का घातक नही है। पुण्य कर्म का उदय एव उसका सदुपयोग आत्मोत्थान मे सहायक होता है।
* यह नियम है कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि से पाप तथा पुण्य दोनो कर्मो के स्थिति बध का अपवर्तन होता है, जिससे ससार घटता है। अत पुण्य

का उपार्जन ससार भ्रमण घटाने में सहायक होने से उपादेय है।

* मनुष्य भव के बिना मुक्ति नही मिलती है और मनुष्य भव अनत पुण्य से ही मिलता है। अत अनत पुण्यवान को ही मुक्ति मिलती है।
* पुण्य का भावात्मक व आतरिक रूप सरलता, मृदुता, विनम्रता, करुणा आदि गुण है। ये जीव के स्वभाव हैं। पुण्य का क्रियात्मक व बाह्य रूप दान, दया, सेवा, स्वाध्याय, सत-चर्चा, सत्-चिंतन आदि है।
* पुण्य का आन्तरिक फल पाप कर्मों का क्षय करना है और पुण्य का बाह्य व आनुषगिक फल शरीर, इन्द्रिय आदि की उपलब्धि है, पुण्य कर्म प्रकृतियो का उपार्जन है। यह फल न साध्य है न साधना है, अपितु साधना का सहयोगी अग है।
* पाप कर्म लोहे की बेड़ी के समान ससार कारागार मे आबद्ध करने वाला है, अत अकल्याणकारी है, दोष है, दूषण है।
* पुण्य कर्म स्वर्णाभूषण (नागल्या) के समान जीवन का शृगार है शोभास्पद है। स्वर्ण की बेड़ी नही है।
* साराश यह है कि पुण्य के पालन से पाप का प्रक्षालन होता है।[१४] जिससे मुक्ति की प्राप्ति होती है।

सन्दर्भ

१ तत्त्वार्थ सूत्र अ ६ सूत्र २-३ की राजवार्तिक टीका व अन्य प्राचीन टीकाएँ

२ जयधवल पुस्तक १, पृष्ठ ५ तथा धवल पुस्तक ७, पृष्ठ ९

३ पचसग्रह का उद्वर्तन, अपवर्तन, सक्रमण प्रकरण

४ तत्त्वार्थ सूत्र अ ६ सूत्र २-३ की राजवार्तिक टीका

५ जय धवल पुस्तक १, पृष्ठ ९६ गाथा ५२

६ आगमभाषयौशमिकक्षायोपशमिकक्षायिक भावत्रय भण्यते। अध्यात्मभाषाया पुन शुद्धात्माभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग- इत्यादिपर्यायसज्ञा लभते॥–समयसार तात्पर्यवृत्ति गाथा ३२०, द्रव्यसग्रह टीका, गाथा ४५

७ ८-९-१०-११ भगवती सूत्र शतक ८ उ ९, शतक ७ उ ६ तथा तत्त्वार्थसूत्र अ ६ सूत्र १२ से २५ तक

१२ धवल पुस्तक १२, पृष्ठ १८

१३ बहुश्रुत प श्री समर्थमलजी म सा., श्री रूपचन्द जी कटारिया आदि के साथ समयसार की गाथा पर विचार।

१४ मूक माटी में पुण्य प्रकरण, लेखक आचार्य श्री विद्यासागर जी म सा

पुण्य : सोने की बेड़ी नही, आभूषण है

विषय-कषाय जन्य सुखो की पूर्त्ति अपने से भिन्न (पर) पदार्थों से होती है। ऐसा सुख-भोग विकार है, विभाव है, दोष है। इन्द्रियो के विषय भोग, सम्मान, सत्कार आदि की पूर्त्ति शरीर, इन्द्रिय, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, बल आदि के आधीन है। अत विषय-कषाय का भोगी व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, मन, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, धन-सम्पत्ति आदि का दास या पराधीन हो जाता है, इनसे बध जाता है। अत भोग से व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, भोग्य वस्तुओ आदि की पराधीनता मे, बधनो मे, कारागार मे आबद्ध हो जाता है। इस प्रकार पाप बेड़ी के समान है। बेड़ी दोष व दड की सूचक है , दु ख की द्योतक है। अत बेड़ी लोहे की ही होती है, बेडी कही पर भी , कभी भी स्वर्ण की नही बनायी जाती है। अत सोने की बेड़ी कहना बेड़ी शब्द के अर्थ को खोना है। विषय-कषाय आदि पापों का सेवन करने वाला व्यक्ति अपने सुख की प्राप्ति के लिये हिंसा, झूठ, शोषण, अपहरण, धोखाधड़ी, कलह, सघर्ष आदि अशोभनीय, अनादरणीय आचरण करता है। अत दोष दूषण है।

पाप के विपरीत पुण्य है। क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो मे, पापो मे कमी होने व इनका क्षय होने से क्षमा, मृदुता, सरलता, सज्जनता, विनम्रता, उदारता, वत्सलता आदि गुण प्रकट होते है, जिनसे आत्मा पवित्र होती है। दोषो-पापो का क्षय होना, गुणो का प्रकट होना और आत्मा का पवित्र होना ये तीनो युगपत् होते है, इन तीनो में एकता एव अभिन्नता है। दोषो व पापो का क्षय होना, गुणो का प्रकट होना, आत्म-स्वभाव का प्रकट होना है, आत्म धर्म हे और आत्मा का पवित्र होना पुण्य है। इस प्रकार पाप का क्षय, धर्म और पुण्य ये तीनो एक ही अवस्था के रूप हैं। पाप-कषायो के क्षय व कमी से क्षमा, मृदुता, सरलता आदि आत्म-गुणो का प्रकट होना आत्मा के लिए शोभास्पद है तथा इन गुणो का क्रियात्मक रूप , सहृदयता, विनम्रता, सवेदनशीलता, मधुरता, सज्जनता, उदारता, परोपकार , सेवा आदि सद्प्रवृत्तियॉ व्यक्ति के जीवन के लिए शोभास्पद है तथा इन सद्प्रवृत्तियो से सुदर समाज का निर्माण होता है, जो समाज के लिये शोभास्पद है। इस प्रकार पुण्य आत्मा, जीवन एव समाज इन सबके लिये शोभास्पद होने से अलकार है, आभूषण है, बेडी नही। भूषण है, दूषण नही। पुण्य को आभूषण की उपमा देना भी एक अर्थ मे अपूर्ण है। कारण कि आभूषण शरीर पर सदैव धारण नही किया जाता है तथा शरीर से आभूषण पृथक् होता है। अत यह उपमा सद्प्रवृत्ति रूप पुण्य पर ही घटित होती है, आत्म-गुणो के प्रकट होने रूप पुण्य पर घटित नही होती है। आत्म-गुण आत्मा के अभिन्न अग हैं, जो आत्मा से अलग नही होते है और सद्प्रवृत्ति यदा-कदा होती है, निरन्तर नही होती है। अत आत्मगुण तो शरीर के समान है और सद्प्रवृत्ति आभूषण के समान है।

■

शुभ योग (सद्-प्रवृत्ति) से कर्म क्षय होते है

जैनागमो में विषय, कषाय, हिंसा, झूठ आदि असद्-प्रवृत्तियो को सावद्य योग, अशुभ योग व पाप कहा गया है तथा दया, दान, करुणा, वात्सल्य, वैयावृत्य आदि सद्-प्रवृत्तियो को शुभ योग व पुण्य कहा गया है। साथ ही शुभ योग को सवर भी कहा है। शुभ योग को सवर कहने का अर्थ यह है कि शुभ योग से कर्म बध नही होता है तथा यह भी कहा गया है कि शुभ योग से कर्म क्षय होते है अर्थात् कर्मों की निर्जरा भी होती है। शुभ योग सवर और निर्जरा रूप है अर्थात् दया, दान, अनुकम्पा, करुणा, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, मैत्री आदि सद्-प्रवृत्तियो से कर्म बध नही होता है, प्रत्युत् कर्मो का क्षय होता है।

'शुभ योग से कर्म बध नही होता है वरन् कर्म क्षय होता है' यह मान्यता जैन धर्म की मौलिक मान्यता है और प्राचीन काल से परम्परा के रूप मे अविच्छिन्न धारा से चली आ रही है। 'शुभ योग सवर है' यह मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे तो आज भी ज्यो की त्यो विद्यमान है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय मे वर्तमान मे यह सर्वमान्य नही रही है । लेकिन आज के दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी इसे माने अथवा न माने, परन्तु प्राचीन काल मे दिगम्बर सम्प्रदाय मे यह मान्यता सर्वमान्य ही रही है। इसके अनेक प्रमाण ख्यातिप्राप्त दिगम्बर आचार्य श्री वीरसेनस्वामी रचित प्रसिद्ध धवलटीका एव जयधवलटीका मे देखे जा सकते है। उन्ही मे से कसायपाहुड की जयधवलटीका से एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

सुह-सुद्ध परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।
ओदइया बधयरा उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभयवज्जिओ होई

–जयधवल, पुस्तक १ पृष्ठ ५

अर्थात् शुभ और शुद्ध परिणामों से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मों का क्षय हो ही नही सकता। कहा भी है—

औदयिक भावो से कर्म-बध होता है। औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावो से मोक्ष होता है तथा परिणामिक भाव बध और मोक्ष इन दोनों के कारण नही है।

उपर्युक्त उद्धरण मे टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने जोर देकर स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि क्षायोपशमिक भाव (शुभ भाव) मोक्ष का हेतु है, इससे कर्म क्षय होते है, कर्म-बध नही होते है। कर्म-बध का कारण तो एक मात्र उदयभाव ही है।

श्री वीरसेनाचार्य ने उपर्युक्त प्रसग मे सीधे शब्दो मे विधिपरक अर्थ मे यह

नही कहा कि शुद्ध व शुभ भाव से कर्म क्षय होते है प्रत्युत् निषेधात्मक अर्थ में जोर देकर यह कहा है कि यदि शुद्ध व शुभ भाव के कर्म क्षय न हो तो कर्म क्षय हो ही नही सकते। श्री वीरसेनाचार्य का इस प्रकार से निषेधात्मक अर्थपरक उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस समय जैन धर्मानुयायियो मे किसी सप्रदाय या आचार्य की यह मान्यता रही है कि शुभभाव से कर्म क्षय नही होते हैं। इसी मान्यता का निषेध करने के लिए आचार्य ने उपर्युक्त रूप में कथन किया है। यदि इस प्रकार की मान्यता उस समय प्रचलित नही होती तो उसका निषेध करने की आवश्यकता ही नही पड़ती। श्री वीरसेनाचार्य ने शुभ भाव से कर्म क्षय नही होते हैं अर्थात् कर्म बध होते हैं इस मान्यता का खडन करने के लिए ही उपर्युक्त रूप में जोरदार शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु उपर्युक्त मान्यता पर जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ ५ पर मान्यवर सम्पादक महोदय ने 'विशेषार्थ' के रूप मे अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शुभ परिणाम कषाय आदि के उदय से ही होते है क्षयोपशम आदि से नही। इसलिए जबकि औदयिक भाव कर्म-बध के कारण है, तो शुभ परिणामो से कर्म-बध ही होना चाहिये, क्षय नही।

'शुभ भाव' कषाय के उदय से होते है। यह मान्यता जयधवल के सपादक महोदय की ही नही है, अपितु यह मान्यता कुछ शताब्दियो से जैन धर्मानुयायियो की अनेक सम्प्रदायो मे घर कर गई है। कारण कि शुभ भावो की उत्पत्ति का कारण यदि कषाय के उदय को न माना जाए तो शुभ भाव से कर्म-बध होता है यह नही माना जा सकता, जो उनको इष्ट नही है।

उपर्युक्त मान्यता का विश्लेषण करने के लिए सर्व प्रथम यह विचार करना है कि शुभ भाव की उत्पत्ति का कारण कषाय का उदय है या नही। इस सम्बन्ध मे निम्नाकित तथ्य चितनीय है—

कषाय अशुभ भाव है। अशुभ भावो के उदय से शुभ परिणामो की उत्पत्ति मानना मूलत ही भूल है। यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कटु नीम का बीज (निम्बोली) बोये और उसके फल के रूप मे मधुर आमो की उपलब्धि होना माने। परन्तु नियम यह है कि जैसा बीज होता है वैसा ही फल होता है, अत कषाय रूप अशुभ परिणाम के फलस्वरूप शुभ परिणामो की उत्पत्ति मानना भूल है।

'शुभ भाव' कषाय के उदय से नही कषाय की कमी या मदता से होते हैं, कारण कि कषाय का उदय, बध, सत्ता सब अशुभ है, पाप है। कषाय के उदय रूप अशुभ भाव को शुभभाव मानना पाप को पुण्य मानना है। पाप को पुण्य समझना तात्त्विक भ्रान्ति है।

शुभ भाव कषाय में कमी होने से होते है। कषाय की कमी कर्म-बध का कारण नही है। प्रत्युत् कर्म-क्षय का कारण है। वास्तविकता तो यह है कि शुभ भावों की विद्यमानता में जो कर्म-बध होते हैं वे शुभ भावो के साथ रहे हुए कषाय के उदय रूप अशुभ भावों के कारण से बधते हैं न कि शुभ भावो से। कषाय से ही सब कर्मों का स्थिति बध होता है। स्थिति बध होने पर ही कर्म बध अवस्था को प्राप्त होते है। तात्पर्य यह है कि कर्मों के स्थिति बध का कारण कषाय रूप औदयिक भाव है न कि शुभ भाव। अत विशुद्धि या शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव को कर्म-बध का कारण मानना युक्ति-युक्त नही है।

आगम व कर्म-सिद्धान्त मे घाती कर्मों की किसी भी प्रकृति को शुभ नही कहा है। समस्त प्रकृतियो को अशुभ कहा है अत कषाय भाव का उदय कभी कही पर भी शुभ माना ही नही गया है। इसके विपरीत कषाय मे कमी होने को शुभ भाव माना गया है और इसी को क्षयोपशम भाव भी कहा है। इससे स्पष्ट है कि शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव कषायो के, पाप प्रकृतियो के क्षयोपशम (कमी) से होते है, उदय से नही। यदि शुभ भाव कषायोदय से होते तो इन्हे औदयिक भाव कहा जाता, क्षायोपशमिक भाव नही कहा जाता। शुभ भावो के लिए प्रयुक्त 'क्षायोपशमिक' शब्द ही इसका स्पष्ट प्रमाण है कि 'शुभ भाव' कषाय व अशुभ कर्मो के उदय से न होकर उनके क्षयोपशम से होते हैं। अत शुभ भाव की उत्पत्ति कषाय के उदय से या किसी भी अशुभ कर्मोदय से मानना आगम-विरुद्ध है।

शुभ भाव या क्षायोपशमिक भाव कर्म क्षय के कारण है। अत धर्म रूप है। शुभ भाव किसी भी अश मे किसी भी आत्मिक गुण का लेश मात्र भी घात नही करते है। अत आत्मा के लिए किंचित् भी घातक नही है, और न किसी भी रूप मे हेय ही है। तात्पर्य यह है कि 'शुभ भाव' कषाय के उदय से नही, प्रत्युत् कषाय की कमी व क्षय से होते है।

कुछ लोगो की यह मान्यता है कि शुभ भाव मे प्रशस्त राग होता है, जो बध का कारण है। परन्तु उनकी यह मान्यता आगमानुकूल नही है, कारण कि राग का उदय मोहनीय से होता है और मोहनीय कर्म व इसकी किसी भी प्रकृति को कर्म-ग्रन्थ व आगम मे कही पर भी शुभ नही कहा है। अत 'राग 'शुभ या प्रशस्त भी होता है, यह मान्यता कर्म-सिद्धान्त व जैनागम से मेल नही खाती है। वीतराग, देव, गुरु, धर्म व गुणीजनों के प्रति जो प्रमोद भाव होता है वह राग नही अनुराग है, प्रेम है। गुरु व गुणीजनों के स्मरण व सान्निध्य से जो प्रसन्नता होती है वह भोग नही, सहज स्वभाव है। राग व भोग विकार है और प्रेम,

प्रमोद व प्रसन्नता का भाव, स्वभाव है। प्रेम, प्रमोद भाव, प्रसन्नता व अनुराग को राग मानना भूल है। राग त्याज्य होता है, अनुराग नही। राग मे आकर्षण और भोग होता है। अनुराग मे प्रमोद व प्रसन्नता होती है, भोग नही।

मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ (तटस्थता) ये चारो ही भाव शुद्ध व 'शुभ भाव' है। अत स्वभाव हैं, विभाव या दोष नही। स्वभाव गुण होता है दोष नही। अत मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव गुण है, दोष नही। दोष नही होने से ये विकार या विभाव रूप नही हैं। विकार या दोष कभी शुभ नही होता। इसी प्रकार गुण कभी दोष रूप नही हो सकता। दोष से ही कर्म-बध होते हैं, गुण से नही। अत शुभभाव रूप मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भावो को कर्म-बध व ससार भ्रमण का कारण मानना भूल है इस भूल के रहते मानवता का जागरण ही सम्भव नही है।

जहाँ मानवता का ही अभाव है वहाँ सयम, तप, सवर, निर्जरा, रूप धर्म व मोक्ष कदापि सम्भव नही है। वहाँ तो पशुता व दानवता है, जिसका मानव जीवन मे कोई स्थान नही है। अत जो मैत्री, प्रमोद, करुणा, वात्सल्य, सेवा आदि शुभ भावो व सद्गुणो को कर्म-बध व ससार-भ्रमण का कारण मानते है वे गुण को दोष, स्वभाव को विभाव, निर्जरा या मोक्ष के मार्ग को ससार का मार्ग मानते है।

विचार यह करना है कि 'शुभ भाव' से कर्म-क्षय होने की प्रक्रिया क्या है? इसके लिए हमे प्राचीन कर्मग्रन्थो व उनकी टीकाओ पर ध्यान देना होगा। प्राचीन कर्मग्रन्थो व उनकी टीकाओ मे शुभ भाव व शुभयोग के स्थान पर 'विशुद्धि' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिससे आत्मा विशुद्ध हो वही 'विशुद्धि' है। आत्मा की शुद्धि होती है कषायो मे कमी होने से। अर्थात् वर्तमान मे जितने अशो मे कषाय का उदय है उन कषायाशो मे कमी होना विशुद्धि है। यही आत्मा का पवित्र होना भी है। इसे ही शुद्धोपयोग व क्षयोपशम भाव, धर्म व पुण्य भी कहा गया है। इसके विपरीत वर्तमान मे जितने कषायाश है उनमे वृद्धि होने को सक्लेश कहा गया है। सक्लेश से आत्मा का अध पतन होता है।

कषाययुक्त प्रवृत्ति ही मोह है। अत कषाय की कमी या वृद्धि होना मोह (मोहनीय कर्म) की कमी या वृद्धि होना है। कषाय या मोह की कमी होना शुद्धोपयोग है और इसी का क्रियात्मक रूप शुभ प्रवृत्ति, शुभयोग या शुभभाव है। यह शुभप्रवृत्ति या शुभयोग आत्मशुद्धि का प्रतीक होने से धर्म रूप है और आत्म-पवित्रता का द्योतक होने से पुण्य रूप है। इस रूप मे शुभ भाव, शुभ योग, धर्म एव पुण्य समानार्थक है, समानान्तर या विरोधी नही है।

दया, दान, करुणा, वात्सल्य और मैत्री रूप भावों की विशुद्धि के प्रभाव से कर्म क्षय कैसे होते हैं, यहाँ इसी पर विचार किया जा रहा है—

कर्म सिद्धान्त का यह नियम है कि कषाय में कमी होने से शुभ भाव होते हैं, जिनसे आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मो की सत्ता मे स्थित समस्त कर्म प्रकृतियो के स्थितिबध का नियम से अपवर्तन होता है। अर्थात् उनके पूर्व बद्ध स्थिति बध मे अवश्य ही कमी होती है। साथ ही सात कर्मों की समस्त पाप प्रकृतियो के अनुभाग बध का भी नियम से अपकर्षण होता है अर्थात् पूर्व बद्ध पाप कर्मो के अनुभाग मे कमी होती है। इस प्रकार शुभभाव से पूर्व मे बधे हुए पाप कर्मो की स्थिति और अनुभाग मे न्यूनता आने रूप कर्मो का क्षय होता है। जो जीवन के लिए कल्याणकारी व उपादेय है। आगे शुभभाव के प्रभाव से प्रत्येक कर्म का क्षय कैसे होता है, इस पर विचार किया जा रहा है।

कषाय मे कमी या विशुद्धि रूप शुभ भावों से मोह मे, मोहनीय कर्म में कमी आती है। जिससे आचरण मे निर्मलता आती है अर्थात् चारित्र गुण की वृद्धि होती है एव विकल्पो मे कमी आती है, निर्विकल्पता मे वृद्धि होती है और समता पुष्ट होती है। निर्विकल्पता की वृद्धि व समता की पुष्टि से दर्शन गुण की वृद्धि व विकास होता है जिससे दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

दर्शन गुण के विकास से तत्त्व का साक्षात्कार व विवेक का उदय होता है जिससे ज्ञान गुण का विकास होता है अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है तथा दर्शन गुण के विकास से स्व-सवेदन शक्ति का विकास होता है। सवेदनशक्ति के विकास से जड़ता मिटती है। जिससे वेदना के अनुभव की स्पष्टता बढती जाती है। शुभ भाव के द्वारा समता पुष्ट होने से असातावेदनीय का प्रभाव घटता है तथा सातावेदनीय का अनुभव पुष्ट होता है।

दर्शनगुण से स्व-सवेदन का विकास होता है। अर्थात् सवेदन शक्ति तीव्र होती है जिससे क्रमश स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय का निर्माण होता है व शरीर की क्रियाओं की सरचना होती है अर्थात् नाम कर्म की शुभ प्रकृतियो का अर्जन व निर्माण होता है। दूसरे शब्दो मे कहे तो भौतिक विकास होता है।

शुद्ध व शुभ भावो से 'पर' का महत्त्व व मूल्य घटता है और स्व (आत्मा या चैतन्य) का महत्त्व व मूल्य बढ़ता है जिससे उच्च गोत्र का अनुभव होता है। कारण कि 'पर' के आधार पर अपना मूल्याकन करने से मूल्य 'पर' का ही रहता है अपना मूल्य घट जाता है या नही रहता है जिससे हीनभावना उत्पन्न होती है। हीनता का अनुभव ही नीच गोत्र है। भावो की विशुद्धि से 'पर' का मूल्य घटता है और अपना (आत्मा का) मूल्य बढ़ता है, जो उच्च गोत्र का द्योतक है।

यह सर्वविदित है कि भावों की विशुद्धि से शुभ आयु के अनुभाग का उत्कर्ष होता है एव दर्शन गुणरूप सवेदनशीलता की वृद्धि से क्रूरता मिटकर करुणाभाव की जागृति होती है। करुणा का क्रियात्मक रूप सेवा या उदारता है। उदारता 'दान' की द्योतक है। अत शुभभाव से औदार्य या दान गुण का विकास होता है जो दानान्तराय कर्म की कमी (क्षयोपशम) का द्योतक है।

शुद्ध व शुभ भाव से आयी कषाय की कमी से कामना, ममता, अहता, कर्तृत्वभाव व भोक्तृत्वभाव मे कमी आती है। कामना की कमी से अभाव के अनुभव मे कमी होती है जो लाभान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। ममता की कमी से 'परभाव' में कमी आती है, 'स्वभाव' की अभिव्यक्ति होती है, जिससे निज रस की अभिवृद्धि होती है और भोगेच्छा में कमी होती है। फलत भोग के अभाव के अनुभव मे कमी होती है, जो भोगान्तराय के क्षयोपशम की द्योतक है। अहत्व मे कमी आने से 'पर' के प्रति राग घटता है और तादात्म्य टूटता है जिससे प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। राग का रस क्षणिक विनश्वर है, तत्क्षण नष्ट हो जाता है, परन्तु प्रेम का रस नित नूतन रहता है, उसका बार-बार भोग किया जा सकता है, जो उपभोगान्तराय के क्षयोपशम का द्योतक है। भोक्तृत्व भाव की कमी से कर्तृत्व भाव मे कमी आती है तथा त्याग का सामर्थ्य आता है जो वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम का द्योतक है।

इस प्रकार शुद्ध व शुभ भाव से मोहनीय, दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय कर्म की पाप प्रकृतियो का क्षयोपशम व क्षय होता है साथ ही अघाती कर्म की शुभ (पुण्य) प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्ष भी होता है। बध किसी भी प्रकार का नही होता है। क्योकि कर्म-बध का कारण राग और द्वेष ही है जो अशुभ ही है। उसका शुभ भाव मे कोई स्थान नही है।

यही नही शुभ भाव से अशुभ (पाप) प्रकृतियो का सक्रमण (रूपान्तरण) शुभ (पुण्य) प्रकृतियों मे होता है। अर्थात् पाप प्रवृत्तियो-दुष्प्रवृत्तियो का उदात्तीकरण होकर वे शुभ प्रवृत्तियो मे परिणत होती हैं तथा शुभ भाव से अशुभ प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग का अपकर्षण शुभ प्रकृतियो के अनुभाग का उत्कर्षण होता है, जो आत्मा के उत्कर्ष का ही द्योतक है।

शुभ भाव से सर्वहितकारी प्रवृत्ति होती है जिससे सबके हृदय में शुभभाव वाले के प्रति प्रमोदभाव होता है व प्रसन्नता देने की भावना रहती है। इस प्रकार परस्पर मे अनुराग, प्रमोद व प्रेम का आदान-प्रदान होता रहता है जो राग गलाने मे, कर्म क्षय करने मे सहायक है। शुभ भावों में जाने-अनजाने जिन

व्यक्तियों का हित होता है उनके हृदय में हित करने वाले व्यक्ति के प्रति प्रेम उमड़ता है तथा वे उसकी सेवा व सहायता करने मे प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, उसके सकल्प व कार्यों को सम्पन्न करने मे अपना अहोभाग्य मानते है। अत उसके सहयोग व सेवा के लिए सदा उद्यत रहते हैं। यह उसके शुभ भाव का अवान्तर व आनुषगिक फल है। यह उत्कृष्ट भौतिक विकास का द्योतक है। यद्यपि शुभ भाव वाले व्यक्ति को उनकी सेवा की अपेक्षा नही होती है। उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति प्रकृति से स्वत होती रहती है। वह अभाव से रहित सदा ही वैभव सम्पन्न होता है।

तात्पर्य यह है कि कषाय की कमी रूप क्षायोपशमिक भाव से घाती कर्मों का क्षयोपशम रूप क्षय होता है और अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का उत्कर्षण होता है। इस प्रकार कषाय के क्षय रूप शुभ भाव से चारों घाती कर्मों का क्षय हो अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, अनन्त वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व व चारित्र की उपलब्धि होती है। अर्थात् प्राणी का आध्यात्मिक व भौतिक रूप से सर्वांगीण विकास होता है फिर उसे कुछ पाना, जानना व करना शेष नही रहता है। वह कृतकृत्य हो जाता है।

श्री वीरसेनाचार्य ने **उवसम-खय-मिस्सया व मोक्खयरा**' के द्वारा स्पष्ट कहा है कि क्षायोपशमिक भाव (शुभ, शुद्ध) से कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बध नही होते है। कर्म-बध का कारण एक मात्र उदय भाव ही है। इसे समझने के लिए हमे कर्म-बध के कारणो का विचार करना होगा।

कर्म बध चार प्रकार का है—(१) प्रकृति बध (२) स्थिति बध (३) अनुभाग बध और (४) प्रदेश बध। इनमे मुख्य है, स्थिति बध। कारण कि अनुभाग बध निर्भर करता है प्रदेश बध पर, जैसा कि कहा है—'पदेसेहि विणा अनुभागाणुववत्तीदो'

अर्थात् प्रदेश-बध के बिना अनुभाग-बध नही हो सकता तथा प्रकृति और प्रदेश-बध स्थिति-बध के अभाव मे बध सज्ञा को प्राप्त नही होते है, जैसा कि कहाँ है—

जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होति।
अपरिणदुच्छिण्णेसु य बधट्ठिदि कारण णत्थि॥

—गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड, गाथा २५७ और धवला पुस्तक १२, पृष्ठ २८९

अर्थात् प्रकृति और प्रदेश ये दोनो ही योगो के निमित्त से होते है और स्थिति व अनुभाग कषाय के निमित्त से होते है। कषाय रहित अवस्था स्थिति बध का कारण नही है, अत वह कर्म बध का कारण भी नही है।

इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए भी वीरसेनाचार्य ने कहा है—

'सादावेदणीयस्स बंधो अत्थि त्ति चेद। ण तस्स ट्ठिदि-अणुभागबन्धाभावेण सुक्ककुड्डपक्खित्तवालुवमुट्ठिव्व जीवसम्बन्धे विदिए समए चेव णिवंदतस्स बधववएसविरोहादो।'(धवला पुस्तक १३, पृष्ठ ५४)

अर्थात् स्थिति बध और अनुभाग बध के अभाव में शुष्क भीत पर फेकी गई मुट्ठी भर बालुका के समान, जीव से सम्बन्ध होने के दूसरे समय मे ही पतित हुए सातावेदनीय कर्म को 'बध' सज्ञा देने मे विरोध आता है।

तात्पर्य यह है कि स्थिति बध के अभाव मे कर्म ठहरता ही नही है, अत उसे कर्म-बध मानने मे विरोध आता है। धवलाकार ने इसे आगे स्पष्टरूप से समझाया भी है तथा जयधवला पुस्तक १ पृष्ठ ६२-६३ पर भी इसका विशेष स्पष्टीकरण किया है। आशय यह है कि स्थिति बध होने पर ही प्रकृति, प्रदेश व अनुभाग 'बध' अवस्था को प्राप्त होते है। स्थिति बध होता है कषाय से। कषाय औदयिक भाव है। अत औदयिक भाव ही बध का कारण है। औदयिक भावो मे भी गति, जाति आदि सब औदयिक भाव बध के कारण नही हैं, केवल कषाय रूप औदयिक भाव ही बध के कारण है।

दया, दान, अनुकम्पा, वात्सल्य, वैयावृत्त्य (सेवा), मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ, सरलता, मृदुता आदि समस्त सद्-प्रवृत्तियाँ या सद्गुण किसी कर्म के उदय से नही होते है, ये औदयिक भाव नही है । अत इन्हें कर्म-बध का कारण मानना सिद्धान्त के विरुद्ध है तथा समस्त सद्गुण जीव के स्वभाव रूप होते है, विभाव रूप नही। विभाव दोष रूप ही होता है, गुण रूप नही। स्वभाव से कर्म क्षय होते हैं, कर्म-बध नही। दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुग्रह, कृपा आदि समस्त सद्-प्रवृत्तियाँ गुण रूप होने से शुभ रूप ही होती है, क्षय मे ही हेतु है, बध मे नही। दोष कभी शुभ नही होता, अशुभ ही होता है। अत दोष से, पाप से, कर्म बधते है गुण से नही। ऊपर कह आए हैं कि स्थिति बध ही से कर्म 'बध रूप' को प्राप्त होते हैं। स्थिति बध होता है कषाय से। अत कषाय के उदय रूप अशुभ भाव पर ही कर्म का बध निर्भर करता है। स्थिति के क्षय से ही कर्म का क्षय होता है जैसा कि कहा है—

'पुव्वा संचियस्स कम्मस्स कुदो खओ ? ट्ठिदिक्खयादो।
ट्ठिदिखओ कुत्तो ? कसायक्खयादो।'जयधवला ।, पृष्ठ ५७

अर्थात् पूर्व सचित कर्म का क्षय किस कारण से होता है ? उत्तर—स्थिति के क्षय से। स्थिति का क्षय किससे होता है ? कषाय के क्षय से। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि स्थिति के बध से ही कर्म का बध होता है व स्थिति के क्षय से ही कर्म का क्षय होता है।

कर्म-सिद्धान्त के अनुसार स्थिति बध ही बध और स्थिति का क्षय ही कर्म क्षय है। यह सिद्धान्त पुण्य-पाप प्रकृतियो पर समान रूप से लागू होता है तथा स्थिति बध कषाय से होता है, अत स्थिति बध पाप का हो या पुण्य का, अशुभ ही है, जैसा कि कहा है—'**सव्वाण ठिई असुभा उक्कोसुक्कीसकिलेसेण**' (कर्मग्रन्थ भाग ५, गाथा ५२, गोम्माट्टसार कर्मकाण्ड गाथा १३४, तत्त्वार्थराजवार्तिक अ ६ सूत्र २)

अर्थात् समस्त कर्म प्रकृतियो (तीन शुभ आयु को छोड़कर) का उत्कृष्ट स्थिति बध उत्कृष्ट सक्लेश (कषाय) से बधता है, अत स्थिति बध अशुभ ही है, पाप का द्योतक है। यहाँ तक कि तीर्थकर नाम कर्म जैसी प्रकृष्ट पुण्य प्रकृति का उत्कृष्ट स्थिति बध भी उत्कृष्ट सक्लेश से होता है। इसके विपरीत जैसे-जैसे कषाय में कमी आने रूप विशुद्धि बढ़ती जाती है वैसे-वैसे पुण्य का स्थिति बध घटता जाता है। यही कारण है कि जीव जब अपने भावों मे विशेष विशुद्धि होने से सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है उस समय पाप प्रकृतियों के साथ पुण्य प्रकृतियो का पहले बधा हुआ दस कोटाकोटि सागरोपम का स्थिति बध भी घटकर अत कोटाकोटि सागर का रह जाता है। अर्थात् पाप प्रकृतियो के समान पुण्य प्रकृतियो में भी कषाय की कमी से स्थिति बध में कमी और कषाय की वृद्धि से स्थिति बध मे वृद्धि होती है। अत पाप प्रकृतियो के समान पुण्य प्रकृतियो का स्थिति बध भी अशुभ होता है। ठीक इसके विपरीत सिद्धान्त अनुभाग पर लागू होता है अर्थात् विशुद्धि रूप कषाय की कमी से पाप प्रकृतियो का अनुभाग घटता है और पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढ़ता है। यही कारण है कि जब जीव सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है तब समस्त पाप प्रकृतियो का अनुभाग चतु स्थानिक से घटकर द्विस्थानिक हो जाता है तथा समस्त पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग द्विस्थानिक से बढकर चतु स्थानिक हो जाता है जो आगे समस्त गुणस्थानकों मे चतु स्थानिक ही रहता है तथा पाप प्रकृतियो का अनुभाग द्विस्थानिक से बढ़ता ही नही है। (राजवार्तिक, ६ ३-४) अत पुण्य का सम्बन्ध अनुभाग से है स्थिति बध से नही। यह नियम है कि शुभ (पुण्य)

प्रकृतियो का अनुभाग विशुद्धि से और अशुभ (पाप) प्रकृतियो का अनुभाग सक्लेश से होता है। जैसा कि कहा है कि—'**सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण**।' (गोम्मट्टसार कर्मकाण्ड, गाथा १६३) यहा 'विशुद्धि' शब्द उदयमान कषाय मे कमी होने के अर्थ मे आया है। इसका अभिप्राय यह है कि कषाय मे जितनी-जितनी कमी होती जाती है उतना-उतना पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढ़ता जाता है व पुण्य प्रकृतियों की स्थिति घटती जाती है। (साथ ही साथ पाप प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग दोनो भी घटते हैं) फलत जब पुण्य प्रकृति का अनुभाग उत्कृष्ट अवस्था मे पहुँचता है तो उसका स्थितिबध घटते-घटते जघन्य अवस्था को प्राप्त होता है और फिर आगे स्थिति बधना बद हो जाता है और अनुभाग उत्कृष्ट का उत्कृष्ट ही रहता है। तप-सयम, सवर-निर्जरा रूप किसी भी साधना से पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग मे अश मात्र भी कमी नही होती है। यही कारण है कि जब जीव मुक्ति में जाता है तो उस समय पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग ही होता है। यहाँ तक कि वीतराग अवस्था मे केवली समुद्घात व योगनिरोध से भी पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग मे किंचित् भी कमी नही होती है, जैसा कि कहा है—

सुहाण पयडीण विसोहिदो केवलिसमुग्घादेण जोगणिरोहेण वा अनुभागघादो णत्थि त्ति जाणवेदि। खीणकसायसजोगीसु टिठ्दिअणुभागघादेसु सतेसु वि सुहाण पयडीण अणुभागघादो णत्थि त्ति अत्थावत्तिसिद्ध।—धवला पुस्तक १२ पृष्ठ १८

अर्थ—शुभ प्रकृतियो के अनुभाग का घात विशुद्धि, केवलि समुद्घात व योग निरोध से नही होता। क्षीण कषाय व सयोगी गुणस्थानो मे स्थिति घात व अनुभाग घात होने पर भी शुभ प्रकृतियों का अनुभाग का घात नही होता है। अत अयोगी गुणस्थान मे शुभ प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग होता है।

अभिप्राय यह है कि वीतराग केवली के सब पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग होता है और मुक्ति-प्राप्ति के समय तक वह उत्कृष्ट ही रहता है। इसमे लेश मात्र भी कमी नही होती है। सभी कर्मो की स्थिति के क्षय हो जाने के कारण देह छूट जाने के साथ सर्व पुण्य और उनके फल भी छूट जाते है। पुण्य का क्षय किसी भी साधना से कदापि सम्भव नही है। जैसा कि कहा है—सम्मत्तेण सुदणाणेण य, विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं जो परिणदो सो पुण्णो। (मूलाचार, गाथा, २३४) अर्थात् जो सम्यक्त्व, श्रुतज्ञान, विरति (महाव्रत-सयम), कषाय-निग्रह रूप गुणो मे परिणत होता है वह पुण्य है। तात्पर्य यह है कि सयम व चारित्र से भावो की विशुद्धि मे वृद्धि होती है जिससे पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि होती है। यह विशुद्धि साधना के उत्कृष्ट रूप

क्षपकश्रेणी में विशेष होती है, अत चारित्र की क्षपक श्रेणी के समय उत्कृष्ट साधना से पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग का सर्जन होता है। वीतराग अवस्था मे जब चारित्र यथाख्यात रूप से पूर्णता को प्राप्त हो जाता है तब पुण्य भी अपनी पूर्णता को, उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो जाता है। उत्कृष्ट हो जाने से फिर आगे बढ़ने की गुजाइश नही रहती, अत वीतराग अवस्था में सदा पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है।जैसा कि कहा है—'**सम्मद्दिट्ठी ण हणइ सुभाणुभाग।**' (पचसग्रह, भाग ७, गाथा ९०) अर्थात् सम्यम्दृष्टि शुभ प्रकृतियों के अनुभाग का हनन (रूप क्षय) नही करता है। यह अटल नियम है कि पुण्य का अनुभाग सयम, तप, चारित्र आदि समस्त साधनाओं की वृद्धि से बढ़ता ही है, अत पुण्य का अनुभाग किसी भी साधना से क्षय नही हो सकता। फिर भी यदि किसी को पुण्य के अनुभाग का क्षय इष्ट ही हो तो उसका एक मात्र उपाय है—सक्लेश भाव। पाप की वृद्धि ही एक मात्र पुण्य के अनुभाग के क्षय का उपाय है, अन्य कोई उपाय मेरी जानकारी मे नही है। यह नियम है कि शुभ परिणामों की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग में वृद्धि होती है जिससे पाप प्रकृतियों के स्थितिबध तथा अनुभाग बध व पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध का क्षय होता है। अत 'शुभ भाव कर्मक्षय के ही कारण है, कर्म-बध के नही'। यह मान्यता या सिद्धान्त अकेले श्री वीरसेनाचार्य का ही हो सो नही है, प्रत्युत् श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय के समस्त कर्म-सिद्धान्त विषयक वाड्मय—यथा, भगवतीसूत्र, पन्नवणा, छह कर्मग्रथ, कम्मपयडि, पचसग्रह, षट्खडागम, कसायपाहुड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि मूल ग्रन्थो व इनकी टीकाओ मे भी उपर्युक्त सिद्धान्त पूर्ण रूप से मान्य है। इसमें किसी का भी विचारभेद या मतभेद नही है। विस्तार के भय से यहाँ इन सब ग्रन्थों के प्रमाणों को प्रस्तुत नही किया गया है।

■

पुण्य-पाप आस्रव का हेतु : शुद्ध-अशुद्ध उपयोग

पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्धओ उवजोओ ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि ॥

–जयधवला पुस्तक, १, पृष्ठ ५२

अर्थात् अनुकपा और शुद्ध उपयोग, ये पुण्यास्रव स्वरूप है या पुण्याश्रव के कारण है तथा इनसे विपरीत अर्थात् अदया और अशुद्ध उपयोग ये पापास्रव के कारण है। इस प्रकार आस्रव के हेतु समझना चाहिये।

उपर्युक्त गाथा मे श्री वीरसेनाचार्य ने अनुकपा और शुद्ध उपयोग इन दोनो को पुण्यास्रव का कारण बताया है। इससे प्रथम तथ्य तो यह फलित होता है कि शुद्ध उपयोग अर्थात् शुद्ध भाव से भी आश्रव होता है और द्वितीय तथ्य यह फलित होता है कि अनुकपा और शुद्ध उपयोग (शुद्ध भाव) ये दोनो सहचर व सहयोगी हैं अर्थात् जो कार्य शुद्ध उपयोग या शुद्ध भाव से होता है वही कार्य अनुकपा से भी होता है। तृतीय तथ्य यह सामने आता है कि पुण्यास्रव का हेतु अशुद्ध भाव या विभाव नही है प्रत्यत् शुद्ध भाव ही है। अशुद्ध भाव या विभाव से तो पाप का ही आस्रव होता है, पुण्य का नही। उपर्युक्त तीनो तथ्य श्रमण सस्कृति व कर्म सिद्धान्त के प्राण है।

श्री वीरसेनाचार्य ने जयधवला की इसी प्रथम पुस्तक में पृष्ठ 5 पर शुभ व शुद्धभाव को कर्म क्षय का कारण बताया है और इसी पुस्तक के पृष्ठ 96 पर दी गई उपर्युक्त गाथा मे इन्हे पुण्यास्रव का कारण बताया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो पुण्यास्रव के कारण है वे ही कर्मक्षय के भी कारण है अर्थात् पुण्यास्रव व कर्म क्षय के कारण एक ही है। इससे यह भी फलित होता है कि पुण्यास्रव की वृद्धि जितनी अधिक होगी उतना ही कर्मक्षय अधिक होगा। उपचार से कहे तो (पुण्यास्रव) कर्मक्षय मे हेतु है और यह नियम है कि जो कर्मक्षय का हेतु है वह कर्म बध का कारण नही हो सकता। अत पुण्यास्रव कर्मबध का कारण नही हो सकता।

वर्तमान मे जैन समाज मे सर्व साधारण मे यह धारणा प्रचलित है कि जहाँ आस्रव है वहाँ कर्म का बध है। परन्तु उनकी यह धारणा पुण्य तत्त्व, आश्रव तत्त्व व बध तत्त्व की दृष्टि से विचारणीय है। क्योकि यदि आस्रव मात्र बध का कारण होता तो आस्रव तत्त्व, बध तत्त्व का ही एक रूप या भेद होता। ये दोनो तत्त्व अलग-अलग नही होते, परन्तु कर्म बध का कारण कषाय और योग इन दोनो को कहा है। योग मे भी शुभ योग को कर्मबध का कारण नही कहा

है प्रत्यत् शुभयोग को कर्मक्षय का कारण कहा है। क्यों शुभयोग कषाय मे कमी का द्योतक है, जिससे कर्मो की स्थिति के क्षय रूप कर्मबध का क्षय नियम से होता है। यह नियम है कि जितना शुभ या शुद्धभाव बढ़ता जायेगा अर्थात् सद्प्रवृत्ति दया, अनुकपा, त्याग, तप, सयम बढ़ता जायेगा उतना पुण्य का आस्रव बढ़ता जायेगा अर्थात् पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग बढ़ता जायेगा और इस पुण्य के अनुभाग के बढ़ने से पाप प्रकृतियो की स्थिति भी घटती जावेगी। यह स्मरण रहे कि मिथ्यात्व अवस्था में सद्प्रवृत्तियो से जितना पुण्य प्रकृतियो का आस्रव होता है अर्थात् पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का उपार्जन होता है उससे असख्य-अनन्त गुणा पुण्य का अर्जन-पुण्यास्रव सयम-त्याग-तप से होता है। यही कारण है कि पुण्य के अनुभाग की वृद्धि व उत्कृष्ट अनुभाग का सर्जन गुणस्थान आरोहण से ही होता है। इस प्रकार पुण्यास्रव का उपार्जन शुभ व शुद्ध भाव से ही होता है परन्तु की स्थिति पुण्य बध का कारण शुभ या शुद्ध भाव नही है, पुण्यास्रव के समय उनके साथ रहा हुआ कषाय रूप अशुभ भाव बध का कारण है। उस विद्यमान कषाय रूप पाप से पुण्य की स्थिति का बध होता है। यह स्थिति बध ही कर्म बध है और जहाँ कषाय नही वहाँ स्थिति बध नही है। वहाँ कर्मबध भी नही है जैसा कि कहा है-

ण य हिंसामेत्तेण य सावज्जेणावि हिंसओ होइ।
सुद्धस्स य संपत्ती अलाउत्ता जिणवरेहिं ॥

जयधवला पुस्तक, १ पृष्ठ ४५

अर्थ- जीव केवल हिंसा करने मात्र से हिसक नही होता है। अत राग द्वेष (कषाय) से रहित शुद्ध परिणाम वाले जीव के जो कर्मो का आस्रव होता है वह फल रहित है, ऐसा जिनवर ने कहा है। यही बात ओघनिर्युक्ति टीका, गाथा 755 मे कहा है- **न च हिंसामात्रेण सावद्येनापि हिंसको भवति। कुत शुद्धस्य पुरुषस्य कर्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवैरिति॥** इसी तथ्य की पुष्टि जयधवला पुस्तक, 1 पृष्ठ 94 गाथा 46-47 मे भी होती है-

उच्चालिदम्मि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥ (46)
ण हि तग्घादणिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।

मुच्छा परिग्गहो त्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो। (47) तथा ओघनिर्युक्ति टीका, गाथा 748-749

अर्थात्-ईर्या समिति युक्त साधु के अपने पैर के रखने पर कोई प्राणी उनके

पैर से दब जाय और उसके निमित्त से मर जाय तो उस प्राणी के घात के निमित्त से थोड़ा भी बध आगम मे नही कहा है, क्योकि जैसे अध्यात्म दृष्टि से मूर्च्छा (ममत्व भाव) को परिग्रह कहा है वैसे ही कषाय रूप रागादि परिणाम को हिसा या बध का कारण कहा है।

तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियो का आस्रव-बंध

तात्पर्य यह है कि योगो के निमित्त से कार्मणवर्गणाओ के आने रूप कर्म दलिको का जो आश्रव होता है वह कर्मबध रूप नही होता है। वह कर्मबध रूप अवस्था को तभी प्राप्त होता है जब उस समय उदयमान कषाय के कारण उस कर्म की स्थिति पड़ती है। स्थिति बध से ही वह कर्म जीव के साथ बधा रहता है। स्थिति बध के अभाव मे वे कर्मदलिक बध अवस्था को प्राप्त नही होते हैं, जैसा कि कहा है-'**कसायाभावेण अणुभागबधाभावादो**' धवला पुस्तक, 13, पृष्ठ 49

अर्थात् कषाय के अभाव मे कर्म के प्रदेश-अनुभाग आदि बध अवस्था को प्राप्त नही होते है कारण कि कषाय से ही स्थिति बध होता है। स्थिति बध कर्म के प्रदेशो का होता है। प्रदेशो के साथ अनुभाग जुड़ा रहने से वह भी प्रदेशो के साथ बध अवस्था को प्राप्त होता है। इस प्रकार कषाय अनुभाग बध का अनन्तर व साक्षात् कारण न होकर परम्पर कारण है। अभिप्राय यह है कि पुण्यास्रव का सबध पुण्य प्रकृतियो के प्रदेश रूप कर्मदलिको के अर्जन से है पुण्य की स्थिति से नही। कारण कि पुण्य की स्थिति कषाय रूप पाप से बधती है। अत अशुभ है। इसे समझने के लिये हम तीर्थकर नाम कर्म के उपार्जन रूप पुण्यास्रव को ले । साथ ही उसके उत्कृष्ट अनुभाग व उत्कृष्ट स्थिति बध के स्वामित्व पर विचार करे तो यह रहस्य स्पष्ट हो जायेगा। पहले यहाँ तीर्थकर नाम कर्म के उपार्जन रूप पुण्यास्रव के हेतुओं पर विचार करते है-

तीर्थकर नामकर्म का पुण्य प्रकृतियो मे उच्चतम स्थान है। इस प्रकृति के उपार्जन के ज्ञाताधर्मकथाग सूत्र के अध्ययन आठ में बीस कारण बताये हैं तथा धवला, पुस्तक 8, पृष्ठ 79 से 91 तक, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय 6 सूत्र 23 में सोलह कारण कहे गये है। इनमे आवश्यक, प्रतिक्रमण, निरतिचार व्रतपालन रूप शुद्ध सयम, वैयावृत्त्य रूप तप व त्याग भी है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सयम, त्याग व तप रूप जिन साधनाओ से पाप कर्मों की स्थिति व अनुभाग का क्षय होता हैं उन्ही साधनाओं से पुण्य-प्रकृतियो व उनके प्रदेश व अनुभाग का उपार्जन रूप आस्रव भी होता है।

अब पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग के सबध मे विचार करे तो कर्मग्रन्थ भाग 5 गाथा 67 तथा पचसग्रह भाग 5 के अनुसार तीर्थंकर नामकर्म, यशकीर्ति, उच्चगोत्र आदि 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग बध क्षपक श्रेणि मे अपनी बधव्युच्छित्ति होने के समय होता है। जैसे यशकीर्ति व उच्चगोत्र की बधव्युच्छित्ति दशवें गुणस्थान के चरम समय मे होती है, उस समय ही इन पुण्य प्रकृतियों के उत्कृष्ट अनुभाग होता है। अर्थात् तीर्थंकर नाम कर्म, उच्चगोत्र आदि 32 पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग अन्तर्मुहूर्त पश्चात् वीतराग केवलज्ञानी होने वाले शुद्ध भाव के धारक क्षपकश्रेणि करने वाले शुद्ध उपयोग युक्त साधक के ही होता है, अन्य के नही और यह अनुभाग मुक्ति मे जाने के पूर्व क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है।

पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध मे उपर्युक्त अनुभाग के सिद्धान्त के विपरीत सिद्धान्त लागू होता है। उदाहरणार्थ तीर्थंकर प्रकृति को ही लें। तीर्थंकर नाम कर्म के उत्कृष्ट स्थिति बध के स्वामित्व के विषय मे कहा है-

तित्थवरनामस्स उक्कोस्सठिइ मणुस्सो असंजमोवेयगसम्मदिट्ठी पुव्वं नरग बद्धाउगो नरगाभिमुहो मिच्छत्त पडिवज्जिही इति अतिमे ठिइबधे वट्टमाणो बधइ तव्वबंधणेसु अइसंकिट्ठो त्ति काउ। -शतक चूर्णि (पचम पचसग्रह, पृष्ठ २२१-२२२)

अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बन्ध उस असयमी, वेदक सम्यक् दृष्टि के होता है, पूर्व मे जिसने नरक का आयुष्य बध कर लिया हो, नरक मे जाने के अभिमुख हो, जो सम्यक्त्व का वमन कर मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त करने के उन्मुख हो उस अवस्था मे चतुर्थ गुणस्थान के अतिम समय मे गिरकर प्रथम गुणस्थान मे जा रहा हो, तीर्थंकर प्रकृति का जघन्य स्थितिबध, क्षपक श्रेणी करने वाले साधक के आठवें गुणस्थान मे होता है। यह स्थिति आगे के गुणस्थानो मे विशुद्धि बढ़ने के साथ घटती जाती है तथा केवली समुद्घात से वह स्थिति घटकर आयुकर्म के बराबर हो जाती है, परन्तु स्मरण रहे कि केवली समुद्घात से पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग मे कुछ भी कमी नही होती वह अतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता है।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर नामकर्म, उच्चगोत्र आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उपार्जन शुद्ध भावो से ही होता है अशुद्ध भावो से नही। अत पुण्यास्रव का कारण अशुद्धभाव मानना जैन सिद्धान्त के विपरीत है। पूर्वोक्त 'पुण्णस्सावभूदा' गाथा मे स्पष्ट कहा है कि शुद्ध उपयोग से विपरीत अर्थात् अशुद्ध उपयोग मे मात्र पाप का ही आस्रव होता है। यह नही कहा कि पाप

और पुण्य इन दोनो का आस्रव होता है। अत पुण्यास्रव के कारणों को अशुद्ध उपयोग मानना जैनागम के विरुद्ध है। पुण्यास्रव को कही भी दोष रूप नही माना है। जैसा कि भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशक ६ में कहा है-

कह णं भते! जीवाण सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति? गोयमा! पाणाणुकंपयाए, भूयाणुकपयाए, जीवाणुकपयाए, सत्ताणुकंपयाए, बहूण पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए, असोसणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणयाए, अपरियावणयाए; एवं खलु गोयमा! जीवाणं सायावेयणिज्जा कम्मा कज्जति।

अर्थ- श्रीगौतम स्वामी पूछते है कि हे भगवन्! जीव सातावेदनीय कर्म का उपार्जन किस प्रकार करते है? उत्तर मे भगवान् फरमाते है कि हे गोतम! प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर अनुकपा करने से, बहुत से प्राणो, भूतो, जीवो और सत्वो को दुख न देने से, उन्हे शोक उत्पन्न न करने से, उन्हे खेदित व पीड़ित न करने से, उनको न पीटने से, उनको परिताप नही देने से जीव सातावेदनीय रूप पुण्य कर्म का उपार्जन करते है।

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकपा करने तथा प्राणातिपात के न करने रूप शुद्धोपयोग से पुण्य का उपार्जन होता है। भगवती शतक ७ के इसी उद्देशक मे कहा है कि प्राणातिपात से मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह पाप के त्यागरूप शुद्धोपयोग से अकर्कश (सुखद) वेदनीयकर्म रूप पुण्य का उपार्जन होता है। इसी प्रकार भगवतीसूत्र के शतक ८ उद्देशक ७ मे कहा है-'**गोयमा! जाइअमएण, कुलअमएण उच्चागोयकम्मासरीरजाव पओगबधे।**' अर्थात् जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद एव ऐश्वर्यमद ये आठमद न करने से उच्चगोत्र का प्रयोग बध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि मद या मान पाप के त्याग रूप शुद्धोपयोग से उच्चगोत्र रूप पुण्य का उपार्जन होता है। तात्पर्य यह है कि 'पुण्य का आस्रव (उपार्जन)' पाप के त्याग रूप शुद्धोपयोग से होता है, यह सिद्धान्त आगम सम्मत है। इसका विशेष विवेचन "कषाय क्षय से पुण्य का उपार्जन" लेख मे किया गया है। पुण्यास्रव मे कोई दोष नही है, इस सबध मे कहा है—

पावागमदाराइ अणारूवट्ठियाइ जीवम्मि।
तत्थ सुहासवदार उग्घादेते कउ सदोसो॥

५७ कसायपाहुड, जयधवल पुस्तक, १ पृष्ठ ९६-९७

अर्थात् जीव में पाप के आस्रव के द्वार अनादिकाल से स्थित है। उनके रहते हुए जो शुभ आस्रव के द्वार रूप पुण्यास्रव का उद्‌घाटन करता है वह सदोष कैसे हो सकता है? नही हो सकता। अर्थात् शुभास्रव-पुण्यास्रव दोष

रहित है। कहा भी है...**सातावेदनीय एदासिं पसत्थ पयडीण विसोधीदो अनुभागस्स घादाभावा समयं पडिविसोही वड्ढिदो अणंतगुणकम्मण एदासिमणुभागबंधस्स वड्ढिदंसणादो च** (धवला पुस्तक ६ पृष्ठ २०९) अर्थात् सातावेदनीय आदि समस्त प्रशस्त पुण्यरूप प्रकृतियों के अनुभाग का विशुद्धि से घात नही होता है, किन्तु प्रति समय विशुद्धि के बढ़ने से अनन्तगुणित क्रमद्वारा इन उपर्युक्त पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग की वृद्धि देखी जाती है। अर्थात् विशुद्धि से पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे अनन्तगुणी वृद्धि होती ही है।

कर्मफल का सबध अनुभाग से है, प्रदेश से नही। जैसा कि कहा है-'**अनुभागबधो हि प्रधानभूतः तन्निमित्तत्वात् सुखदु खविपाकस्य-** राजवार्तिक ६ ३ अर्थात्-अनुभाग बध ही प्रधान है, वही सुख-दु ख रूप फल का निमित्त होता है। प्रकारान्तर से कहे तो कर्म की फलदान शक्ति को ही अनुभाग कहा जाता है।

कर्मो के अनुभाग की न्यूनाधिकता कर्म के प्रदेश पर निर्भर नही है। कारण कि १ प्रदेशो के अधिक बढ़ने से स्थिति व अनुभाग दोनो घट सकते है। २ अनुभाग बढ़ सकता है, स्थिति घट सकती है। ३ स्थिति बढ़ सकती हे अनुभाग घट सकता है। जैसे दसवे गुणस्थान मे ज्ञानावरणीय आदि पाप प्रकृतियो व उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट प्रदेश बध होता है, परन्तु ज्ञानावरणीय आदि का स्थिति व अनुभाग बध जघन्य होता हैं व उच्चगोत्र आदि पुण्य प्रकृतियो का उत्कृष्ट अनुभाग बध होता है व स्थिति बध जघन्य होता है तथा इन्ही पुण्य प्रकृतियो की मिथ्यात्व गुणस्थान मे प्रदेश वृद्धि के साथ स्थिति बढ़ सकती है अनुभाग घट सकता है, जैसा कि कहा है-**जोगवड्ढिदो अनुभागवड्ढीए अभावादो**' (धवला पुस्तक १२ पृ ११५)

अर्थात् योगवृद्धि से अनुभाग वृद्धि सभव नही तथा '**ट्ठिदीए इव पदेसगलणाए अणुभावघादो णत्थि त्ति**' (कसाय-पाहुड, पुस्तक, पृष्ठ ३३७) अर्थात् प्रदेशो के गलने से जैसे स्थितिघात होता है वैसे अनुभाग घात नही होता है। आशय यह है कि प्रदेशो के न्यूनाधिक होने से अनुभाग पर कोई प्रभाव नही पड़ता है। इसी प्रकार स्थिति घटने से वीतराग की पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग पर कोई प्रभाव नही होता है। अर्थात् पुण्य प्रकृतियो की फलदान शक्ति प्रदेश व स्थिति पर निर्भर नही करती है, इनसे प्रभावित नही होती है।

हम पहले कह आये है कि पुण्य तत्त्व, आश्रव तत्त्व व बध तत्त्व ये तीनो तत्त्व भिन्न-भिन्न है। यहाँ इन्ही पर सक्षेप में विचार करते हैं।

पुण्यतत्त्व-पुण्यास्रव-पुण्यबध मे अतर

पुण्यतत्त्व- पुनात्यात्मान पूयतेऽनेनेति पुण्यम्। सर्वार्थसिद्धि ६ ३ **'पुण' सुभे इति वचनात् पुणति शुभीकरोति पुनाति वा पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।** (अभिधानराजेंद्र कोष भाग ५, पृष्ठ ९८१)

अर्थात् जिससे आत्मा पवित्र हो उसे पुण्य कहा जाता है। इसके विपरीत जिससे आत्मा अपवित्र हो उसे पाप कहा जाता है। आत्मा अपवित्र होती है विकारीभाव से, विभाव से। अत विकारों मे कमी आना ही आत्मा का पवित्र होना है। यही विकारो मे कमी रूप विशुद्धि भाव पुण्य कहा जाता है। 'पुण्य' मगल रूप ही होता है, जैसा कि कहा है- मगलस्यैकार्थ उच्यते मगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र सौख्यमित्येवमादीनि मगलपर्यायवचनानि। (धवलपुस्तक, १ पृ ३३) अर्थात् मगल के एकार्थक नाम है- मगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि। इन पर्यायवाची शब्दो मे पुण्य को प्रशस्त, शिव, शुभ, कल्याण अर्थात् मुक्ति रूप कहा है। जो पुण्य शिव व कल्याण रूप है। उस पुण्य को त्याज्य, हेय व कर्मबध मे कारण कहना शिव व कल्याण को त्याज्य कहना है। मगल शब्द पाप रूप मल को गालने के अर्थ का द्योतक है। विकारो मे कमी होकर उनका क्षय होना कल्याणकारी है, मुक्ति देने वाला है। इसलिए पुण्य को कल्याण व शिवरूप कहा है। जिससे आत्मा पवित्र होती है, वह सब पुण्य रूप है, मगल रूप है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र व अहिंसा-सयम-तप रूप धर्म को उत्कृष्ट मगल रूप कहा है अर्थात् ये अहिसादि धर्म पुण्य, शिव व कल्याण रूप है। धर्म की वृद्धि के साथ पुण्य के अनुभाग की वृद्धि नियम से होती है। अत पुण्य और धर्म एक ही सिक्के के दो पहलू है। इनको अलग नही किया जा सकता। आत्मा का विकारी भावो मे कमी आने रूप विशुद्धि या शुभ भाव ही पुण्य तत्त्व है। पुण्य तत्त्व का सबध शुद्ध व शुभभाव से है। जिससे आत्मा पवित्र हो वही पुण्य है, वही धर्म है। अत पुण्य व धर्म एक ही कोटि के है।

पुण्य का आस्रव- कषाय की मदता, सयम, त्याग, तप रूप शुद्धभाव व अनुकपा, वात्सल्य, करुणा, दया, दान रूप सद्प्रवृत्तियो से पुण्य कर्म प्रकृतियो का उपार्जन होता है। इनके अनुभाग का अर्जन होता है। यही पुण्य का आस्रव कहा गया है। यहाँ पुण्यास्रव मे पुण्य प्रकृतियो की स्थिति को नही लिया गया है, क्योंकि वह कषाय रूप पाप या अशुद्ध भाव से निर्मित होती है, शुद्धभाव से नही । यह पुण्यास्रव पाप प्रकृतियो के प्रकृति बध, स्थिति बध, अनुभाग बध

तथा प्रदेशबध इन चारो प्रकार के बधनो के क्षय का द्योतक है। क्योंकि यह नियम है कि जितना-जितना पुण्य का आस्रव बढ़ता है उतना-उतना पाप कर्मो के बधनो का क्षय होता है व पुण्य की स्थिति मे कमी होती है। अत पुण्य का आस्रव कर्मक्षय का सूचक है और यह सयम, तप, शुद्धभाव व विशुद्धि का अभिव्यक्तक भी है। अत पुण्य का आस्रव हेय व त्याज्य नही है।

पुण्यबंध- कर्मो का आत्मा के साथ जुडकर स्थित रहना बध है। इससे कर्म सत्ता को प्राप्त होते है और भविष्य में उदय आकर अपना फल देते हैं। इस प्रकार कर्म का आत्मा के साथ स्थित रहना स्थिति बध है। यह स्थिति बध शुभ या शुद्ध भाव से नही होता है, कषाय से ही होता है। अत॰ स्थिति बध अशुभ है। अत स्थिति बध कषाय जन्य होने से बुरा है चाहे वह पाप प्रर्कृतियो का हो या पुण्य प्रकृतियो का हो।

तात्पर्य यह है कि तीर्थकर नामकर्म, उच्चगोत्र, यशकीर्ति आदि समस्त पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन इनके प्रदेशो का अर्जन व अनुभाग का सर्जन रूप पुण्यास्रव शुभ या शुद्ध भावों से होता है और पुण्य का स्थिति बध कषाय रूप पाप या अशुद्ध भावो से होता है। आगे इस पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव के मुख्य भेद कहे गये है। इनमे प्रमाद को मिलाने से आस्रव तत्त्व के पॉच भेद हो जाते हैं। इनमे से कर्मबध के दो कारण कहे गये है- योग और कषाय। बध के इन दो कारणो मे से योग से केवल कार्मण वर्गणाओ के समूहो (दलिको) का अर्जन होता है। इन कार्मण-वर्गणाओ का बधन तभी होता है जब ये कषाय से युक्त होती है, अन्यथा ये कषाय के अभाव मे, स्थिति बध न होने से ऐसे ही निर्जरित हो जाती है जैसे दीवार पर फेकी गई शुष्क बालू रेत दीवार को छूकर गिर जाती है। इस प्रकार इनका बध-अबध समान ही है, लेकिन पाप प्रकृतियो के अर्जन के समय योग के साथ कषाय नियम से होता है और इस कषाय से पाप प्रकृतियो की स्थिति और अनुभाग इन दोनो का पोषण होता है, अर्थात् पाप प्रकृतियो मे कार्मण-वर्गणाएँ व उनकी स्थिति और अनुभाग मे घनिष्ठ सबध है। अत इनमे जहॉ आस्रव है वहॉ बध नियम से है, क्योकि इनके उपार्जन रूप आस्रव व बध का एक ही कारण है और वह कषाय है। अर्थात् पुण्य प्रकृतियो मे आस्रव का कारण कषाय की कमी या मदता है और पाप प्रकृतियो के बध का कारण कषाय की अधिकता या तीव्रता है। ये दोनो परस्पर विरोधी कारण है। अत

पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग रूप आस्रव अधिक होगा तो स्थिति बध रूप कर्मबध कम होगा। इसे एक उदाहरण से समझे- जैसे डडा, झण्डा, रस्सी व उसका बधन ये चारो अलग-अलग है एक नही हैं, परन्तु डडे के साथ झडे को रस्सी से बाध देने पर उस डडे के झडा बध जाता है। इसी प्रकार आत्मा, आस्रव (कर्म दलिक), कषाय व कर्मबन्धन ये चारो अलग-अलग हैं, एक नही है। परन्तु जब कार्मण वर्गणाओ के समुदाय (आस्रव) रूप झडा, कषाय रूप रस्सी से डडे रूप आत्मा के साथ बध जाता है तो यह कर्म बध कहलाता है। जिस प्रकार डडे के साथ झडे के बधने मे मुख्य कारण रस्सी है इसी प्रकार आत्मा के साथ कर्म दलिक (आस्रव) के बध अवस्था को प्राप्त होने मे मुख्य कारण कषाय है। जिस प्रकार झडे के साथ उसमे रहे हुये रग, चित्र आदि भी डडे से अनायास ही बध जाते है उसी प्रकार कार्मण वर्गणाओ रूप आस्रव के साथ रहे हुये अनुभाग आदि भी बध अवस्था को सहज ही प्राप्त हो जाते है। यदि रस्सी न हो तो, न तो झडा बधे और न उस झडे मे रहे हुआ रग, अवस्था, चित्र या आकृति ही बधे। इसी प्रकार यदि कषाय न हो तो न तो आस्रव 'बध' अवस्था को ही प्राप्त हो और न अनुभाग आदि ही बध अवस्था को प्राप्त हो।

इसे समझने के लिये प्रचलित उदाहरण ले—जीव रूपी तालाब, पुण्य-पाप रूपी शुभ-अशुभ नाले, उन नालो से कार्मण वर्गणाओ से निर्मित कर्म रूपी जल का आगमन रूप आस्रव है। उस कर्म रूप जल का जीव रूपी तालाब मे ठहरना, रुकना स्थित होना (स्थिति बध) बध है। स्थिति बध के अभाव मे कर्म या कार्मण वर्गणाए जिस क्षण आती है उसी क्षण खिर जाती है, रुकती व ठहरती नही है अर्थात् फल नही देती है अत निष्फल है। स्थिति बध होता है कर्म के प्रदेशो का। प्रदेशो के साथ अनुभाग व प्रकृति भी उसी प्रकार स्वत बध अवस्था को प्राप्त हो जाते है जैसे किसी वस्तु के बधने पर उस वस्तु के वर्ण, रस, स्पर्श आदि सभी बध जाते है।

यह नियम है कि तीन शुभ आयु को छोडकर शेष समस्त प्रकृतियो का स्थिति बध कषाय से होता है अर्थात् पुण्य-पाप की समस्त प्रकृतियो की स्थिति बध कषाय की अधिकता से अधिक एव कषाय की कमी से कम होता है, जैसे रोग कम हो या अधिक, अस्वस्थता का ही द्योतक होता है। कम रोग कम अस्वस्थता का और अधिक रोग अधिक अस्वस्थता का द्योतक होता है। अत रोग कम हो या अधिक, वह बुरा ही है जबकि रोग मे कमी का होना स्वास्थ्य वृद्धि का द्योतक है। इसी प्रकार कषाय कम हो तो नवीन पाप कर्मो का बध

कम होता है और कषाय अधिक हो तो नवीन पाप कर्मो का बध अधिक होता है अर्थात् कषाय कम या मद हो अथवा अधिक या तीव्र, वह कर्म बध का ही हेतु होता है। इसके विपरीत कषाय मे कमी या मदता होने से पूर्व मे बधे सब पाप-पुण्य कर्मों की स्थिति का एव पाप कर्मों के अनुभाग का क्षय होता है। अत कषाय की मदता कर्मक्षेय का हेतु है, कर्म बध का नही। जबकि मद कषाय कर्म बध का हेतु है। इसलिए कषाय की मदता को कर्मबध का कारण मानना भयकर भूल है। इस भूल से ही सिद्धान्त मे अनेक उलझने पैदा हुई है। मद कषाय और कषाय की मदता मे उतना ही अतर है जितना अस्वस्थता मे और स्वस्थता मे अतर है अर्थात् ये दोनो विरोधी अवस्थाएँ हैं। क्योंकि कषाय की विद्यमानता दोष की द्योतक है और कषाय की मदता दोष की कमी की या निर्दोषता की प्रतीक है।

आगमभाषयौपशमिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक भावत्रय भण्यते।
अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्माभिमुखपरिणामशुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञा लभते ॥–समयसार तात्पर्यवृति, गाथा ३२० एव द्रव्य सग्रहटीका , ४५

आगम भाषा मे औपशमिक, क्षायोपशमिक आर क्षायिक ये तीनो भाव कहे गये है और अध्यात्म भाषा मे शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम व शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नाम को प्राप्त होते है।

औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक ये तीनो भाव घाती कर्मो के उपशम, क्षयोपशम व क्षय से होते है। अत आत्मा की शुद्धि को बढाने वाले है ओर ये मोक्ष के हेतु है। जिन भावो से आत्मा की शुद्धि होती हो, जो मोक्ष के हेतु हो उन क्षयोपशम आदि भावो को शुद्धोपयोग ही कहा जायेगा, उन्हे अशुद्धोपयोग नहीं कह सकते। अशुद्धोपयोग त्याज्य ही होता है तथा भगवती सूत्र के प्रारम्भ मे कहा है 'चलमाणे चले' अर्थात् जिसने चलना प्रारम्भ कर दिया हो, उसे 'चला' कहा जाता हे। उसे चला न मानना निह्नवता है, आगम विरुद्ध है। अत जिससे आत्मा की शुद्धि हो वह शुद्धोपयोग है, अशुद्धोपयोग नही।

शुद्धभाव से पुण्यास्रव एव क्षय

शुद्धभाव निर्दोषता का सूचक हे और अशुद्धभाव सदोषता का। कषाय दोष है। दोष त्याज्य हैं, चाहे वह कम हो या अधिक। दोष मे कमी होना शुद्धता मे या शुभता मे वृद्धि की द्योतक है जो पाप का नाश करने वाली और पुण्य के उपार्जन मे वृद्धि करने वाली है। ये दोनो कार्य युगपत् होते है जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका मे कहा है-

यथाऽग्निरेकोऽपि विक्लेदनभस्माङ्गारादिप्रयोजन उपलभ्यते तथा तपोऽभ्युदयकर्मक्षयहेतुरित्यत्र को विरोध। अर्थात् अग्नि एक है तथापि उसके विक्लेदन से भस्म और अगार आदि अनेक कार्य उपलब्ध होते हैं वैसे ही तपरूप साधना से अभ्युदय (पुण्य) और कर्म क्षय रूप मुक्ति ये दोनो प्राप्त है, ऐसा मानने मे क्या विरोध है, अर्थात् कोई विरोध नही है। जैन दर्शन मे सर्वत्र पाप के क्षय व पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि इन दोनों को एक साथ माना है। नमस्कार मत्र को ही ले। इसमे अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु इन पाच पदो को नमस्कार करने का फल 'सव्वपावप्पणासणो' एव 'पढम हवइ मगल' कहा है। अर्थात् नमस्कार सब पापो का नाश करने वाला एव मगलकारी है। यह सर्वविदित ही है कि साधक जैसे-जैसे सयम तप रूप साधना से आत्मविशुद्धि मे वृद्धि करता जाता है वैसे वैसे गुणस्थान-आरोहण करता जाता है। जिससे पाप कर्मो का क्षय व पुण्योपार्जन अधिकाधिक होता जाता है। तात्पर्य यह है कि आगम व कर्म सिद्धान्तानुसार (१) शुद्ध व शुभ भाव से कर्म क्षय तथा (२) पुण्यास्रव ये दोनो कार्य युगपत् होते है। इनमे विरोध नही है। जैसे सूर्योदय से अधकार का क्षय और प्रकाश दोनो कार्य एक साथ होते है। अत श्री वीरसेनाचार्य के ये दोनो कथन कि शुद्ध भाव से कर्मक्षय होते है और पुण्याश्रव होता है, समीचीन है। युक्तियुक्त व पूर्णरूप से कर्मसिद्धान्त सम्मत है। ये एक ही सिक्के दो पहलू है जिन्हे अलग नही किया जा सकता। ये दोनो कार्य जैसे शुद्ध भाव से होते है वैसे ही शुभभाव व शुभयोग से भी होते है कारण कि शुभ योग शुद्ध भाव का अनुसरण करता है तथा यह शुद्ध भाव का क्रियात्मक रूप है।

आगे इसी पर आगम के परिप्रेक्ष्य से विचार करते है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २९ के दसवे सूत्र मे आया है कि **वदणेण भन्ते! जीवे किं जणयइ?** **(उत्तर) वदणेण नीयागोय कम्म खवेइ उच्चागोय कम्म निबधइ।** अर्थात् वदना करने से जीव नीच गोत्र का क्षय करता है और उच्च गोत्र का निबध करता है अर्थात् वदना से पाप कर्म का क्षय व पुण्यास्रव दोनो कार्य होते है। वदना का ही दूसरा रूप नमस्कार है। नमस्कार को ठाणाग सूत्र के नवम ठाणे मे पुण्य कहा है। अरिहत, सिद्ध, आचार्य आदि पाच पदो के नमस्कार रूप सर्वमान्य नवकार मत्र के माहात्म्य मे उसे सब पापो का क्षय करने वाला व उत्कृष्ट मगल कहा है अर्थात् नमस्कार मगल, पुण्यास्रव व कर्मक्षय इन सब का कारण है।

उपर्युक्त गाथा से वर्तमान मे प्रचलित यह धारणा कि जिससे पुण्य का

अर्जन या वृद्धि हो वह अशुद्ध भाव है, भ्रान्त सिद्ध होती है। हम पहले यह कह आये है कि साधक जैसे-जैसे गुणस्थान आरोहण करता है अर्थात् सयम, त्याग, तप, चारित्र मे आगे बढ़ता है, कषाय का क्षय करता है वैसे-वैसे पुण्य मे वृद्धि होती जाती है। यदि पुण्यास्रव के कारण को अशुद्धभाव माना जाय तो सयम, त्याग को अशुद्ध भाव मानना पड़ेगा, जो सिद्धान्त विरुद्ध है तथा ऐसी दशा मे साधक अवस्था में शुद्ध भाव सभव ही नही होगा और समस्त साधना का क्षेत्र अशुद्ध भाव के अन्तर्गत आ जायेगा। साधना-अवस्था में शुद्ध भाव सम्भव ही नही होगा तो अशुद्ध भाव को ही तप सयमरूप साधना से होने वाले कर्मक्षय का कारण मानना होगा, जो उचित नही हो सकता। कारण कि दसवे गुणस्थान तक पाप व पुण्य का बध होता है। अत दसवे गुणस्थान तक अशुद्ध भाव ही कहा जायेगा और वीतराग केवली को कर्म क्षय करना ही नही है, ऐसी स्थिति में शुद्ध भाव से कर्म क्षय होते है यह सूत्र ही व्यर्थ हो जायेगा फिर कर्म क्षय का उपाय अशुद्ध भाव ही रह जायेगा। ये दोनो ही बाते सिद्धान्त सम्मत नही हैं। अत पुण्यास्रव के कारणभूत शुभ भाव को अशुद्ध भाव मानना युक्तिविरुद्ध है।

जहा भी सयम व तपरूप साधना से कर्म क्षय होना कहा गया है वहाँ कर्म क्षय से अभिप्राय पाप कर्मो के क्षय से ही है, पुण्य के अनुभाग के क्षय से नही। यदि पुण्य कर्म के अनुभाग का क्षय भी इष्ट माना जाय तो पाप कर्म भी साधना के क्षेत्र मे आ जायेगे। क्योकि पुण्य प्रकृतियो व उनके अनुभाग का क्षय सक्लेश भाव रूप पाप प्रवृत्तियो के अतिरिक्त अन्य किसी से होता ही नही है। अत कर्मो के क्षय से अभिप्राय पाप प्रकृतियो के क्षय से है। पुण्य-कृतियों के स्थिति-क्षय के लिये कोई भी प्रयत्न व साधना नही करनी पडती। पाप प्रकृतियो की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य प्रकृतियो की स्थिति स्वत क्षीण हो जाती है। क्योकि पाप और पुण्य इन दोनो की प्रकृतियो के स्थिति बध व स्थिति क्षय का कारण एक ही है अर्थात् स्थिति बध का कारण कषाय का उदय है और स्थिति क्षय का कारण कषाय का क्षय व कमी है। अत जैसे-जैसे पाप प्रकृतियो की स्थिति घटती जाती है वैसे-वैसे पुण्य प्रकृतियों की स्थिति भी अपने आप घटती जाती है। तात्पर्य यह है कि पुण्य प्रकृतियो की स्थिति के क्षय के लिये किसी अन्य साधना की आवश्यकता नही है।

साधना का कार्य पाप प्रकृतियो का क्षय करना ही है, पुण्य प्रकृतियो का नही। पुण्य प्रकृतियाँ तो उदय में आकर यथा समय स्वत क्षय हो जाती है, इन्हे

क्षय करने के लिये किसी साधना व प्रयत्न की आवश्यकता व अपेक्षा नहीं होती।

यह सर्वविदित है कि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र व निर्मल करता है और इसका उपार्जन कषाय की मदता रूप विशुद्धि व शुद्ध भाव से होता है। इस प्रकार पुण्य का हेतु व बीज सयम, तप, त्याग व विशुद्धि भाव रूप सवर-निर्जरा है पुण्य सवर-निर्जरा की ही अभिव्यक्ति का रूप है, क्योकि जैसा बीज होता है वैसा ही फल लगता है। अतएव पुण्य को हेय व त्याज्य मानना सवर-सयम -तप को हेय व त्याज्य मानना है। पुण्य का विरोध करना सवर, तप, निर्जरा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र व शुद्ध भाव रूप स्वभाव का ही विरोध करना है। कारण कि जहाँ शुद्ध भाव होता हे वहा योग रहते पुण्यास्रव नियम से होता है। पुण्यास्रव के त्याग का अर्थ है सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सयम, तप रूप साधना व शुद्ध भाव का त्याग। साधना और शुद्ध भाव के त्याग का अर्थ है मुक्ति के मार्ग का त्याग। मुक्ति के मार्ग के त्याग का अर्थ है मुक्ति का त्याग। इस प्रकार पुण्यास्रव के त्याग के फलस्वरूप मोक्ष व मोक्ष-मार्ग का ही निषेध-विच्छेद हो जायेगा, जो किसी को भी इष्ट नही हो सकता।

■

अनुकम्पा से पुण्यास्त्रव व कर्म-क्षय दोनों होते हैं

पहले 'पुण्णास्सवभूदा' गाथा मे पुण्यास्त्रव का कारण अनुकम्पा व शुद्धोपयोग को बताया गया है इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि जो कार्य शुद्ध भाव से होते है वे ही कार्य अनुकम्पा से भी होते हैं। क्योकि शुभ भाव शुद्ध भाव का ही क्रियात्मक रूप है। वास्तविकता तो यह है कि शुद्ध भाव से आत्मा निर्मल, पवित्र होती है जिससे आत्मा के दर्शन गुण का लक्षण 'सवेदनशीलता' बढता है। यह सवेदनशीलता अनुकम्पा, वात्सल्य, दया, करुणा भाव के रूप मे प्रकट होती है। ये सब दर्शन (स्व-सवेदन) गुण की ही अभिव्यक्तिया हैं, अत स्वभाव है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन 28 गाथा 30 मे सम्यग्दर्शन के आठ आचार कहे है, उनमें एक वात्सल्य भी है। वसुनन्दी श्रावकाचार में गाथा 49 मे सम्यग्दर्शन के आठ गुण कहे गए हैं उनमें वात्सल्य और अनुकम्पा भी है। सम्यग्दर्शन के पॉच लक्षण कहे हैं उनमे अनुकम्पा भी है।

आशय यह है कि अनुकम्पा व वात्सल्य सम्यग्दर्शन के अभिन्न अग हैं। सम्यग्दर्शन स्वभाव है। स्वभाव होने से धर्म है। इसलिये सम्यग्दर्शन के अभिन्न अग होने से अनुकम्पा, वात्सल्य भी स्वभाव ही है। स्वभाव होने से ये धर्म भी है तथा शुद्ध भाव भी है। अत पूर्वोक्त गाथा में आया अनुकम्पा 'शब्द' शुद्ध भाव का ही एक रूप है। इसे शुद्ध भाव से अलग नही किया जा सकता। इसलिये जो कार्य शुद्ध भाव से होता है वही कार्य अनुकम्पा एव वात्सल्य से भी होता है। करुणा भी अनुकम्पा का ही रूप है, इसलिये करुणा भी जीव का स्वभाव है । धवला की 13 वी पुस्तक पृष्ठ 361-362 पर ही वीरसेनाचार्य ने 'करुणा जीवसहावो' कहा है। यदि अनुकम्पा, वात्सल्य को विभाव माना जाये तो सम्यग्दर्शन को भी विभाव मानने का प्रसग उपस्थित होगा, जो किसी को इष्ट नही है।

अनुकम्पा, वात्सल्य, करुणा रूप स्वभाव या शुद्ध भाव का क्रियात्मक रूप दयालुता, सेवा, परोपकार, सदाचार है। अत इनसे भी वही कार्य होता है जो सयम, तप, त्याग, ध्यान, चारित्र, स्वाध्याय आदि साधनाओ व शुद्ध भावो से होता है।

यह नियम है कि दुष्प्रवृत्तियॉ या पाप कर्तृत्व भाव के बिना नही होते। उनके साथ करने के राग रूप कर्तृत्व एव फल की आशा रूप भोक्तृत्व भाव लगा ही रहता है, परन्तु सद् प्रवृत्तियॉ स्वाभाविक व सहज होती है। उनमे करने का भाव अपेक्षित नही है। कारण कि करने का भाव भोक्तृत्व भाव से उत्पन्न होता है अर्थात् किसी क्रिया के फल से सुख भोगने की आशा से कर्तृत्व भाव पैदा

होता है। विषय-कषाय के सुख भोग का प्रभाव चैतन्य पर अकित होना, स्थित होना ही कर्म बध या स्थिति बध है। अपने भोग के सुख के राग को गालने के लिये ही साधक सद्प्रवृत्ति रूप परोपकार करता है। उस प्रवृत्ति से जितना जितना भोग का राग गलता जाता है वह प्रवृत्ति उतनी ही पवित्र होती जाती है। उसका अनुभाव, अनुभाग उतना ही बढता जाता है साथ ही स्थिति घटती जाती है। तात्पर्य यह है कि बध का कारण प्रवृत्ति के साथ रहा हुआ करने का राग व फलासक्ति रूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। कर्तृत्व-भोक्तृत्वभाव रहित सहज स्वभाव से ज्ञाता द्रष्टाभाव से जो प्रवृत्ति होती है वह प्रवृत्ति या क्रिया स्वभाव व गुण का व्यक्त रूप होने से बध का कारण नही है। स्वभाव कभी भी बध रूप नही होता है। बध विभाव या दोष से ही होता है। अत कर्म सिद्धान्त में पुण्य प्रकृतियो का जो बध कहा है वह उस प्रवृत्ति मे रहे हुये करने के राग व फलासक्ति रूप कर्तृत्व और भोक्तृत्वभाव रूप पाप (कषाय) के कारण से है पुण्य के कारण से नही।

■

अहिंसा, पुण्य और धर्म

पुण्य की व्याख्या पहले कर आए है' यहा धर्म की कतिपय परिभाषा दे रहे है-

चत्तारि धम्मदारा - खती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे - स्थानाग ४/४

धर्म के चार द्वार हैं - क्षमा, सतोष, सरलता और मृदुता (नम्रता)

समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए– आचारांग १/८/३

आर्य महानुभावों ने समभाव में धर्म कहा है।

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सजमो तवो –दशवैकालिक १/१

धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिंसा, सयम एव तप रूप है।

धम्मस्स विणओ मूलं –दशवैकालिक ९/२/२

धर्म का मूल विनय है।

धम्मो वत्थुसहावो।–कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

असुहादो विणिवत्ति,

सुहे पवित्ति य जाण चारित्त। -द्रव्यसग्रह, ४५

अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति को चारित्र जानो।

धम्मो दयाविसुद्धो - बोधपाहुड, २५

दया युक्त धर्म विशुद्ध होता है।

जीवाण रक्खण धम्मो - कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८

जीवो की रक्षा करना धर्म है।

अहिंसादिलक्षणो धर्म –तत्त्वार्थसूत्र ६/१३, राजवार्तिक टीका

धर्म अहिंसादि लक्षण वाला है।

सील मोक्खस्स सोवाण–शीलपाहुड, २०

शील - सदाचार मोक्ष का सोपान है।

सतोसिणो नो पकरेंति पाव। सूत्रकृताग १/१२/१५

सतोषी साधक पाप नही करते।

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।

मायं चज्जवभावेण, लोभ सतोसओ जिणे।।–दशवै ८/३९

क्रोध को शान्ति से, मान को मृदुता से -नम्रता से, माया को ऋजुता सरलता से और लोभ को सतोष से जीतना चाहिये।

ऊपर जो धर्म की परिभाषाएँ दी गई है, उनमे आत्मा के स्वाभाविक गुण क्षमा, सतोष, सरलता, नम्रता, समभाव, अनुकपा आदि को एव इन गुणो के क्रियात्मक रूप दया, जीवों का रक्षण, शील, सदाचार आदि सद् प्रवृत्तियो को धर्म कहा गया है।

सामान्य जन तो दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियों को अर्थात् शुभ योग को धर्म ही मानते हैं, परन्तु कुछ बुद्धिवादी यह युक्ति देते है कि दया, रक्षा, करुणा, अनुग्रह, वात्सल्य, सेवा, परोपकार, मैत्री, अनुकम्पा आदि अहिसा के विधिपरक रूप अर्थात् शुभ योग प्रवृत्तियुक्त होते हैं, अत ये पुण्य बध के कारण है, धर्म नही है, और बध ससार मे भ्रमण कराता है, रुलाता है, अत बुरा है, हेय है, त्याज्य है। अत पुण्य मुक्ति-प्राप्ति मे बाधक होने से धर्म नही है। धर्म तो निवृत्तिरूप ही होता है।लेकिन उनका यह कथन युक्तियुक्त नही है, कारण कि जीवन का अध्ययन करने से ऐसा विदित होता है कि प्रवृत्ति दो प्रकार की है —1 दुष्प्रवृत्ति और 2 सद्-प्रवृत्ति। हिसा, झूठ, चोरी, विषय - कषाय आदि दुष्प्रवृत्तिया है इनको पाप कहा जाता है, जो उपयुक्त ही है। ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ सर्वथा त्याज्य ही है। दया, दान, करुणा, वात्सल्य आदि सद् प्रवृत्तिया है । ये आत्मा को पवित्र करने वाली है। अत इन्हे धर्म कहा जाता है तथा पुण्य भी कहा जाता है। इन प्रवृत्तियो का भावात्मक रूप त्यागमय होने से धर्म है, कारण कि जहाँ त्याग है वहाँ धर्म है तथा इन प्रवृत्तियो का क्रियात्मक रूप स्व-पर हितकारी होने से ये पुण्य रूप है। पुण्य और धर्म परस्पर मे लेशमात्र भी विरोधी या बाधक नही है प्रत्युत् परस्पर सहयोगी, सहायक व पूरक है। सद् प्रवृत्तियो के क्रियात्मक रूप पुण्य से त्याग रूप धर्म सजीव, प्राणवान्, स्थायी व सबल होता है और त्याग रूप धर्म से क्रियात्मक रूप पुण्य पुष्ट होता है।

किसी का मन से भला या हित सोचना रूप प्रवृत्ति तथा वचन और काय से हित करने रूप दया, दान, रक्षा आदि विधिपरक प्रवृत्तियो को ठाणाग सूत्र के नवम ठाणे मे पुण्य मे गिनाया गया है। दया, रक्षा आदि को प्रश्नव्याकरण सूत्र के द्वितीय श्रुत स्कध मे अहिंसा मे गिनाया है और अहिंसा को वहाँ सवर मे ग्रहण किया है। सवर धर्म रूप ही होता है। अत दया, रक्षा आदि सद् प्रवृत्तियाँ व शुभ योग सवर या धर्म रूप ही है। पुण्य और सवर इन दोनो ही का आत्मा की पवित्रता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनका यह सम्बन्ध देह के अत होने तक अर्थात् सिद्ध होने के पूर्व क्षण तक रहता है। अत कुछ लोगो

की यह मान्यता है कि जो पुण्य है, वह धर्म नही है इस मान्यता के पीछे आगम का कोई आधार हो, ऐसा नही लगता है। किसी भी आगम मे व उसकी प्राचीन टीकाओं मे यह नही कहा गया है कि पुण्य धर्म नही है, वस्तुत जिस प्रकार सवर और निर्जरा आत्मा के पवित्र करने वाले तथा मोक्ष के साधन होने से धर्म है, इसी प्रकार आत्मा को पवित्र करने वाला पुण्य भी मोक्ष का साधन होने से धर्म है । सवर और निर्जरा तप की तरह पुण्य भी धर्म का ही अग है, कारण कि शुभ योग पुण्य है और शुभ योग सवर भी है। शुभ योग प्रवृत्ति का भावात्मक रूप, अशुभ की निवृत्ति रूप सवर है और क्रियात्मक रूप पुण्य है। भावात्मक और क्रियात्मक रूप का प्रगाढ सम्बन्ध होने से मुक्ति मार्ग मे अत तक साथ रहने से दोनो ही धर्म है। जो आत्मा का पतन करता है वह पाप है। पाप धर्म नही है, पाप अधर्म है। यदि आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को अधर्म माना जाय तो आत्मा को पवित्र करने वाले सवर, तप को भी अधर्म मानना होगा। इसी प्रकार मुक्ति-प्राप्ति के समय पुण्य छूट जाने से पुण्य को अधर्म, हेय या त्याज्य माना जाय तो मुक्ति-प्राप्ति के समय सवर, तप, यथाख्यात चारित्र आदि समस्त साधनाएँ छूट जाती है। अत इन्हे भी अधर्म एव हेय मानना होगा जो किसी को भी स्वीकार्य नही है।

शुभ योग दया, दान आदि अहिसा के क्रियात्मक रूप है, जो आत्मा को पवित्र करने वाले है। इसलिए शुभ योग को पुण्य कहा गया है। यह ज्ञातव्य है कि प्राचीन सभी ग्रन्थों मे 'पुण्य' को आत्मा को पवित्र करने वाला कहा है अर्थात् धर्म कहा है । आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को अधर्म, हेय या त्याज्य माना जाय तो आत्मा का पतन करने वाला पाप तो हेय व त्याज्य है ही।फिर तो दोनो हेय ही हुए। दोनो मे कोई अन्तर ही नही हुआ, ऐसा ही मानकर कुछ विद्वानो ने आत्मा को पवित्र करने वाले पुण्य को सोने की शूली और आत्मा का पतन करने वाले पाप को लोहे की शूली कहा है। शूली लोहे की हो या सोने की, शूली पर चढ़कर मृत्युदण्ड पाने वाले को इससे क्या अन्तर पडता है ? अर्थात् कुछ नही । क्योंकि ऐसा तो होता नही है कि सोने की शूली पर मृत्युदड पाने वाले की मृत्यु प्रसन्नतापूर्वक होती हो अथवा मृत्यु नही होती हो। शूली सोने की हो अथवा लोहे की उसका काम मौत के घाट उतारना है,मृत्यु व दु,ख दोनो से समान ही मिलते है। दोनों का फल समान है। इस दृष्टि से पाप को लोहे की बेड़ी व लोहे की शूली मानना तथा पुण्य को सोने की बेड़ी व शूली मानना पुण्य-पाप को समान मानना है व समान स्तर पर ला

देना है। फिर पुण्य का पाप से भिन्न कुछ अर्थ ही नही रह जाता है। इस प्रकार दया,दान, मैत्री, रक्षा आदि पुण्य रूप शुभ प्रवृत्तियो को हिंसा , झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पाप रूप अशुभ प्रवृत्तियों की कोटि में ला देना है, जो सर्वथा अनुपयुक्त एव अनुचित है।

उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करना पुण्य करके अपनी हानि करना है। इससे उसका दया, दान आदि शुभ या सद् कार्य व पुण्य न करना ही श्रेष्ठ होगा, जिससे जन्म-मरण व ससार-परिभ्रमण रूप दु ख को बढावा तो न मिले। अभी पाप प्रवृत्ति से ससार-परिभ्रमण हो रहा है, वही बहुत है। फिर पुण्य करके उस परिभ्रमण को बढ़ाने की मूर्खता क्यो की जाय? आशय यह है कि इस मान्यता को स्वीकार करना दया, दान, करुणा, सेवा रूप मानवीय गुणों का ही उच्छेद कर देना है जो घोर अमानवता है। जिसका मानव जीवन मे कोई स्थान ही नही है।

इसी विषय मे बहुश्रुत प रत्न श्री समर्थमलजी म सा से लेखक ने बूँदी (राजस्थान) में पूछा था - महाराज ! यह फरमाइये कि आगमो में पुण्य को हेय कहाँ कहा गया है ? उत्तर मे श्री बहुश्रुत जी महाराज ने फरमाया कि आगमो मे पुण्य को कहीं भी हेय नही कहा गया है और न हम "पुण्य हेय है", ऐसा मानते है। हम तो पुण्य को सोने की बेड़ी नही मानते, सोने का आभूषण मानते है, जो शोभास्पद होता है। मुझे बहुश्रुत जी का यह कथन यथार्थ लगता है, क्योकि पुण्य यदि हेय होता और साधक के लिये त्याज्य होता तो आगमो मे जैसे पाप के क्षय की साधना बताई गई है उसी प्रकार पुण्य क्षय की साधना भी बताई गई होती। परन्तु आगम मे पुण्यक्षय का कोई उपाय या साधना नही बतायी गयी है। आगम मे अहिंसा, सयम और तपरूप धर्मसाधना अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप साधना अथवा अन्य जो भी साधनाएँ बताई गई है उनसे पुण्य का क्षय नही होता है प्रत्युत् जैसे-जैसे साधक साधना मार्ग में आगे बढ़ता जाता है पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष अवश्य होता है। इसीलिये वीतराग केवली अनन्त पुण्यवान् होता है। यदि मुक्ति के लिये पुण्य क्षय करना आवश्यक माना जाये तो फिर पुण्य क्षय करने के दो ही मार्ग शेष रह जाते है (1) पुण्य का उदय मे आकर स्वत क्षय होना और (2) पाप की वृद्धि रूप सक्लेशभाव से पुण्य प्रकृतियो का पाप प्रकृतियों में सक्रमण होना। प्रथम मार्ग निसर्ग पर निर्भर करता है। उसमे साधक को कुछ नहीं करना होता है। दूसरा मार्ग पापवृद्धि का हे जो साधक के लिये घातक है अत त्याज्य ही है। तात्पर्य

यह है कि पुण्य साधक के लिये बाधक या त्याज्य नही है और न पुण्यक्षय का साधना से कोई सम्बन्ध ही है।

जिस प्रकार सागर पार पहुँचने पर नौका छूट जाती है उसी प्रकार ससार सागर पार पहुँचकर मुक्त होने पर पुण्य स्वत छूट जाता है अथवा जिस प्रकार औषधि रोग को मिटाकर स्वय छुट्टी पा लेती है उसी प्रकार 'पुण्य' पाप रूप विकारों को नष्ट कर स्वय छूट जाता है। इसीलिये आगम में पुण्य के क्षय करने का कही भी विधि विधान नही हैं। साधक के लिये पापत्याग का व्रत ग्रहण करने के समान पुण्य-त्याग का व्रत ग्रहण करने का कही पर नाम मात्र का भी उल्लेख या विधान नही है।

यथार्थता तो यह है कि त्याग धर्म की आत्मा है और पुण्य प्रवृत्ति धर्म की देह है। जैसे देह आत्मा को धारण करने वाला है ससारी आत्मा देह के बिना नही रह सकती, देहान्त होना मृत्यु है वैसे ही पुण्य धर्म को धारण करने वाला है, सदेह अवस्था मे दया, दान, करुणा, वात्सल्य, मैत्री आदि सद् प्रवृत्तियाँ रूप पुण्य के बिना धर्म या त्याग नही टिक सकता है कारण कि देह के रहते हुये प्रवृत्ति होगी ही । अत सद्-प्रवृत्ति न होगी तो दुष्प्रवृत्ति होगी, जिससे साधक का पतन होगा। इसलिये पुण्य रहित होना पुण्य हीन होना है, पुण्यहीन धर्महीन होता ही है। धर्म हीन होना सौभाग्यहीन होना है, दुर्भाग्य को आह्वान करना है।

ऊपर कह आये है कि त्याग-सवर-सयम धर्म की आत्मा है और पुण्यरूप सद् प्रवृत्तियाँ धर्म की देह है। दोनो धर्म के अग है। दोनो मे अन्तर इतना ही है कि आत्मा अविनाशी होता है और देह विनाशी । इसी प्रकार सवर और पुण्य सद् प्रवत्तियों मे इतना ही अन्तर है कि त्यागरूप सवर साधना का अभिन्न अग है जो अन्त में मुक्ति-प्राप्ति के समय साध्य में परिणत हो जाता है। जबकि सद् प्रवृत्ति रूप पुण्य साधना का सहयोगी अग है जो साध्य की प्राप्ति हो जाने पर नौका की तरह स्वत छूट जाता है अथवा अग्नि की तरह है जो ईधन समाप्त होने पर स्वत शात एव सान्त हो जाता है। सवर या त्याग साधन भी है, साधना भी है और साध्य भी है जबकि पुण्य साधन व साधना ही है, साध्य नही है। पुण्य विकार दूर करने के लिये औषधि के समान है जो विकार से मुक्ति पाने पर, स्वस्थ (निर्विकार) होने पर स्वत छूट जाता है। जैसे यथाख्यात चारित्र भी स्वत छूट जाता है।

जब तक शरीर है तब तक प्राणी प्रवृत्ति किये बिना नही रह सकता। यदि

तन व वचन से प्रवृत्ति करना रुक भी जाय तो मन मे चिन्तन, मनन, सकल्प विकल्प, विचार आदि प्रवृत्तियाँ चलती ही रहती है। अत. साधक राग, द्वेष, मोह रूप रोग या विकार गलाने वाली, घटाने वाली सद् प्रवृत्ति नही करेगा तो राग या विकार वर्द्धक दुष्प्रवृत्ति होगी ही। सद् प्रवृत्तियों से वीतरागता तथा अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख की ओर गति होती है और दुष्प्रवृत्ति से दोषो और दु खो की ओर गति होती है। अत जब-जब प्रवृत्ति करे, सजगता, स्मृति, समिति-यतनापूर्वक करे, राग-द्वेष रहित होकर समभावपूर्वक-सामायिक रूप से करे।

मन-वचन व काया इन तीनो योगो मे से किसी न किसी योग की प्रवृत्ति तो सयोगी वीतराग के भी होती रहती है। वे प्रवचन व उपदेश देते ही है। अत प्रवृत्ति करना बुरा नही है और न बधन का कारण है । बुरा है प्रवृत्ति के साथ लगा हुआ विषय-कषाय , राग-द्वेष। यही बधन का कारण भी है। अत प्रवृत्ति त्याज्य नही है त्याज्य है विषय-कषाय। जिस प्रवृत्ति के साथ जितना विषय-कषाय भाव प्रगाढ है वह उतनी ही दुष्प्रवृत्ति है, पाप प्रवृत्ति है , जो त्याज्य है।

प्रवृत्ति के तीन रूप कहे जा सकते है - (1) राग द्वेष आदि दोष वर्द्धक (2) रागादि दोष नाशक (गालने वाला) और (3) राग द्वेष आदि दोष रहित - वीतरागता युक्त। इनमे से प्रथम रागादि दोषवर्द्धक प्रवृत्ति पाप रूप होने से त्याज्य ही है। द्वितीय रागादि दोषनाशक प्रवृत्ति साधन रूप होने से कर्म क्षय करने वाली है और तृतीय वीतराग-प्रवृत्ति नैसर्गिक होने से स्वत सहज होती है। ये अन्तिम दोनो प्रवृत्तियाँ सद् प्रवृत्तियाँ है, इनसे लेशमात्र भी हानि नही है। ये सद् प्रवृत्तियाँ त्याज्य नही है, उपादेय हैं। यहा तक कि साधक और वीतराग पुरुष (सयोगी केवली) का श्वास लेना, भाषण देना आदि भी सद् प्रवृत्तियाँ है। परन्तु ये कर्म बध की हेतु नही है कारण कि इनका उपयोग व उनका जीवन अपने भोग के लिये नही है, प्रत्युत् ससार की सेवा के लिये है।

प्रवृत्ति मात्र कर्म बध का कारण हो, ऐसी बात नही है। प्रवृत्ति कर्मो का क्षय करने वाली भी होती है अर्थात् प्रवृत्ति से कर्मो की निर्जरा भी होती है। इस सम्बन्ध मे भगवतीसूत्र का निम्नाकित कथन उल्लेखनीय है-

समणोवासगस्स ण भंते ! तहारूव समण वा माहण वा अफासुएण अणेसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेण पडिलाभेमाणस्स कि कज्जइ ? गोयमा ! एगंत सो निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे कम्मे कज्जइ। भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ६

अर्थात् (गोतमस्वामी पूछते है) हे भते ! तथारूप श्रमण या माहण को प्रासुक अशन, पान, खादिम और स्वादिम का आहार देने वाले श्रमणोपासक को क्या फल होता है ? (उत्तर मे भगवान् फरमाते है) हे गोतम ! श्रमणोपासक को एकान्त निर्जरा रूप फल प्राप्त होता है, उसे पापकर्म नही लगता है।

यहा दानरूप प्रवृत्ति को एकान्त निर्जरा का कारण बताया है अर्थात् दान रूप प्रवृत्ति को लेशमात्र भी पापरूप बध का कारण नही बताया है। क्योकि एकान्त निर्जरा का तात्पर्य बध का सर्वथा निषेध ही है। तात्पर्य यह है कि दानादि प्रवृत्तियाँ बध रहित एकान्त निर्जरा रूप होती है।

भगवतीसूत्र के पहले शतक मे एक प्रश्नावली के माध्यम से यह समझाया गया है कि जीव आत्मारभी, परारभी, तदुभयारभी और अनारभी है। ससार के सभी जीव यानी चौबीस ही दण्डको मे जीव आत्मारभी, परारभी और तदुभयारभी होते हैं। किन्तु मनुष्य मे आत्मारभी, परारभी, तदुभयारभी और अनारभी यो चारो प्रकार के होते हैं। इस विषय को स्पष्ट करते हुये भगवती सूत्र शतक 1 उद्देशक 1, सूत्र 16 मे इस प्रकार कहा है-

जीवा दुविहा पण्णत्ता, तजहा ससारसमावन्नगा य अससारसमावन्नगा य, तत्थ ण जे ते अससारसमावन्नगा ते ण सिद्धा, सिद्धा ण नो आयारभा जाव अणारम्भा, तत्थ ण जे ते ससारसमावन्नगा ते दुविहा पण्णत्ता, तजहा-सजया य असजया य, तत्थ ण जे ते सजया दुविहा पण्णत्ता, तजहा - पमत्तसजया य अपमत्तसजया य, तत्थ णं जे ते अपमत्तसजया ते ण नो आयारभा नो परारभा जाव अणारभा तत्थ ण जे ते पमत्तसजमा ते सुहजोग पडुच्च नो आयारंभा नो परारभा जाव अणारभा, असुभ जोग पडुच्च आयारभावि जाव नो अणारभा, तत्थ ण जे ते असजमा ते अविरतिं पडुच्च आयारभावि जाव नो अणारभा।

गोतम ! जीव दो प्रकार के है- सिद्ध और ससारी। इनमें जो सिद्ध जीव है वे न आत्मारभी है, न परारभी है और न तदुभयारभी है परन्तु अनारभी हैं। ससारी जीव दो प्रकार के है - सयमी व असयमी। इनमे सयमी दो प्रकार के है —प्रमत्तसयमी और अप्रमत्तसयमी। इनमे जो अप्रमत्तसयमी हैं - वे आत्मारभी नही है, परारभी नही है, तदुभयारभी नही हैं, किन्तु अनारभी है। पर जो प्रमत्तसयमी है वे सुह जोग पडुच्च अर्थात् शुभ योग की अपेक्षा न आत्मारभी है, न परारभी है ,न तदुभयारभी है, अपितु अनारभी है और असुह जोग पडुच्च अर्थात् अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारभी भी है, परारभी भी है और तदुभयारभी है परन्तु अनारभी नही हैं ।

उपर्युक्त सूत्र मे शुभयोग की अपेक्षा प्रमत्तसयमी को एकान्त अनारभी कहा

है। अशुभ प्रवृत्ति को रोकने वाला होने से शुभ योग को सवर कहा है।

जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र मे भी कहा है-

सव्वेहिं भूएहि दयाणुकपी खंतिक्खमे सजयबंभयारी।
सावज्जजोग परिवज्जयतो, चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥

उत्तरा २११३

अर्थात् "इन्द्रियों को सयम मे रखने वाला भिक्षु सभी प्राणियों के प्रति दयालु व अनुकपाशील रहे, क्षमावान, सयमी व ब्रह्मचारी हो तथा पाप प्रवृत्तियो का त्याग करता हुआ विचरण करे।" इस गाथा मे साधु के लिये सर्व जीवो के प्रति दयालु व अनुकपाशील रहने का स्पष्ट विधान है। यहाँ दया और अनुकपा को भी सयम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, सावद्ययोग-त्याग के समान ही स्थान व महत्त्व दिया गया है अर्थात् सवर व निर्जरा रूप धर्म कहा है।

प्रसिद्ध दिगबराचार्य श्री वीरसेनस्वामी ने कषायपाहुड की जयधवला टीका मे कहा है—**सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो** ।-जयधवल पुस्तक 1, पृष्ठ १५, अर्थात् यदि शुभ और शुद्ध परिणामो से कर्मो का क्षय न माना जाय तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता। यहाँ आचार्य ने शुद्धभाव के समान शुभ भाव से भी कर्मक्षय होते है, स्पष्ट कहा है। तात्पर्य यह है कि शुभ भाव कर्म बध के कारण नहीं है, कर्मक्षय के कारण हैं।

अहिसा के दो रूप है - (1) भावात्मक और (2) क्रियात्मक (द्रव्यात्मक) अर्थात् आभ्यतरिक एव बाह्य। अहिसा का भावात्मक रूप स्व- पर सर्व हितकारी होता है, उसमे लेशमात्र भी किसी भी प्राणी के अहित की भावना, दुर्भावना नहीं होती है। भावात्मक रूप विषयासक्ति या राग घटाने वाला होता है। यह बात दूसरी है कि वीतराग के अतिरिक्त अन्य प्राणियो के भाव मे सदैव विषय-कषाय, राग, द्वेष, मोह रहता ही है, अत इनका उदय अपना प्रभाव दिखाता है। परन्तु दया, रक्षा, अनुकपा आदि अहिसा के भाव मे मैत्री भाव, भ्रातृत्वभाव (बधुत्व) मातृत्व भाव (वात्सल्य) रूप हितकारी भाव (प्रेम) उमड़ने से उसके अत करण मे विद्यमान उदयमान राग, द्वेष-मोह भाव (जड़ता) उसी प्रकार पिघलता है, द्रवित होता हे जैसे बर्फ पिघलकर जल व भाप बनती है। अत दया, दान आदि प्रवृत्तियाँ अहिसक के लिये राग-द्वेष - मोह घटाने वाली होने से, कल्याणकारी है।

आशय यह है कि दया, दान आदि अहिसात्मक सद्प्रवृत्तियाँ राग, द्वेष, मोह को घटाने वाली होने से आत्मा को विशुद्ध करने वाली, पवित्र करने वाली होती

हैं। अत त्याज्य नही है, त्याज्य है इसके साथ रहे हुये राग, द्वेष आदि भाव। जिनका त्यागना साधक के अपने पुरुषार्थ पर निर्भर है। ये राग, द्वेष आदि दोष अप्रमत्त सयत जैसे उत्कृष्ट साधक के सवर , सयम व तप में भी होते है इसीलिये उसके भी पाप का न्यूनाधिक रूप में सदैव बध होता रहता है, परन्तु इससे सयम या तप त्याज्य नही हो जाते हैं । इसी प्रकार अहिंसा भी त्याज्य नही है चाहे वह सकारात्मक हो या निषेधात्मक। यह तथ्य धर्म के अहिंसा , सयम और तप इन तीनों रूपो पर समान रूप से लागू होता है। अत जैसे सयम और तप के साथ राग, द्वेष आदि दोष रहते हुये भी सयम और तप को बुरा या त्याज्य नही माना जा सकता उसी प्रकार दया, दान आदि सकारात्मक अहिंसा को बुरा नही माना जा सकता। इन्हें बुरा या त्याज्य समझना न न्याययुक्त है, न युक्तियुक्त है और न आगम सम्मत है, न व्यवहार सगत है, प्रत्युत् भयकर भूल है।

यह भूल सर्वस्व नाश करने वाली है। इस भूल के रहते हुए साधक एक कदम भी साधना पथ में आगे नही बढ सकता, कारण कि जहाँ मानवता ही नही है वहाँ धर्म या साधना कैसे सम्भव हो सकती है। यह सदैव स्मरण रहना चाहिये कि जिस क्रिया से राग, द्वेष, मोह आदि दोष बढ़े वह सक्लेश है, मोह है, पाप है। उसका पुण्य व धर्म मे कोई स्थान नही है। पुण्य व धर्म से राग द्वेष - मोह आदि दोष घटते ही है। भावो मे विशुद्धि आती ही है । परन्तु राग द्वेष मोह का उदय रहते हुये जैसे सयम और तप त्याज्य या बुरे नही होते है वैसे ही सद्प्रवृत्तिया भी त्याज्य नही है। कारण कि उससे विषयासक्ति घटती ही है, बढ़ती नही है।

दया, दान आदि सद्गुणो के भावात्मक रूप का सम्बन्ध आत्म-भाव से, आत्मा से है, स्व से है, अविनाशी तत्त्व से है। अत उसका फल आतरिक शान्ति, मुक्ति, प्रसन्नता, अमरत्व आदि विभूतियो के रूप मे मिलता है। परन्तु इन सद्गुणो के क्रियात्मक रूप के लिए भौतिक (पौद्गलिक) पदार्थों का आश्रय लेना होता है। अत इसका फल शरीर, मन, वाणी व अन्य भौतिक सामग्री की उपलब्धि के रूप मे भी मिलता है। जिसके कारण-कार्य का मूल सम्बन्ध इस प्रकार है- सद्गुणो के भावात्मक रूप से आत्मा के राग द्वेष आदि विकार घटते है जिससे आत्मा की विशुद्धि या पवित्रता बढ़ती है। आत्मा की पवित्रता या विशुद्धि की वृद्धि से आत्मा का विकास होता है। आत्मा के विकास से ही आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुणो का विकास होता है। दर्शन गुण के विकास से ज्ञान

व चिन्मयता (स्व-सवेदन) शक्ति का विकास होता है। फलत कर्म - सिद्धान्त या नैसर्गिक नियमानुसार तदनुरूप द्रव्येन्द्रियो का अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप ज्ञान-दर्शन की अभिव्यक्ति के साधनो का विकास होता हैं अर्थात् ये विकसित रूप मे प्राप्त होते है तथा सद्प्रवृत्तियो से जिन प्राणियो व व्यक्तियो का हित हुआ है उनसे आदर-सत्कार, सम्मान व भौतिक सामग्री भेट रूप मे मिलती है। इस प्रकार क्रियात्मक रूप का सम्बन्ध भौतिक जगत से होने से उसका फल भी भौतिक सपत्तियो या विभूतियो के रूप मे मिलता है।

ये भौतिक विभूतियाँ या उपलब्धियाँ साधन-सामग्री हैं। यह साधन सामग्री न भली है और न बुरी है। इसीलिए कर्म-सिद्धान्त मे इनकी उपलब्धि को अघाती कर्म का फल कहा है। अघाती का अर्थ चैतन्य गुण का किसी भी अश मे घात करने मे कारणभूत नही होना है। इस साधन-सामग्री का सदुपयोग प्राणी के लिए कल्याणकारी एव मगलकारी होता है और दुरुपयोग पतनकारी व अमगलकारी (दु ख रूप) होता है।

उपलब्ध भौतिक सामग्री का सदुपयोग है सर्व हितकारी प्रवृत्ति करना। इससे राग या सुखासक्ति घटती है और आत्मा का कल्याण होता है, अहित लेशमात्र भी नही होता है। उपलब्ध भौतिक सामग्री का दुरुपयोग है उसके द्वारा विषय भोग भोगना, हिसा, चोरी आदि पाप करना। विषय-भोग से आत्मा मे जडता, पराधीनता, असमर्थता, आकुलता, व्याकुलता आदि दोषो व दु खो की उत्पत्ति होती है, जो अनिष्ट रूप है और हिसा, लूटपाट, सग्रह आदि पाप युद्ध, सघर्ष, कलह, अशाति, भय, अगभग, मृत्यु आदि दु खो के हेतु होते है। इस प्रकार प्राप्त साधन-सामग्री का दुरुपयोग पतनकारी, अमगलकारी व अकल्याणकारी होता है। अत उपलब्ध भौतिक साधन-सामग्री प्राणी को अपने सुख भोग के लिए नही, वरन् विश्व हित के लिए मिली है। उससे सुख भोगना, विषय-कषाय का सेवन करना अपना और जगत का अहित करना है, जिसका साधक के जीवन मे कोई स्थान ही नही है। उपलब्ध भौतिक सामग्री सम्पत्ति, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि का सदुपयोग ही दया, दान आदि का क्रियात्मक रूप है। यह आत्मा को पवित्र करने वाला होने से इसे पुण्य भी कहा जाता है जिसका फल तन, मन, इन्द्रिय आदि भौतिक उपलब्धियो के रूप मे मिलता है। इनका उपयोग साधक अपने भोगोपभोग के लिए नही करता है। साधक इनका उपयोग अपने सुख-भोग के लिए न कर अपनी सामर्थ्य अनुसार देह, परिवार, परिजन, समाज, राष्ट्र एव विश्व के हित के लिए अर्थात् पर-हित मे

सेवा रूप मे करता है। साधक इनका उपयोग (सदुपयोग) करता है, उपभोग नही। अहितकर इनका दुरुपयोग है, भोग है, प्राप्त सामग्री नही, इसीलिए इन्हे अघाती कहा है।

प्राप्त सामग्री का सदुपयोग पुण्य है और दुरुपयोग पाप है। पुण्य से आत्मा का किसी भी प्रकार का अहित नही होता है। वीतराग अनन्त पुण्यात्मा व धर्मात्मा होते है, क्योकि वे अनन्तदानी होते है। यदि 'दान' देना बुरा होता तो वीतराग होने पर अनन्तदान की उपलब्धि कदापि नही होती और उसे क्षायिकलब्धि नही कहा जाता। अनन्त पुण्यात्मा वीतराग के लिए भौतिक सामग्री शरीर आदि का होना या न होना समान ही है। वह सदैव इससे असग होने से पुण्य के फलस्वरूप मिली भौतिक सामग्री उसके लिए बधन रूप नही है । वह भौतिक उपलब्धियो से निर्मित शरीर, परिस्थितियो व घटनाओ का ज्ञाता-द्रष्टा होता है, कर्ता भोक्ता नही, अत बधन-मुक्त होता है। उसके लिए अघाती कर्म जली हुई रस्सी या भुने हुए चने के समान नि सत्त्व-निष्प्राण होते है। जो वीतराग का अहित करने मे लेशमात्र भी समर्थ नही है। अत पुण्य बुरा है, ससार मे रुलाता है, जीव को बॉध कर रखता है, अहितकर है, हेय है आदि धारणा निराधार व निर्मूल है। वस्तुत पुण्य मुक्ति का सहयोगी है जो मुक्ति प्राप्ति पर स्वत छूट जाता है। इसे त्यागने की जीवन मे, साधना के क्षेत्र मे आदि से अन्त तक कही भी आवश्यकता नही पडती है। परन्तु सद्गुणो का यह क्रियात्मक रूप 'पुण्य' साधन है साध्य नही, इसे सदैव ध्यान मे रखना चाहिये। पुण्य प्रवृत्ति को साध्य मान लेना साधन को साध्य मान लेना है जो भूल है, इस भूल से बचने के प्रति साधक को सदैव सजग रहना चाहिए। प्रवृत्ति जीवन नही है। जीवन है उसमे रहा हुआ त्याग रूप भाव। इसे कभी नही भूलना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि मानव मात्र मे आशिक रूप में आत्मा के अनुकपा, क्षमा, सरलता आदि स्वाभाविक गुण विद्यमान है और इनमे इनका क्रियात्मक रूप दया, दान आदि न्यूनाधिक सद्प्रवृत्तियॉ देखी जाती है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा ने उत्तराध्ययन के २९ वे सम्यक्त्व पराक्रम अध्ययन के तीसरे बोलधर्म-श्रद्धा के विवेचन मे फरमाया है कि कोई भी जीव ऐसा नही है जो धर्म रहित हो। आचार्य श्री का यह प्ररूपण 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव धर्म है, धर्म की इस व्याख्या के अनुसार है।

इसी तथ्य को ज्योतिर्धर जवाहराचार्य ने जवाहर किरणावली (सम्यक्त्व पराक्रम भाग-१) के पृष्ठ १६२ पर इस प्रकार कहा है—

जीवन मे धर्म का अत्यत महत्त्वपूर्ण स्थान है, यहाँ तक कि धर्म के बिना जीवन व्यवहार भी नही चल सकता जो लोग धर्म की आवश्यकता स्वीकार नही करते उन्हें भी जीवन मे धर्म का आश्रय लेना पड़ता है, क्योकि धर्म का आश्रय लिए बिना जीवन व्यवहार निभ ही नही सकता है। उदाहरणार्थ पाच और पाच दस होते है यह सत्य है और सत्य धर्म है। इसे स्वीकार करना होगा।

■

क्षयोपशमादि भाव, पुण्य और धर्म

जीव के शुभाशुभ परिणाम या भाव ही कर्म-बध के एव मुक्ति के हेतु हैं। भाव पाँच हैं— औदयिक, क्षायिक औपशमिक, क्षायोपशमिक एव पारिणामिक। इन भावों में से कौनसे भाव कर्म बध के हेतु हैं और कौनसे भाव कर्म क्षय के या मोक्ष के हेतु हैं, इस सबध में श्वेताबर और दिगबर दोनों सप्रदायों को यह गाथा मान्य है-

ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु पारणामिओ करणो य वज्जिओ होइ॥

अर्थ- औदयिक भावों से कर्म बध होता है, औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भावों से मोक्ष होता है और परिणामिक भाव बध और मोक्ष इन दोनों का कारण नही है।

इस गाथा में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीनों भावों को मोक्ष का हेतु कहा है। जो मोक्ष का हेतु होता है वह धर्म होता है। अत इससे यह फलित होता है कि जैसे औपशमिक भाव और क्षायिक भाव धर्मरूप है वैसे ही क्षायोपशमिक भाव भी धर्म है। कारण कि क्षायोपशमिक भाव स्वभाव है। क्योंकि वह किसी कर्म के उदय से नही होता है, अपितु कर्म के सर्वघाती स्पर्धको के क्षय व उपशम से होता है।

यही प्रश्न उठता है कि यदि क्षयोपशम भाव को धर्म माना जाये तो क्षयोपशम भाव तो मिथ्यात्वी के भी होता है। अत उसके भी धर्म होना मानना होगा जबकि आगम मे सम्यग्दर्शन के पश्चात् ही धर्म होना माना है सम्यग्दर्शन के पूर्व नही। इस प्रकार इन दोनो मान्यताओ मे विरोध प्रतीत होता है। इसका समाधान क्या है ?

उपर्युक्त प्रश्न मौलिक है। इसके समाधान के लिये व्यावहारिक एव आगमिक तथा सामान्य एव विशेष दृष्टि से विचार करना होगा। सामान्य दृष्टि से गुण स्वभाव है। अत धर्म है और दोष कृत्रिम है, अत अधर्म है, पाप है। दोष की उत्पत्ति प्राणी की भूल से होती है अत दोष का स्वतत्र अस्तित्व नही है। इसे दूसरे शब्दो मे कहे तो गुण की कमी का नाम ही दोष है। गुण का पूर्ण अभाव कभी नही होता, केवल कमी ही हो सकती है। यही कारण है कि कोई भी प्राणी कभी पूर्ण दोषी या पापी नही हो सकता। क्योकि कोई पूर्ण दोषी या पापी हो जाये तो उसके गुण पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगे, जिससे चेतन 'चेतन' न रहकर जड़ हो जायेगा, परन्तु ऐसा कभी होता नही। प्रकारान्तर से कहे तो प्रत्येक प्राणी गुण दोष युक्त होता है। गुण जीव का

स्वभाव है उसकी उत्पत्ति नही होती। उत्पत्ति दोष की होती है। अत निवृत्ति भी दोष की होती है। दोष की निवृत्ति से गुण की अभिव्यक्ति होती है उत्पत्ति नही, क्योकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका विनाश अवश्य होता है। गुण का नाश कभी नही होता उस पर आवरण आता है या अतराय (अतराल) पड़ती है।

गुण स्वभाव रूप होने से धर्म है और स्वभाव मे कमी होना दोष है जो अधर्म है। पहले कह आये है कि प्रत्येक प्राणी मे आशिक गुण व आशिक दोष हैं। अत प्रत्येक प्राणी में आशिक धर्म व आशिक अधर्म (दोष-पाप) है। इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी या सभी सासारिक प्राणी धर्मात्मा भी हैं व पापात्मा भी हैं। फिर किसे धर्मात्मा कहे और किसे पापात्मा। ऐसी स्थिति में पापी व धर्मी मे भेद ही नही किया जा सकेगा। सभी एक समान हो जायेंगे। जिससे पापी व धर्मात्मा की पहचान करना कठिन हो जायेगा। वास्तविकता तो यह है कि इस आशिक गुण-दोष रूप धर्म-अधर्म का विशेष महत्त्व नही है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी के प्रतिक्षण उसके गुण दोष मे, हानि-वृद्धि अर्थात् न्यूनाधिकता होती ही रहती है। दोष की न्यूनता अथवा आशिक गुणो की अभिव्यक्ति को ही क्षयोपशम कहा जाता है।

मिथ्यादृष्टि के क्षमा, सरलता, नम्रता, करुणा आदि गुणो की उपलब्धि भी दोषो के क्षयोपशम से ही होती है। शुभ योग भी विशुद्धि भाव से अर्थात् क्षयोपशम भाव से ही होते है, किसी कर्म के उदय से नही होते है। अत स्वभाव है, धर्म है, विभाव व अधर्म नही है। प्रज्ञाचक्षु प श्री सुखलाल जी ने तत्त्वार्थ सूत्र अ २ सूत्र १-७ मे टीका मे स्पष्ट कहा है कि औदयिक भाव विभाव हैं और शेष चार भाव (क्षायोपशमिक, क्षायिक, आदि) स्वभाव है। पडित जी ने इसी सूत्र के अध्ययन ५ सूत्र ६ की टीका मे असयमी के क्षमा आदि गुणो को सामान्य धर्म कहा है। तात्पर्य यह है कि क्षमा, सरलता, दया, आदि गुण क्षायोपशमिक भाव मिथ्यादृष्टि के भी होते है और वे स्वभाव व धर्म है। परन्तु ये सामान्य धर्म है और यह सामान्य धर्म सभी प्राणियो मे न्यूनाधिक पाया जाता है। परन्तु जब तक क्षायिक भाव से कर्मों का मूल से क्षय नही होता तब तक मुक्ति की प्राप्ति नही होती। अत जो महत्त्व कर्मों के क्षय होने का है वह क्षयोपशम का नही। कारण कि सामान्य धर्म मे हानि वृद्धि होती ही रहती है और किसी न किसी अश में तत्सबधी दोष का उदय भी बना ही रहता है।

दोष का ही दूसरा नाम राग -द्वेष रूप कषाय है। कषाय चार प्रकार का है —(१) अनतानुबधी, (२) अप्रत्याख्यानावरण, (३) प्रत्याख्यानावरण और (४) सज्वलन । सम्यक्त्व के अभाव मे अनतानुबधी कषाय के अनुभाग की न्यूनता को विशुद्धि या पुण्य व अनुभाग की वृद्धि को सक्लेश या पाप कहा जाता है। कषाय की न्यूनता से चेतना के दर्शन गुण रूप सवेदन शक्ति के आवरण में व ज्ञान गुण के आवरण में कमी हो जाती है। जिससे इन गुणो की अभिव्"ाक्त में वृद्धि होती है। यही विकास पुण्य तत्त्व का द्योतक है। यही क"रण है कि विशुद्धि की वृद्धि से बाह्य जगत् से सबध रखने वाले अघाती कर्म की वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र की अधिकाश* पाप प्रकृतियों का बध रुक जाता है और गति, जाति, सहनन, सस्थान, आयु, गोत्र आदि की पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का सर्जन होता है।

जिस प्रकार अनतानुबधी के क्षय व उपशम से जो चेतना का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है, वह धर्म है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानवरण, प्रत्याख्यानावरण व सज्वलन कषाय के क्षय या उपशम से चारित्र की विशुद्धि होती है वही धर्म कहा गया है।इन कर्मो के अनुभाग व स्थिति की कमी को धर्म नही कहा गया है।

उपर्युक्त धर्म की व्याख्या साधना की दृष्टि से है जो गुण के पूर्ण शुद्ध रूप विशुद्धि को लेकर कही गई है। अन्यथा तो आशिक विशुद्धि भी स्वभाव को ही प्रगट करती है। अत वह भी व्यावहारिक दृष्टि से धर्म ही है। इस दृष्टि से क्षयोपशम, शुभ प्रवृत्ति या पुण्य प्रवृत्ति भी धर्म ही है। धर्म की इन दोनो व्याख्याओ मे विरोध या मौलिक भेद नही है । यह भेद केवल लक्ष्य व लाक्षणिक दृष्टि से है।

इसे लक्ष्यभेद इस रूप में कहा जा सकता है कि जो कार्य जिस लक्ष्य से किया जाता है वह उसी का अग होता है और उसी नाम से कहा जाता है। जैसे जिस महिला का लक्ष्य भोजन बनाना है उस महिला की भोजन बनाने सबधी जितनी क्रियाएँ है वे सब भोजन बनाने रूप कार्य की ही अग है। भोजन के लिये स्टोव जलाना, कोयले फोड़ना, जल लाना, आटा गूँधना आदि कार्य करते हुये उसे पूछा जाय कि क्या कर रही हो ? तो इन सबका एक ही उत्तर होगा -भोजन बना रही हूँ। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य मुक्ति - प्राप्ति रूप धर्म होने से उसकी तद्विषयक प्रत्येक क्रिया धर्म कही जाती है तथा मिथ्यादृष्टि का लक्ष्य विषय सुख का भोग होने से उसका प्रत्येक कार्य उसी

का अग कहलाता है। यह भेद लक्ष्य की दृष्टि से है अन्यथा तो मिथ्यादृष्टि का क्षयोपशम व विशुद्धि भाव भी कर्मक्षय का ही हेतु है, बध का नही। यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे भी हेतु है जैसा कि कहा है -

खयउवसमिया विसोही देसणापाउग्गा करणलंद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करण पुण होइ सम्मत्ते।।

धवल पुस्तक ६ पृष्ठ -२०४व गोम्मटसार जीव काड गाथा ६५१

अर्थात् सम्यक्त्व-प्राप्ति मे क्षायोपशमिक, विशुद्धि (पुण्य) देशना, प्रायोग्य और करण, ये पाच लब्धियाँ होती है। इनमे से चार सामान्य हैं, जो करणलब्धि मे सहायक होती हैं। इस दृष्टि से मिथ्यादृष्टि के क्षायोपशमिक व विशुद्धि (पुण्य) भाव भी धर्म ही है। धर्म का यह भेद लक्षण की दृष्टि से है। सामान्य धर्म से पृथक् करने वाले विशेष असाधारण धर्म को लक्षण कहा जाता है। धर्म के इस लाक्षणिक भेद को समझने के लिये औदयिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक व औपशमिक भाव को दृष्टिगत करना होगा।

कर्मों के उदयजन्य भाव को औदयिक भाव कहा जाता है। उदय दो प्रकार का है—घातीकर्म रूप और अघाती कर्म रूप। घाती कर्म के उदय में आशिक कमी को क्षायोपशमिक भाव कहा जाता है। उदय रूप दोष के सर्वथा क्षय को क्षायिक भाव व उदय के पूर्ण उपशम को औपशमिक भाव कहा जाता है।

औदयिक भाव आत्मा के निज स्वरूप या स्वभाव रूप धर्म की घात करने वाला होने से इसे अधर्म या पाप कहा जाता है। क्षायोपशमिक भाव से आत्मा के आशिक गुण प्रकट होते हैं व क्षायिक व उपशम भाव से पूर्ण गुण प्रकट होते है अत ये तीनो भाव आत्मा के गुण स्वभाव प्रकट करने वाले होने से धर्म है। परन्तु इन तीनो भावो मे से दोषो की कमी रूप क्षायोपशमिक भाव न्यूनाधिक रूप से सभी जीवो मे पाया जाता है। अत क्षायोपशमिक भाव सभी जीवो का सामान्य धर्म हुआ।

इस सामान्य धर्म से पृथक् करने वाला, अर्थात् असामान्य कोटि का, दोष को पूर्ण क्षय करने वाला क्षायिक भाव व दोष उपशम करने वाला औपशमिक भाव ये दोनो भाव अपनी विशेषता रखते है। इसी विशेष धर्म को, सामान्य धर्म से पृथक् करने वाला होने की दृष्टि से इन्ही को धर्म माना है। परन्तु इससे सामान्य धर्म का महत्त्व कम नही हो जाता है। जैसे हायर सैकेण्डरी शिक्षा से कालेज की शिक्षा अपनी विशेषता रखती है, इससे हायर सैकेण्डरी शिक्षा का महत्त्व खत्म नही हो जाता है। कारण कि हायर सैकेण्डरी शिक्षा के बिना

कॉलेज की शिक्षा का ज्ञान सभव नही है। इसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव की वृद्धि के बिना क्षायिक व औपशमिक भाव रूप धर्म सभव ही नही है। कारण कि क्षायोपशमिक भाव से आत्म-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, जिससे व्यक्ति में मुक्ति प्राप्त करने के लिये आवश्यक पुरुषार्थ करने का सामर्थ्य आता है तथा क्षायिक एव औपशमिक उपलब्धि की अभिव्यक्ति होती है। अत क्षायोपशमिक भाव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भूमिका है। यह निश्चित है कि क्षायोपशमिक भाव का भी बडा महत्त्व है, क्योंकि सामान्य धर्म के अभाव में विशेष धर्म सभव ही नही है। इसीलिये क्षायोपशमिक भाव को मुक्ति का हेतु कहा है।

मिथ्यात्वी जीव के दया, दान, करुणा एव वात्सल्य भाव क्षयोपशम भाव रूप होते हैं इनसे उसके उदयमान कषाय या राग-द्वेष-मोह गलते हैं, क्षय व क्षीण होते हैं। इसलिये इसे शुभ योग रूप सवर व सामान्य निर्जरा का हेतु कहा जा सकता है। परन्तु यह क्षयोपशमभाव रूप ही होता है क्षायिक या उपशम भाव रूप नही होता है। क्योंकि इसके साथ रहे मिथ्यात्व के कारण सत्ता मे रहे हुये कषाय रूप राग-द्वेष मोह की जड़ का इससे उन्मूलन व क्षय नही होता है। इस दृष्टि से इसे आत्यतिक कर्म क्षय रूप विशेष धर्म की कोटि मे नही गिनाया गया है।

ऊपर जैसे धर्म के दो प्रकार कहे है यथा - (१) सहज भाव से स्वत होने वाला सामान्य धर्म और (२) विशेषविशुद्धि के लिये विशेष प्रयत्न से होने वाला विशेष धर्म। ऐसे ही निर्जरा के भी दो प्रकार कहे हैं (१) स्वत होने वाली सहज कर्म- निर्जरा। इसे अकाम निर्जरा या सविपाक निर्जरा कहा जाता है तथा (२) कर्मो के विशेष क्षय के लिये तपश्चर्या आदि विशेष प्रयत्न से होने वाली विशेष निर्जरा, जिसे सकाम निर्जरा या अविपाक निर्जरा कहा जाता है। यह सम्यग्दर्शनपूर्वक, विषय-कषाय के त्याग से, स्वाध्याय, ध्यान आदि साधना से होती है।

इन दो प्रकार की निर्जराओ मे से तत्त्वज्ञान मे दूसरी प्रकार की विशेष निर्जरा को ही निर्जरातत्त्व में स्थान दिया है जो बाह्य व आभ्यतर तप से होती है। मिथ्यात्वी जीव भी अनशन, विनय, वैयावृत्त्य, ध्यान आदि तप करता हैं इससे मिथ्यात्वी के कर्मों की निर्जरा होती है परन्तु यह निर्जरा कर्मों के क्षयोपशम रूप होती है - कर्मो के आत्यतिक क्षय या उपशम रूप नही होती। कारण कि वह मिथ्यात्वी जीव अनशन , ध्यान आदि तप भी करता है, तो किसी दुःख के भय से या विषय-कषाय जन्य सुख के प्रलोभन से करता है, निर्विकार होने

के लिये नही करता है। अत इसे साधनारूप धर्म नही कहा। दूसरी निर्जरा विकार रहित होने के लिये विशेष प्रकार के पुरुषार्थ रूप साधना करने से होती है। इससे कर्मों की निर्जरा सामान्य निर्जरा से असख्य गुणी होती है। इस विशेष निर्जरा को सामान्य से पृथक् रूप में प्रस्तुत करने के लिये निर्जरातत्त्व में स्थान दिया गया है तथा धर्म कहा गया है।

इसी प्रकार सवर को भी लें, कर्मों के आने के रुकने को सवर कहते हैं। यह सवर भी दो प्रकार का है - (१) स्वत सहजभाव से होने वाला सामान्य सवर और (२) विशेष प्रयत्न पूर्वक विशेष कर्मों का आना रुकने रूप विशेष सवर। इनमें से प्रथम प्रकार के सवर में क्षयोपशम भाव से अर्थात् कषाय की कमी से स्वत जितनी दुष्प्रवृत्ति कम हो रही है, जिससे उतना कर्मों का आना रुक रहा है, कर्म बध कम हो रहा है, यह सामान्य सवर है जो न्यूनाधिक रूप से प्राणी मात्र के हर समय हो रहा है। इस सवर की दृष्टि से सभी प्राणी सवर युक्त हैं। परन्तु इस सामान्य सवर को साधना रूप सवर मे ग्रहण नही किया है, प्रत्युत् जो राग-द्वेष आदि विकारो से बचने के लिये सम्यग्दर्शन पूर्वक विशेष सवर किया जाता है, उसे ही सामान्य सवर से पृथक् करने के लिये सवर रूप धर्म कहा है।

इस प्रकार सयम, त्याग, तप आदि सभी साधना दो प्रकार की है - (१) दु ख के भय व सुख के प्रलोभन से की जाने वाली और (२) विषय कषाय जन्य सुख में (भोगों) दु ख का दर्शन कर उस विषय भोग के सुख से मुक्ति पाने के लिये की जाने वाली। इसी को आगम की भाषा में सम्यग्दर्शन युक्त साधना कहा जाता है।

इन दो प्रकार के सयम-त्याग आदि में से प्रथम प्रकार का सयम, त्याग आदि समय-समय पर सभी मानव प्राय करते रहते हैं यथा - मधुमेह के रोगी का शक्कर या मिठाई खाना छोड़ देना, हृदय रोगी का घृत, नमक खाना छोड़ देना, शाम को भोज मे विशेष मिठाई खाने के सुख लेने के प्रलोभन से, प्रात काल का भोजन न करना, वस्तु के न मिलने से या भोगने की शक्ति न होने से भोग न करना या समाज की बुराई के भय से या राज्य के दण्ड के डर से किसी दुष्प्रवृत्ति से बचना आदि रूप मे सयम व त्याग करना। यह प्रथम प्रकार का त्याग व सयम है। इसे साधना रूप सयम या त्याग की कोटि मे नही गिना जा सकता, क्योंकि इसका लक्ष्य विषय सुख त्यागना नही है प्रत्युत् उसे बनाये रखना है, उसका पोषण करना व प्राप्त करना है जो असयम का ही द्योतक है, जबकि दूसरे प्रकार के सयम-त्याग का लक्ष्य विषय विकार

भोग (सुख) से मुक्ति पाना है, यही सच्चा सयम व स‹ ़ा त्याग है। आगम में इस दूसरे प्रकार के सयम व त्याग को ही सयम व त्याग की कोटि में लिया गया है।

इसी प्रकार पुण्य भी दो प्रकार का है। पहला मिथ्यादृष्टि का— सहज-स्वाभाविक क्षायोपशमिक भाव से होने वाला, सामान्य पुण्य । यह दु ख के भय व सुख के प्रलोभन से युक्त होता है। दूसरा सम्यग्दृष्टी का क्षायिक व औपशमिक भाव से, सवर निर्जरा से होने वाला असामान्य पुण्य। यह भावात्मक पुण्य आध्यात्मिक विकास एव मुक्ति का हेतु होता है। अत यह धर्म रूप है।

पहले अहिंसा, पुण्य और धर्म प्रकरण में स्थानाग सूत्र के अनुसार मुक्ति प्राप्ति के चार द्वार बताये गये हैं (१) क्षमा (२) मुक्ति (सतोष), (३) आर्जव ‘सरलता) और (४) मार्दव (विनम्रता) । ये चारों गुण क्रोध, लोभ, माया और मान इन चार कषायो के क्षय, उपशम, क्षयोपशम, (मन्दता) से प्रकट होते हैं। ये चार कषाय चारित्र मोहनीय है। ये चार कषाय ही आत्मा को दूषित करने वाले, चारित्र का पतन करने वाले अर्थात् क्षमा, सरलता आदि आत्मा के दिव्य गुणो का घात करने वाले हैं । इन्ही से समस्त पाप कर्मों का बध होता है। इसके विपरीत इन कषायो मे हानि होने से भावो मे विशुद्धि होती है, जिससे आत्मा मे आशिक निर्दोषता बढ़ती है। आत्म-गुण आशिक रूप में प्रकट होते है। आत्म गुणो का प्रकट होना धर्म है। परन्तु आशिक निर्दोषता से, आत्म गुणो के आशिक रूप मे प्रकट होने से आत्मा को मुक्ति नही मिलती है। मुक्ति की अनुभूति होती है पूर्ण निर्दोषता से । यही कारण है कि आशिक निर्दोषता, आशिक आत्मगुण सभी प्राणियो मे होने पर भी उन्हे मुक्ति नही मिली। मुक्ति-प्राप्ति के लिए पूर्ण निर्दोषता की आवश्यकता होती है। पूर्ण निर्दोषता की अनुभूति क्षयोपशम भाव से नही होकर औपशमिक एव क्षायिक भाव से होती है। अनतानुबधी कषाय के क्षय व उपशम से आत्म स्वरूप की झलक मिलती है, आत्मा का सम्यक् दर्शन होता है। फिर शेष कषायों के पूर्ण उपशम से अथवा पूर्ण क्षय होने से वीतरागता की व मुक्ति की अनुभूति होती है जैसा कि कहा है-

नाण च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा।
एय मग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छति सोग्गइ॥ उत्तरा अ २८ २
नत्थि-चरित्तं सम्मत्तविहूण । उत्तरा. अ. २८.२९
अकसायं खु चरित्त । वृहत्कल्पभाष्य, २७१२

चरणं हवइ स धम्मो – मोक्षपाहुड ५०
जो उवसम्मइ तस्स अत्थि आराहणा।
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा ॥ बृहत्कल्प १।३५

भावार्थ – ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप से मुक्ति की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व के बिना चारित्र नही होता, अकषाय ही चारित्र है और चारित्र ही धर्म है और कषायों के उपशम के बिना आराधना नही होती है।

अभिप्राय यह है कि क्षयोपशम भाव से जो आत्मा के क्षमा आदि गुण प्रकट होते हैं अर्थात् आत्मा मे जो निर्दोषता आती है वह आशिक होती है। और क्षायिक भाव से जो निर्दोषता आती है वह परिपूर्ण होती है।

आशिक निर्दोषता व आशिक गुण प्राणी-मात्र मे है। जो आशिक निर्दोषता मे ही सन्तुष्ट हैं वे मुक्ति के पथ पर आगे नही बढते हैं। मुक्ति के पथ पर वे ही आगे बढ़ते हैं जो आशिक निर्दोषता से सन्तुष्ट न होकर दोषों को सर्वथा निर्मूल कर निर्दोष होना चाहते हैं। पूर्ण निर्दोषता ही वीतरागता है, मुक्ति है।

■

आत्म-विकास, सम्पन्नता और पुण्य-पाप

पूर्व लेखो में यह कह आए हैं कि अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियाँ वीतरागता व साधना मे बाधक नही है। इससे यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि क्या अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ वीतरागता में बाधक है? यदि बाधक हैं तो इन्हें अघाती कैसे कहा गया?

जिससे आत्मा पवित्र हो, शुद्ध हो ऐसा विशुद्ध्यमान चढ़ता परिणाम पुण्य तत्त्व है। आत्मा का पवित्र होना आत्मा का विकास होना है। आत्मा की पूर्ण विकसित अवस्था ही मोक्ष है। पुण्य की यह परिभाषा पुण्य तत्त्व की दृष्टि से है, पुण्य कर्म की दृष्टि से नही है। पुण्य तत्त्व का सबध आत्मा की पवित्रता से, आत्म गुणों के प्रकट होने से है और पुण्य कर्मो का सबध पुण्य तत्त्व के फल के रूप मे मिलने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन, मस्तिष्क आदि सामग्री व सामर्थ्य की उपलब्धि से है। ससारी अवस्था में पुण्यतत्त्व आत्म-विकास का और पुण्य कर्म भौतिक विकास का सूचक है। इन दोनों विकासों में परस्पर घनिष्ठ सबध है। यह नियम है कि प्राणी का जितना आध्यात्मिक विकास होता जाता है उतना ही भौतिक विकास भी स्वत होता जाता है।

पुण्य तत्त्व से विपरीत पाप तत्त्व है। जिससे आत्मा का पतन हो, आत्म गुणो का ह्रास हो, हनन हो, आत्मा की अशुद्धि बढ़े ऐसे सक्लेश्यमान, गिरते परिणामो को पाप तत्त्व कहा गया है। पाप तत्त्व से दो कार्य होते है —(१) आत्मा के ज्ञान, दर्शन, ऋजुता, मृदुता आदि गुणो का घात अर्थात् ह्रास होता है, इन्हे घाती कर्म कहा गया है और (२) भौतिक उपलब्धियो का ह्रास होता है अर्थात् इन्द्रिय, प्राण आदि की उपलब्धि मे, इनके अनुभाग में कमी आती है। इन्हे ही कर्म सिद्धान्त मे अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियाँ कहा गया है।

आध्यात्मिक विकास-ह्रास का सबध घाती कर्मो के क्षय, उपशम व क्षयोपशम से है। समस्त घाती कर्म प्रकृतियो का बध, सत्ता व उदय पाप रूप ही है। इन घाती कर्मों की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप नही है। घाती कर्मों के उदय से आत्म-गुणो का घात-ह्रास होता है। इसके विपरीत कषाय आदि दोषो मे कमी होने से, आत्मा की पवित्रता से, पुण्य से, घाती कर्मो का क्षयोपशम, क्षय व उपशम होता है। जिससे आत्म-गुण प्रकट होते हैं, अर्थात् आत्म-विकास होता है।

भौतिक विकास-ह्रास का सबध अघाती कर्मों से हैं। अघाती कर्म की पुण्य प्रकृतियाँ भौतिक विकास व सामर्थ्य की एव पाप प्रकृतियाँ भौतिक ह्रास की

द्योतक है। अघाती कर्मों की पुण्य व पाप प्रकृतियो में जातीय एकता है। ये सभी शरीर, इन्द्रिय आदि भौतिक उपलब्धियों के रूप मे उदय होती हैं।इनमे भिन्नता तरतमता की ही है। उच्च स्तर की प्राप्त भौतिक उपलब्धियों को पुण्य प्रकृतियाँ और उनसे निम्न स्तर की भौतिक उपलब्धियों को पाप प्रकृतियाँ कहा गया है। जैसे इन्द्रियों की उपलब्धि को ही लें। जो जीव एकेन्द्रिय हैं उन्हें भी एक स्पर्श इन्द्रिय की भौतिक उपलब्धि है। यही जीव एकेन्द्रिय से विकास कर द्वीन्द्रिय हो गया तब इसे शरीर और रसना इन दो इन्द्रियों की उपलब्धि हुई। उसका यह द्वीन्द्रिय होना आत्म-विकास का एव अनत पुण्य वृद्धि का सूचक है। इसी प्रकार उसका त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय होना क्रमश· विशुद्धिभाव की व आत्म-विकास की वृद्धि का एव उत्तरोत्तर अनत-अनत गुणे पुण्य की वृद्धि का सूचक है। कारण कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र - इन पॉचों इन्द्रियो की उपलब्धि स्पर्शनेन्द्रिय मतिज्ञानावरण आदि पॉचों मतिज्ञानावरण कर्मों के भेदो के क्षयोपशम से होती है। अत· इनमें से किसी भी इन्द्रिय का मिलना पुण्य का फल है।परन्तु पचेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय होना क्रमश सक्लेशभाव का , आत्म ह्रास का एव उत्तरोत्तर अनत-अनत गुणे पाप की वृद्धि का सूचक है। इस प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय की उपलब्धि होने मे विशुद्धिभाव और इससे विपरीत क्रम मे सक्लेशभाव हेतु हैं। इसी प्रकार यही तथ्य सहनन, सस्थान आदि अन्य पुण्य-पाप की प्रकृतियो पर भी चरितार्थ होता है। अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियॉ भौतिक उपलब्धियो में सामर्थ्य की कमी एव आध्यात्मिक विकास में कमी की सूचक हैं।

तात्पर्य यह है कि अघाती कर्मो की प्रकृतियो का उदय भौतिक सामग्री की उपलब्धियो का हेतु है। इन प्रकृतियों की सत्ता व उदय जीव के लिए किंचित् भी अहितकर व घातक नही है। अघाती कर्मों की १०१ प्रकृतियो मे से ८५ प्रकृतियों की सत्ता चौदहवे अयोगीकेवली गुणस्थान में द्विचरम समय तक रहती हैं जिनमें असातावेदनीय, नीच गोत्र, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियो की सत्ता भी है। फिर भी ये केवल ज्ञान, केवल दर्शन मे बाधक नही हैं। इसी प्रकार अघाती कर्मों के उदय से प्राप्त शरीर-इन्द्रिय आदि भौतिक सामग्री व सामर्थ्य भी स्वय किसी जीव के लिए हितकर-अहितकर नही है। हितकर-अहितकर है इनका सदुपयोग-दुरुपयोग। अघाती कर्मों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग विषय-कषाय में, भोग-वासना की पूर्ति में करना इनका

दुरुपयोग है जो अहितकर है तथा इनका उपयोग दोषों के त्याग एव सद्प्रवृत्तियों में करना सदुपयोग है जो हितकर व कल्याणकारी है।

अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय से प्रतिकूल एव दु खद परिस्थिति का निर्माण होता है जो आध्यात्मिक विकास की कमी का अर्थात् विषय कषाय के विकारों के उदय का सूचक है। अत दु खद परिस्थिति से छुटकारा तभी सभव है जब इन दोषों का त्याग किया जाय यथा- प्रतिकूल परिस्थिति में अशाति व तनाव का दु ख कामना से, हीनभाव व दीनभाव का दु ख मद - मान से, वैरभाव का दु ख माया व द्वेष से, दरिद्रता का दु.ख लोभ से, पराधीनता का दु.ख ममता से, अस्वस्थता का दु ख असयम से, भय, चिन्ता, शोक आदि का दु ख भोगों के सुखों के प्रलोभन से उत्पन्न होता है। अत. कामना, मान, माया, लोभ, ममता, असयम, स्वार्थपरता एव विषय सुखों के प्रलोभन के त्याग से इन दु खों से मुक्ति मिल जाती है और शाति , ऐश्वर्य, मृदुता माधुर्य, प्रीति, स्वाधीनता, स्वस्थता, उदारता, निश्चितता, प्रसन्नता आदि आध्यात्मिक सुखों का अनुभव होता है तथा प्राण, बल, बुद्धि मन, मस्तिष्क आदि की शक्ति में वृद्धि होती है। अत प्रतिकूल परिस्थिति व दु खों से मुक्ति पाने का उपाय दोषो का त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति से दु खी होकर आर्तध्यान करना, इन दु खों से मुक्ति पाने के लिए इन दु खो के कारण भूत कामना, ममता अहता आदि और दोषो को न मिटाकर, बाह्य सामग्री से मिटाने का प्रयास करना परिस्थिति का दुरुपयोग है जो दु ख की परपरा को बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार अघाती कर्मों की पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त अनुकूल परिस्थिति का अर्थात् शरीर, इन्द्रिय आदि सामग्री व सामर्थ्य का उपयोग दया, दान, सेवा आदि सर्वहितकारी सद्प्रवृत्तियो मे करना इनका सदुपयोग है। इससे उदयमान राग व कषाय गलता है, विषय सुखों की दासता से छुटकारा मिलता है और उत्कृष्ट भोगो की उपलब्धि होती है अर्थात् उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता व अभाव का अनुभव नही होता है, वह सदैव प्रसन्न एव ऐश्वर्य सम्पन्न रहता है। वह ससार के पीछे नही दौड़ता है, ससार उसके पीछे दौड़ता है। आशय यह है कि अघाती कर्मों की पाप प्रकृतियों के उदय का सदुपयोग दोषों के त्याग मे है और पुण्य प्रकृतियों से प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य का सदुपयोग सर्वहितकारी प्रवृत्ति करने में है। इनके सदुपयोग से निर्दोषता व वीतरागता की उपलब्धि होती है ।इनका उपयोग विषय-कषाय के सेवन में करना इनका दुरुपयोग है जो समस्त दु:खों व ससार परिभ्रमण का कारण है। अत अघाती

कर्मों का सदुपयोग-दुरुपयोग उपयोग-कर्ता के भावों पर निर्भर है, इन कर्मों के उदय पर नही।

आशय यह है कि अघाती कर्मों की पुण्य-पाप प्रकृतियाँ क्रमश आत्म - विकास व ह्रास की द्योतक हैं। ये स्वय आत्म-विकास व ह्रास नही करती हैं अपितु कार्य-सिद्धि मे क्रिया व करण का काम करती हैं। क्रिया व करण गुण-दोष रहित होते हैं। इनमें जो गुण-दोष प्रतीत होते हैं, वे कर्ता के शुभाशुभ भावो व भावो के द्वारा की गयी शुभाशुभ क्रियाओं के सूचक होते हैं। कार्य-सिद्धि में कर्त्ता के भावों को क्रियात्मक रूप देने के लिये क्रिया आवश्यक है व क्रिया के लिये साधन-सामग्री का सहयोग भी अपेक्षित होता है। अत मुक्ति-प्राप्ति में औदारिक शरीर, पचेन्द्रिय जाति, मनुष्य गति, उच्च गोत्र, सुभग, आदेय, आदि पुण्य प्रकृतियो का उदय आवश्यक है। पुण्य प्रकृतियों के उदय का अभाव आत्म-विकास मे कमी का सूचक है। यह नियम है कि जितना-जितना आत्म-विकास होता जाता है, उतना- उतना पुण्य प्रकृतियों के अनुभाग का उदय बढ़ता जाता है। दोषो का, पापों का आशिक त्यागकर देशव्रती श्रावक होने पर स्वत दुर्भग, अनादेय, अयशकीर्ति आदि पाप प्रकृतियो का उदय रुककर सुभग, आदेय, यश कीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियो का उदय होने लगता है। जब आत्मा क्षपक श्रेणी की साधना से अपना पूर्ण आत्म-विकास कर वीतराग हो जाती है, तब समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग स्वत उत्कृष्ट हो जाता है। सातावेदनीय, उच्च गोत्र, आदेय आदि पुण्य प्रकृतियो का अनुत्कृष्ट अनुभाग आत्म-विकास की अपूर्णता का, पाप प्रवृत्तियो की विद्यमानता का सूचक है। आत्मा का उत्कृष्ट पूर्ण विकास शरीर, इन्द्रिय, मन-बुद्धि आदि प्राप्त सामग्री व सामर्थ्य के सदुपयोग से ही सभव है।

कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं है जिसका सदुपयोग करने पर वह साधना मे सहायक न हो। परिस्थिति का सदुपयोग स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत् चिंतन, सेवा आदि सद् प्रवृत्तियो मे करना गुण है। परन्तु किसी भी गुण के बदले मे कुछ चाहना भोग है। उस गुण का गर्व करना, उसमे अपनी गरिमा मानना व सम्मान चाहना अभिमान है। गुण का अभिमान और भोग दोष है। दोष कोई भी हो वह गुण का नाशक, आत्म - विकास में बाधक एव पुण्य के अनुभाग का घातक होता है। अत वीतराग व मुक्ति पथ के साधक के लिये अभिमान आदि दोषो से रहित गुण ही उपादेय है। वीतराग के अतिरिक्त सभी जीवों मे आशिक गुण-दोष विद्यमान हैं। अर्थात् राग-द्वेष, विषय - कषाय आदि दोष

युक्त गुण सभी प्राणियो मे है। दोष गुण का घातक है अत जितने अशो में दोष है उतने अशों मे ही गुणों मे कमी है। दोषो के त्याग में गुण की उपलब्धि है। राग - द्वेष युक्त सद्प्रवृत्ति तथा सयम में राग - द्वेष आदि दोष या पाप ही त्याज्य है, सयम, सद्प्रवृत्ति, शुभ योग त्याज्य नही है। शुभ योग के अभाव में अशुभ योग नियम से होता है। अत शुभ योग या पुण्य त्याज्य नही है।

सक्षेप में कहे तो अघाती कर्मों से निर्मित सुखद परिस्थिति का सदुपयोग सेवा मे है और दु खद परिस्थिति का सदुपयोग त्याग में है। दुःखियो को देखकर करुणित होना और सज्जनों- गुणियों को देखकर प्रमुदित होना श्रेष्ठ सेवा है। शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता, अप्राप्त वस्तुओ की कामना एव अभिमान रहित होना ही वास्तविक त्याग है। सद् प्रवृत्ति रूप सेवा करना और दुष्प्रवृत्ति का त्याग करने में ही प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग है। परिस्थितियों के सदुपयोग से पाप का निरोध (सवर) और निर्जरा एव पुण्य का आश्रव व अनुबध होता है। पाप के निरोध व निर्जरा से आत्मा शुद्ध होती है जिससे सभी परिस्थितियो से अतीत निज स्वरूप का अनुभव होता है। परन्तु किसी भी परिस्थिति से सुख का भोग करना परिस्थितियो की पराधीनता, दासता में आबद्ध होना है, जो समस्त दु खो का हेतु है। दु ख स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नही है। अत प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग आत्म- विकास की साधना मे करना है। इसका उपयोग सुखभोग में करना घोर असाधन व दु ख का हेतु है, जो सभी के लिये त्याज्य है

वर्तमान युग मे भौतिक विकास विषय-भोगों का वर्धन करने वाली वस्तुओ की उपलब्धि व सग्रह को माना जाता है। जिस व्यक्ति-समाज-देश के पास भोग्य वस्तुओ की जितनी प्रचुरता है वह उतना ही अधिक भौतिक दृष्टि से सपन्न माना जाता है, परन्तु यह धारणा सही नही है, कारण कि विकास उसे कहा जाता है जिससे प्राणी का हित हो। प्राणी का हित प्राप्त परिस्थितियों के सदुपयोग में है अथवा जीवन की नैसर्गिक आवश्यकताओ यथा भोजन, वस्त्र, पात्र, मकान, शिक्षा व चिकित्सा की पूर्ति करने मे है, भोग भोगने में नहीं है। कारण कि भोग का सुख शक्तिहीनता, पराधीनता, जडता व अभाव मे आबद्ध करने वाला है तथा स्वार्थपरता, हृदय हीनता, निर्दयता, अभाव, चिन्ता, द्वन्द्व, सघर्ष आदि समस्त दुखो व दोषों को पैदा करने वाला है। विश्व में कोई दु:ख व बुराई ऐसी नही है जिसका कारण विषय वासना जन्य सुख न हो। भोग की सुख लोलुपता में आबद्ध होने से भौतिक अवनति ही होती है। यह नियम है

कि जो मानव अपने व्यक्तिगत सुख को महत्त्व देता है वह परिवार के लिये अनुपयोगी होता है, जो अपने परिवार के सुख में सतुष्ट होता है वह समाज के लिये अनुपयोगी होता है। इसी प्रकार जो अपने वर्ग देश, समाज, सप्रदाय जाति की उन्नति को ही उन्नति मानता है वह दूसरे वर्ग प्रदेश, समाज आदि के लिये अहितकर होता है, यह भौतिक अवनति है। यह नियम है कि जो दूसरो के लिये अहितकर होता है उससे उसका भी अहित ही होता है। इसी प्रकार जो सभी के हित मे रत रहता है उसका हित अवश्य होता है। यह भौतिक उन्नति है। सर्व हितकारी दृष्टि से नैसर्गिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना भौतिक उन्नति है और अपने व्यक्तिगत, सुख के लिये वस्तुओ का सग्रह करना भौतिक अवनति है। तात्पर्य यह है कि भौतिक विकास भोग - सामग्री के उपार्जन व वृद्धि में नही है अपितु सर्व हितकारी प्रवृत्ति मे है। कर्तव्यपरायणता में है। निर्दोषता आध्यात्मिक विकास है और कर्त्तव्य परायणता व सद्प्रवृत्ति भौतिक विकास है।

किसी नगर मे अधिक चिकित्सालय, न्यायालय, पागलखाने, अनाथालय होना भौतिक विकास नही है अपितु जिस नगर मे चिकित्सालय, न्यायालय पागलखाने, अनाथालय आदि तो हों, परन्तु वहा नागरिको को उनकी आवश्यकता ही नही हो, अथवा कम से कम हो, यह भौतिक विकास है। यह तभी सभव है जब उस नगर के नागरिक रुग्ण न हो, अपराधी न हो, विक्षिप्त मस्तिष्क न हो, भिखारी न हो। ऐसा तभी हो सकता है जब वहाँ के नागरिक सयमी हों, नैतिक हो, विज्ञ हो, सपन्न हो। सपन्न वही है जो अभाव ग्रस्त नही है। अभाव ग्रस्त होना दरिद्रता का सूचक है। अभावग्रस्त वही है जिसकी इच्छाओ की पूर्त्ति न हो। विज्ञान प्रदत्त भोग्य वस्तुएँ एव इनके विज्ञापन इच्छाओ के उत्प्रेरक होते हैं। जिससे अनेक इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और उन सब की पूर्ति न होने से व्यक्ति अभाव की अग्नि मे जलता रहता है। आज सामान्य व्यक्ति के पास भी खाने, पीने, देखने सुनने के साधन प्राचीन काल के सम्राटों एव चक्रवर्तियों से भी सैंकडो गुना अधिक है जैसे टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन फ्रीज, बल्ब, पखे, वाशिंग मशीन आदि तथा सैंकड़ो प्रकार की मिठाई, खटाई, नमकीन आदि। फिर भी आज का मानव अपने आपको भयकर अभाव में ग्रस्त पाता है। अभाव स्वभाव से ही किसी को भी इष्ट नही है। वास्तविक भौतिक विकास वह है जिसमें अभाव का अभाव हो जाय। अभाव का अभाव होना सच्ची समृद्धि है। अभाव का अभाव उसी को होता है, जिसे

अपने लिये कुछ भी नही चाहिये और जो कुछ भी अपने पास है उसे सर्व हितकारी प्रवृत्ति में लगाने में प्रसन्नता हो। भौतिक उन्नति उसी की होती है जो सर्व हितकारी दृष्टि से प्रवृत्ति करता है और अपने विषय-भोगो का त्याग करता है। श्रेष्ठ-सेठ वही है जो किसी से कुछ मागता नही है, अपेक्षा नही रखता है प्रत्युत् अपने पास जो है उसे सहर्ष ससार के भेंट करता है। सक्षेप में कहें तो उदारता एव मानवता से ही मानव का आत्मिक एव भौतिक विकास होता है। भोग भोगना पशु का लक्षण है। कारण कि भोग मे आसक्त प्राणी पराधीनता में आबद्ध होता है, वह स्वाधीनता के सच्चे सुख का आस्वादन नही कर सकता। सरलता, विनम्रता, दयालुता, वत्सलता, सज्जनता, आत्मीयता, सहृदयता, उदारता आदि सर्व दिव्य गुण मानवता के ही रूप हैं। इन गुणों का होना ही सच्ची समृद्धि है, ऐसी समृद्धि के स्वामी में आनद का सागर हिलोरें लेने लगता है। इसके विपरीत जो इन्द्रियों के क्षणिक सुखों का दास है वह सदैव अभाव, चिन्ता, पराधीनता, खिन्नता, हीनता आदि अगणित दु:खो से, विषादों से घिरा रहता है। उसके पास मे, बाहर मे कितनी ही भोग वस्तुएँ हो, धन सपत्ति हो, पूजा प्रतिष्ठा हो, अतर में वह रिक्त होता है, उसे आतरिक नीरसता सदैव घेरे रहती है, वह उसे भुलाने के लिये अपने को नशे मे, एक के बाद दूसरे भोग के रस मे लगाता रहता है। वह आतरिक दृष्टि से घोर दरिद्र होता है।

सद्गुणो का क्रियात्मक रूप सद्प्रवृत्ति ही सच्ची समृद्धि है, भौतिक विकास है और दुर्गुण - दुष्प्रवृत्ति समस्त दुखो व दरिद्रता की जड़ है, भौतिक अवनति है। जिसके पास सद्गुणो की पूजी है वही समृद्ध है, पुण्यवान है। जो वासनाओ का दास है वही दरिद्र है, पुण्यहीन है। सद् प्रवृत्तियो का बाह्य फल भौतिक विकास है और आन्तरिक फल आध्यात्मिक विकास है।

■

पुण्य के विषय में भ्रान्ति

भगवान महावीर ने जैनागम मे विषय-सुख के भोगी को पापी, विषय भोग को, भोग की सामग्री के सग्रह रूप परिग्रह को, भोग की इच्छा को एव भोग को भी पाप व त्याज्य कहा है तथा भोग के फल से पाप कर्म का बध तथा दु ख होना बताया है। यही तथ्य चारो कषाय क्रोध, मान, माया व लोभ पर भी लागू होता है। अर्थात् मान का प्रिय लगना पाप है, मान के निमित्त कारणों एव मान के फल से नीच गोत्र के बध को पाप बताया है। इसी प्रकार लोभ - सग्रहवृत्ति को पाप, लोभी को पापी, लोभ की पूर्ति को पाप और लोभ के फल से पाप कर्म का बध अर्थात् दु खी होना कहा है। आशय यह है कि विषय-कषाय का सेवन तथा इसमे सहायक सामग्री व निमित्त इन सबको पाप कहा गया है। कही भी इन्हें पुण्य व धर्म नही कहा है और इनका फल दु ख बताया गया है।

सच तो यह है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, रागद्वेष आदि विकार या दुर्गुण पाप है। पाप का सबध दुर्गुणो से है। इसके विपरीत पुण्य का सबध सद्गुणो से हैं। जहाँ दुर्गुणो का त्याग एव दया, दान, करुणा, सेवा, परोपकार, सरलता, मृदुता, उदारता, सद्भाव आदि सद्गुण है वहाँ पुण्य व धर्म है। सद्गुण ही सच्ची सम्पत्ति है तथा दुष्प्रवृत्ति, दुर्व्यसन, विषय-विकार, कषायभाव आदि दुर्गुण ही पाप है, अधर्म हैं, विपत्ति के हेतु है।

वर्तमान मे खेत, वस्तु, धन, धान्य, स्वर्ण व रजत का मिलना, भूपति होना, अधिक पत्नियो का होना, युद्ध में करोड़ो व्यक्तियो का सहार कर विजय पाना, बडे उद्योगो, महारभ परिग्रह रूप मिलो का स्वामी होना आदि उपलब्धियो को पुण्य व इनके स्वामी को पुण्यवान समझा जाता है, जबकि भगवान महावीर ने खेत, वस्तु, धन-धान्य, स्वर्ण, चादी आदि के सग्रह को परिग्रह के रूप मे पाप कहा है और इनके स्वामी-परिग्रही को पापी कहा है। स्वय भगवान् ने परिग्रह व भोग - सामग्री का त्याग कर, अपरिग्रह व्रत एव दीक्षा ग्रहण की और अपने गृहस्थ अनुयायियो को भी परिग्रह व भोगो को घटाने, उन पर नियत्रण रखने एव परिमाण करने का उपदेश दिया है। कारण कि परिग्रह मात्र ममत्व एव मूर्च्छा का ही द्योतक है। बिना आसक्ति, ममत्व, मूर्च्छा व स्वामित्व के कोई भी वस्तुओ का सग्रह रख नही सकता। यदि उन वस्तुओ के प्रति उसकी मूर्च्छा न हो तो उसके चारो ओर लाखों करोड़ो लोग ऐसे है जिन्हे इन वस्तुओं की उससे भी कई गुनी अधिक आवश्यकता है, उन लोगो को वह ले जाने दे, रोके नही। ऐसा करे तो यह कहा जा सकता है कि उन्हे इन वस्तुओ पर, धन सम्पत्ति

पर मूर्च्छा नहीं है। परन्तु उन आवश्यकताग्रस्त लोगों को वस्तुओं के ले जाने से न रोकने पर उसके पास एक भी वस्तु नहीं बच सकती। अत जहाँ धन-धान्य, सपत्ति, भूमि, भवन आदि का सग्रह है वहाँ निश्चित रूप से मूर्च्छा व परिग्रह है। जहाँ परिग्रह है वहाँ पाप है और उस परिग्रह का स्वामी पापी है। पाप को पुण्य मानना व पुण्य का फल मानना तथा पापी को पुण्यात्मा मानना तात्त्विक भूल है। पुण्यात्मा वही है जिसके हृदय में उदारता है, करुणा है, अनुकपा है, अनुग्रह है, कृपा है, दया है और वही श्रेष्ठ है।

सम्पन्नता पुण्य का और विपन्नता पाप का फल

जैनागम और कर्म सिद्धान्तानुसार सम्पन्नता पुण्य का, सद्प्रवृत्ति का और विपन्नता (दरिद्रता) पाप का, दुष्प्रवृत्ति का फल है। सम्पन्न व्यक्ति वह है जो औदार्य, ऐश्वर्य, सौंदर्य, माधुर्य, प्रीति के सुख से सपन्न हो और विपन्न (दरिद्र) वह है जो अभावग्रस्त, दीन, दास व दुखी हो। अत सपन्नता और दरिद्रता का अथवा सुख एव दुख का कारण वस्तुओं की न्यूनता-अधिकता, बाह्य-सामग्री व घटनाएँ नही हैं अपितु जीव के सद्गुण व दुर्गुण हैं, जैसा कि कहा है—

विवत्ती अविणीअस्स, संपत्ती विणीअस्स य।
जस्सेअं दुहओ णाय, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥२२॥
जे अ चडे मिए थद्धे, दुव्वाई निअडी सढे।
वुज्झई से अविणीअप्पा, कट्ठ सोअगय जहा ॥३॥
तहेव अविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसति दुहमेहता, छाया ते विगलिंदिया ॥७॥
तहेव सुविणीअप्पा, लोगंसि नर-नारिओ।
दीसति सुहमेहता, इड्ढिं पत्ता महाजसा ॥९॥
एव धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मुक्खो।
जेण कित्ति सुअ सिग्घं, णिस्सेस चाभिगच्छइ ॥२॥

—दशवैकालिक अध्य ९ उद्देशक २

अर्थः- अविनीत के विपत्ति और विनीत के सपत्ति होती है अर्थात् अविनय से विपन्नता (दीनता-दुख) की और विनय से सपन्नता की प्राप्ति होती है। जिसे ये बाते ज्ञात हैं, वही शिक्षा को प्राप्त होता है ॥22॥

जो क्रोधी, पशुवत् भोगी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी, असयमी धूर्त है वह अविनीत आत्मा ससार मे वैसे ही प्रवाहित होता है जैसे काष्ठ सरिता में प्रवाहित होता है ॥3॥ यहाँ यह कहा गया है कि अविनीत वह है जो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय का और असयम आदि विषयो का भोगी है, दुर्गुणी है। अत जो कषाय और विषय से रहित है, क्षमा, विनम्रता, मृदुता, सरलता, त्याग, सयम आदि गुणो का धारक है वह विनीत है।

ससार मे अविनीत स्वभाव वाले नर-नारी है, वे निर्बल इन्द्रियो से विकल, व्याकुल हो दुख भोगते देखे जाते है तथा सुविनीत स्वभाव वाले नर-नारी ऋद्धिवन्त, ऐश्वर्य सम्पन्न, महायश-धारी व सुखी देखे जाते हैं ॥7, 9॥

विनय धर्म-वृक्ष का मूल है, इसका फल मोक्ष (बधन और दु खों से मुक्ति) है। ऐसे विनय से व्यक्ति को यश-कीर्ति, श्रुत आदि समस्त सपदाओं की प्राप्ति होती है तथा वह निःशेष को प्राप्त होता है, उसे कुछ भी पाना, करना, जानना शेष नही रहता है ॥2 ॥

आशय यह है कि सद्‌गुण पुण्य ही सपदा है, इनसे ही समस्त सुखो की प्राप्ति होती है और दुर्गुण पाप ही विपदा है, इनसे ही समस्त दु खो की उत्पत्ति होती है। जैसा कि कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च, दुपट्ठिय-सुप्पट्ठिओ ॥३७॥
अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू , अप्पा मे नंदण वण ॥३६॥
न तं अरी कठछेत्ता करेई, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा।
से नाहिई मच्चुमुहतु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥४८॥

—उत्तराध्यन, अध्य-२०

आत्मा स्वय अपने दु खो व सुखो का कर्त्ता तथा अकर्त्ता है। सद्प्रवृत्ति मे रत आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति मे रत आत्मा ही अपना शत्रु है। इस प्रकार दुष्प्रवृत्ति मे रत आत्मा वैतरणी नदी और कूटशाल्मलि वृक्ष के समान दुःखदायी है तथा सद्प्रवृत्ति मे रत आत्मा कामधेनु और नदनवन के समान सुखदायी है। दुराचार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अनर्थ करता है उतना अनर्थ कठ को छेदन करने वाला शत्रु भी नही करता है। दया, अनुकपा, करुणा आदि सद्प्रवृत्तियो से रहित यह आत्मा मृत्यु के मुख मे पहुचने पर पश्चात्ताप करता हुआ इस तथ्य को जानेगा।

इन गाथाओं मे सुख-दु ख का, सपन्नता-विपन्नता का कारण बाह्य-वस्तुओ की प्राप्ति-अप्राप्ति, परिस्थितियो की अनुकूलता-प्रतिकूलता एव घटनाओ को नही बताया है अपितु आत्मा की सद्प्रवृत्तियों एव सद्गुणो, विशुद्ध भावों को सुख-सपन्नता का कारण बताया है और दुष्प्रवृत्तियो, दुर्गुणो, सक्लेश भावो को अर्थात् पापाचरण को दु ख, दीनता, दरिद्रता का कारण बताया है। प्राणातिपात, मृषावाद, मिथ्यादर्शन शल्य आदि अठारह पाप है। इनका आचरण पापाचरण है। इन पापो मे मुख्य पाप क्रोध-मान-माया और लोभ कषाय है। पापाचरण से घाती कर्मो, पाप-प्रकृतियो का सर्जन व बध होता है। जिससे क्षमा, अनुकम्पा,

सरलता, मृदुता, अकिंचनता, दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि गुणों का घात व तिरोभाव होता है और घाती कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा के क्षमा, दया, करुणा, अनुकपा, सरलता, मृदुता, अकिंचन्य आदि सद्गुण प्रकट होते हैं। इनसे अतराय का क्षयोपशम होता है जिससे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य गुणो का प्रादुर्भाव होता है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन आत्मिक गुणो का घात, अपहरण, तिरोहित होना दरिद्रता है और इन गुणो का आविर्भाव होना ही सम्पन्नता है। अत अतराय कर्म का उदय दरिद्रता का और क्षयोपशम व क्षय सपन्नता का हेतु है। यहाँ पर इसी विषय पर विचार किया जा रहा है। अतराय कर्म के पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

अंतराय कर्म और दरिद्रता-संपन्नता

अतराय कर्म

तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय 6 सूत्र 27 के अनुसार-"**विघ्नकरणमन्तरायस्य**"- विघ्न करना अतराय कर्म है।

धवल पुस्तक 13 पृ-389- "**अतरमेति गच्छतीत्यन्तराय**"- जो अतर आता है वह अतराय है अर्थात् अतराल ही अतराय है।

"यदुदयाद्दातुकामोऽपि न प्रयच्छति,
लब्धुकामोऽपि न लभते, भोक्तुमिच्छन्नपि न भुड्क्ते,
उपभोक्तुमभिवाछन्नपि नोपभुड्क्ते, उत्सहितुकामोऽपि नोत्सहते।"

—तत्त्वार्थ सूत्र अ ८ सूत्र ४ सर्वार्थसिद्ध टीका

-जिसके उदय से देने की इच्छा करता हुआ भी नही देता है, प्राप्त करने की कामना करते हुए भी प्राप्त नही करता है, भोग-उपभोग की वाछा करता हुआ भी भोग-उपभोग कर नही पाता है और उत्साहित होने की कामना रखता हुआ भी उत्साहित नही होता है वह अतराय है। अर्थात् मोहनीय कर्म के उदय से किसी कामना का उत्पन्न होना और उस कामना की पूर्ति न होना ही अतराय है।

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशक ८ में कहा है -

"अंतराइएण भते ! कम्मे कइ परीसहा समोयरति ?
गोयमा ! एगे अलाभपरीसहे समोयरति।"

प्रश्न - हे भगवन् ! अन्तराय कर्म से कितने परीषहो का समवतार होता

है ?

उत्तर - हे गौतम ! एक अलाभ परीषह होता है। अन्तराय कर्म के दानान्तराय, भोगान्तराय आदि पॉच भेद हैं। इन पाँचों का उदय बारहवें गुणस्थान तक रहता है। अत अन्तराय कर्म के पाच परीषह होने चाहिए। परन्तु एक ही परीषह कहा है, जो उपयुक्त ही है। कारण कि दान, भोग, उपभोग आदि की इच्छा का होना, परन्तु उनकी पूर्ति - उपलब्धि न होना अलाभ है। यहा अलाभ शब्द अन्तर्दीपक है जो पॉचो अतरायो के लिए लागू होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अलाभ या अभाव ही अन्तराय कर्म के उदय का सूचक है।

अतराय कर्म के पॉच भेद है— दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय व वीर्यान्तराय।

(1) **दानान्तराय-** वात्सल्य, करुणा, दया, सेवा, अनुकपा से प्रेरित होकर विश्व-हित मे रत होना दान है। दान देने की भावना न जगना अपितु विषय सुखो के लिए दूसरों से दान पाने की कामना उत्पन्न होना दानान्तराय है (सयम पालनार्थ दाता की प्रसन्नता हेतु भिक्षा लेना दानान्तराय नही है) अर्थात् उदारता का अभाव व स्वार्थपरता का होना दानान्तराय है। उदारता की उदात्त भावना दानान्तराय का क्षयोपशम है। उदारता का परिपूर्ण हो जाना अर्थात् शरीर, बुद्धि, ज्ञान, बल, योग्यता आदि अपनी सब शक्तियो को जगत-हितार्थ समर्पित कर देना, अपने सुख भोग के लिए कुछ भी बचाकर न रखना अनत दान है, दानान्तराय कर्म का क्षय है।

(2) **लाभान्तराय-** भोग्य-वस्तुओ की कामना उत्पन्न होना लाभान्तराय है। वस्तुओ की कामनाएँ, अर्थात् तृष्णा प्राणी को पराधीनता मे आबद्ध करती है, अपनी स्वाभाविक स्वाधीनता का अपहरण करती है, शाति को भग करती है, प्राणी को चैन से नही रहने देती है, अभाव का अनुभव कराती है। अभाव का अनुभव होना ही दरिद्रता है, लाभान्तराय है। तृष्णा के त्याग मे ही लाभान्तराय का क्षय है, अनन्त लाभ हैं।

(3) **भोगान्तराय व उपभोगान्तराय-** इद्रियो के विषय मे सुख का आस्वादन करना भोग है। एक ही प्रकार के भोग को व उसकी जाति के भोगों को बार-बार भोगना उपभोग है। भोग की कामना की पूर्ति न होना भोगान्तराय है और उपभोग की कामना की पूर्ति न होना उपभोगान्तराय है। भोग व उपभोग की कामनाओ की उत्पत्ति का कारण भोग्य पदार्थो का सुन्दर, स्थायी व सुखद

व राग उत्पन्न होता है। राग व कामना का उत्पन्न होना, बहिर्मुखी होना है, आत्मा के स्वभाव से च्युत होना है, अपने स्वाभाविक सुख से वचित होना है। यही भोगान्तराय-उपभोगान्तराय है। भोग-उपभोग की कामना के त्याग से स्वानुभूति होती है जिससे परमानद होता है। यही भोगान्तराय-उपभोगान्तराय का क्षय है, अनत भोग-उपभोग है।

(5) **वीर्यान्तराय-** यह सर्वमान्य तथ्य है कि विषय-भोगों की कामना का उत्पन्न होना और उसकी पूर्ति करना अर्थात् विषय-भोग भोगना विकार है, पाप है, आत्म-पतन का एव कर्म-बध का हेतु है, आत्मा के लिए अहितकर तथा दु खदायी है। विषय-भोगो की अपूर्त्ति भी दु खदायी है। इस प्रकार विषय भोगों की पूर्त्ति और अपूर्त्ति दोनो ही अहितकारी तथा दु खदायी हैं। आत्म-स्वरूप के सच्चे सुख के भोग-उपभोग से विमुख एव दूर करने वाली है, बाधक है, विघ्नकारी है, घातक है, अर्थात् अतराय उत्पन्न करने वाली है।अत विषय-भोगों के त्याग मे ही प्राणी का हित है एव आत्म-स्वरूप (स्वभाव) के अक्षय, अव्याबाध (अखड), अनत सच्चे सुख रूप भोग-उपभोग की उपलब्धि सभव है। इन्द्रिय व मन से विषय-भोग के लिए किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति व प्रयत्न करना पाप है, प्रमाद है। अपने कल्याण के लिए राग-द्वेष आदि दोषो को दूर करने के लिए पुरुषार्थ न करना प्रमाद है, वीर्यान्तराय है। विषय भोगो व कषाय का त्याग ही सच्चा पुरुषार्थ है, सामर्थ्य है, वीर्य है। प्रमादग्रस्त अर्थात् विषय-कषाय के सुख की दासता व प्रलोभन में आबद्ध प्राणी भोगों के त्याग का पुरुषार्थ नही करता है, उसकी यह पुरुषार्थहीनता, दोषों के त्याग करने की असमर्थता वीर्यान्तराय है। विषय-कषाय आदि दोषो-पापों के त्याग के लिए पुरुषार्थ व पराक्रम करना वीर्यान्तराय का क्षयोपशम है और विषय-कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियो का सर्वथा एव पूर्ण त्यागकर निर्दोष हो जाना वीर्यान्तराय का क्षय है, अनन्तवीर्य की उपलब्धि करना है।

अभिप्राय यह है कि जहाँ कामना है, वहाँ अतराय कर्म का उदय है और जहाँ कामना नही है, कामना का अभाव है, वहाँ तत्सबधी अतराय कर्म का उदय नही है। अत जिसकी जितनी अधिक कामनाएँ हैं, उसके उतना ही अधिक अतराय कर्म का उदय है और जितनी कामनाएँ कम होती हैं अतराय कर्म का उदय भी उतना ही कम हो जाता है। कामना का अभाव होना तत्सबधी अतराय कर्म के उदय का अभाव होना है।अतराय कर्म का उदय न रहने से तत्सबधी कामना-अपूर्ति का दु ख मिट जाता है, जिससे शान्ति व सुख का अनुभव होता

है। यह सुखानुभूति कामना का अभाव होने से होती है। परन्तु प्राणी इसे कामना पूर्ति के होने से मानता है। यही मूल भूल है। आशय यह है कि सुख कामना पूर्ति में नही है, कामना के अभाव में है। क्योंकि कामनापूर्त्ति के समय पुन· वही स्थिति हो जाती है जो कामना उत्पत्ति से पूर्व थी अर्थात् कामना का अभाव था। अत सुख कामना के अभाव में है। जो इस तथ्य को स्वीकार कर लेता है उसके नवीन कामनाओं की उत्पत्ति नही होती है। परन्तु जो यह मानता है कि सुख कामना पूर्ति से मिलता है, उसके मन में उस कामना पूर्ति के सुख की जाति के अगणित सुखों को पाने के लिए उसी समय अनेक कामनाओ का जन्म होता है। जैसे जो बीज भूमि मे गिरता है वह उगकर अपनी जाति के अगणित फल देता है,नये बीजों को पैदा करता है तथा जैसे किसी बीज के गल व जल जाने से वह निर्जीव हो जाता है फिर वह उगता नही है, इसी प्रकार जो अपने सुख का कारण कामना पूर्ति को न मानकर, कामना के अभाव को ही सुख मानता है, उसकी कामना निर्जीव, निर्मूल हो जाती है, वह नवीन कामनाओं को जन्म नही देती है। परन्तु जो कामना पूर्ति मे सुख मानता है उसकी कामना पूर्ति अनेक नवीन कामनाओ की उत्पत्ति के लिए बीज-वपन का कार्य करती है। अत कामना पूर्ति हो जाने से उसके अतराय कर्म का क्षय नही होता है, अपितु उस जाति की नवीन कामनाओं की उत्पत्ति का कारण बनता है, अर्थात् नवीन अतराय कर्म के बध व उदय का कारण बनता है। जो दु·ख एव दरिद्रता का हेतु ही होता है।

कामना उत्पत्ति का कारण विषय-भोगो के सुखों का चिंतन करना है, जैसा कि गीता मे कहा है-

ध्यायतो विषयान्पुंस· सगस्तेषूपजायते।

सगात्संजायते काम· कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥गीता,२ ६२

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का उन विषयो से सग (सबध) हो जाता है। सग (सबध-राग) से उन विषयों की प्राप्ति की कामना उत्पन्न होती है। कामना द्वारा इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति न होने से क्रोध-क्षोभ उत्पन्न होता है अर्थात् कामना के उत्पन्न होते ही चित्त कुपित, अस्थिर, अशात, क्षुभित हो जाता है, चित्त की शाति तथा स्थिरता भग हो जाती है। पुरुष अपने निज स्वभाव मे च्युत हो जाता है एव यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कामना का प्रवाह चलता रहता है। कामना का अभाव होने पर ही पुन शाति, सुख व सपन्नता

का अनुभव होता है। शान्ति आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव मे अतराल आना ही अतराय है।

साधु व वीतराग के भूमि, भवन, वाहन, रेडियो, टी वी आदि का न होना दु ख का कारण व अतराय कर्म का उदय नही है, क्योंकि साधु के इनकी कामना नही है। अत साधु इनके न होने से अभाव का अनुभव नही करता है, जबकि इन्ही वस्तुओं के भोग की कामना रखने वाले व्यक्ति के लिए इनका न मिलना, न होना दु ख का हेतु व अतराय कर्म का उदय है। तात्पर्य यह है कि कामना की उत्पत्ति अतराय कर्म के उदय की सूचक है और कामना का अभाव होना, निष्काम होना, सुख का हेतु व अतराय कर्म के क्षयोपशम का सूचक है।

यह नियम है कि कामना की अपूर्ति मे अशाति, पराधीनता, चिता, खिन्नता, दीनता, भय, दु ख रहता ही है, यही दरिद्रता की निशानी है, पहचान है और कामना के अभाव मे, शाति, अभाव का अभाव, स्वाधीनता व प्रसन्नता रहती है, यही सच्ची सम्पन्नता है। जैसा कि आगम मे कहा है-

कह न कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयतो, सकप्पस्स वस गओ ॥दशवैकालिक, २ १

अर्थात् सकल्प (कामना) के वशीभूत व्यक्ति पग-पग पर विषाद से, खेद-खिन्नता के दु ख से दु खी होता है। अत जो कामनाओ का त्याग नही करता है, वह श्रमण धर्म का पालन कैसे कर सकता है? अर्थात् नही कर सकता है।

आयावयाहि चय सोगमल्ल, कामे कमाहि कमिय खु दुक्ख।
छिंदाहि दोस विणएज्ज राग, एव सुही होहिसि सपराए ॥ दशवै २ ५

अर्थात् शोक-खेद-खिन्नता का त्याग कर आतापना लेने से, दु खो को सहन करने से, कामनाओ मे कमी करने से दु ख मे कमी होती है। द्वेष को छेदन करने से, राग को दूर करने से शीघ्र ससार मे तत्काल सुखी हो जाओगे। उत्तराध्ययन सूत्र के नवम अध्ययन मे कहा है-

सुवण्णरुपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणतिया ॥४८॥
पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णपसुभिस्सह।
पडिपुण्ण नालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे ॥४९॥

अर्थः- सोने और चॉदी के कैलाश के समान असख्य पर्वत हों फिर भी

विषय सुखों मे लुब्ध मनुष्यो की कुछ भी तृप्ति नही होती है क्योंकि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है ॥४८॥

समग्र भूमि, समग्र चावल, जौ और अन्य अन्न, समस्त पशु, समस्त स्वर्ण व अन्य धन, एक व्यक्ति की इच्छा परिपूर्ण करने के लिए पर्याप्त नही है। यह जानकर तपश्चरण करे ॥४९॥

अत इच्छा पूर्ति से सुख चाहने वाला व्यक्ति इच्छा की अपूर्ति व अतृप्ति के दु ख की आग मे निरन्तर जलता रहता है। अर्थात् इच्छा पूर्ति के सुख के भोगी को दु ख से मुक्ति मिलना कदापि सभव नही है। जैसे कि कहा है-

सल्ल कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामा य पत्थेमाणा, अकामा जति दोग्गइं ॥
अहे वयइ कोहेण, माणेण अहमा गई।
मायागई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भय ॥

उत्तराध्ययन ९५३-५४

अर्थ:- काम भोग शल्य है, शूल के समान प्रतिक्षण चुभने का दु ख देते रहते है। काम-भोग विष व आशीविष के समान हैं। विषय-भोगो की तरगे सर्प के आसी-विष के समान तत्काल मूर्च्छित करने वाली-अपना भान भूलाने वाली है। काम-भोग का इच्छुक व्यक्ति कामना अपूर्ति के दु ख से भयकर दुर्गति को प्राप्त होता है ॥५३॥

काम-भोगो से कषायो की उत्पत्ति होती है। कषाय से प्रगति अवरुद्ध होती है, क्रोध से अधोगति होती है। मान से अधम गति होती है, माया से सुगति की ओर प्रगति मे प्रतिघात होता है और लोभ से दोनो प्रकार का भय होता है अर्थात् प्राप्त सुख व सामग्री के जाने का भय और अनचाहे दु ख आने का भय सदा बना रहता है। ॥५४॥

कसिण वि जो इमं लोय, पडिपुण्ण दलेज्ज एगस्स।
तेणावि से ण संतुस्से, इइ दूप्पूरए इमे आया ॥
जहा लाहो, तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मासा कयं कज्ज, कोडीए वि न निट्ठियं ॥उत्तरा ८१६-१७

अर्थ:- यदि किसी व्यक्ति को धन धान्यादि से परिपूर्ण यह सपूर्ण लोक (विश्व) भी दे दिया जाये तब भी उससे वह सतुष्ट नही होता। लोभासक्त आत्मा की कामनाओ की पूर्ति होना सभव नही हैं। क्योंकि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है वैसे-वैसे ही लोभ बढ़ता जाता है। लाभ से लोभ बढ़ता है

(घटता नही है)। (कपिल मुनि का) जो कार्य दो माशा सोने से ही हो सकता था, वह करोड़ो स्वर्ण-मुद्राओ से भी पूरा नही हो सका अर्थात् कामनाओ की जितनी पूर्ति होती है उतनी ही अधिक नवीन कामनाओं की उत्पत्ति होती जाती है जिनकी पूर्ति होना सम्भव नही है। सभी कामनाएँ किसी की कभी भी पूरी नही होती हैं। कामना अपूर्ति ही दु ख है। इस प्रकार कामना पूर्ति के सुख के प्रलोभन के वशीभूत प्राणी भयकर दु:ख पाता है जैसा कि कहा है-

खणमित्तसोक्खा, बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा-अणिगामसोक्खा।
ससार मोक्खस्स-विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥
परिव्वयंते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोत्ति मच्चु पुरिसे जर च ॥
इमं च मे अत्थि इम च नत्थि, इमं च मे किच्चं इम अकिच्चं।
त एवमेवं लालप्पमाण, हरा हरंति त्ति कह पमाए ॥

—उत्तराध्ययन अध्य-१४ १३-१५

भावार्थ- भोगों की कामनाओ की पूर्ति से मिला हुआ सुख क्षण मात्र के लिए प्रतीत होता है और बहुत काल तक दु ख देने वाला होता है। कामना की वृद्धि मे दु ख और निष्काम (कामना रहित) होने मे सुख है। इस प्रकार काम-भोग ससार के बधनों से मुक्त होने मे विपक्षभूत (बाधक-शत्रु) है और सर्व अनर्थो (बुराइयो-दु खों) की खान हैं। अत जो कामनाओ से निवृत्त नही है वह पुरुष रात-दिन निरन्तर कामना अपूर्ति के दु ख से सतप्त होता हुआ कामना-पूर्ति हेतु इधर-उधर भटकता रहता है। वह अपने से भिन्न अन्य (पर) मे आसक्त होकर उनकी प्राप्ति के लिए धन, सपत्ति की खोज मे जीर्णता—जरा अवस्था (वृद्धावस्था) को तथा मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। वह जीवन पर्यन्त दीनता, हीनता व दरिद्रता का अनुभव करता है।

विषय-भोगों के सुखो मे लुपायमान व्यक्ति, यह मेरा है, यह मेरा नही है, मुझे यह करना है और यह नही करना है, इसी में रत रहता है। इस प्रकार काम-भोग रूपी चोर उसका सर्वस्व हरण कर लेते है।

सव्व विलविय गीयं, सव्व नट्ट विडंबियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥
बालाभिरामेसु दुहावहेसु, न तं सुहं काम गुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाणं, ज भिक्खु ण सीलगुणे रयाणं ॥

—उत्तरा अध्य-१३ १५-१६

भावार्थ:— ज्ञानियो की दृष्टि में सब गीत विलाप रूप हैं। सब नृत्य-नाटक

विडम्बना रूप हैं। समस्त आभूषण भार रूप हैं। सभी काम भोग दु ख दायक हैं।

हे राजन्! अज्ञानियों को सुन्दर दिखने वाले दु खप्रद काम-भोगों (कामनापूर्ति) में वह सुख नही है जो सुख कामनाओं से विरक्त तप रूपी धन के स्वामी, शील गुणों (सद्गुणों) में रत भिक्षुओं को होता है अर्थात् समस्त काम-भोग कामनाएँ दु ख देने वाली है और सद्गुण सुख देने वाले हैं। सुख सद्गुणों मे ही हैं और यही सच्ची धन-सम्पत्ति है।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमंमि लोए अदुवा परत्थ।
दीपप्पणट्ठेव अणंतमोहे, नेआउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥उत्तरा-४५

भावार्थ:- प्रमादी मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक मे धन से त्राण (सरक्षण) नही पाता है। जिस प्रकार दीपक बुझने पर देखा हुआ मार्ग भी दिखाई नही देता हे उसी प्रकार अनत मोह से ग्रस्त (लोभाध) व्यक्ति अपने ज्ञान से जाने हुए न्याय (सत्य) मार्ग को देखते हुए भी नही देखता है। मोहाध, लोभाध व्यक्ति सत्य मार्ग को देखता, जानता हुआ भी अनदेखा कर देता है, उस पर नही चलता है।

वियाणिया दुक्खविवड्ढणं धणं, ममत्तं बंध च महाभयावहं।
सुहावहं धम्म धुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाणगुणावहं महं ॥
उत्तरा अ १९९८

भावार्थ:- धन को दु खवर्द्धक और ममता के बधन को महाभयकर जानकर निर्वाण (मोक्ष) के गुणो को प्राप्त कराने वाली एव अनत सुख प्रदायक अनुत्तर धर्म की महाधुरा को धारण करे। इस गाथा मे भगवान ने स्पष्ट शब्दो मे धन को दु ख वृद्धि का कारण कहा है, सुख-प्राप्ति व पुण्योदय का फल नही बताया है और धर्म को अर्थात् परिग्रहादि पापो के त्याग से उत्पन्न होने वाले गुणो को सुख का कारण कहा है।

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥
-सूत्रकृताग श्रुतस्कध अ १२ गा १५

भावार्थ:- बाल जीव कर्म से कर्म का क्षय करना चाहते हैं, परन्तु कर्म से कर्म का क्षय नही होता, अत कर्म करने से कर्म क्षय नही होते है। धीर पुरुष कर्म (कर्तृत्वभाव) रहित होकर कर्म का क्षय करते हैं। लोभ और गर्व से (सुख के प्रलोभन व दु ख के भय से) रहित सतोषी बुद्धिमान पुरुष पाप का उपार्जन नही करते है। अर्थात् पाप कर्म और उनके फल दु ख दारिद्र्य से मुक्त होने

का उपाय सतोष (सुख का प्रलोभन व कषाय का त्याग) है।

सक्षेप में कहें तो सतोष व सद्गुण ही सपन्नता है और तृष्णा, कामना व दुर्गुण विपन्नता-दरिद्रता है।

काम भोग प्राणी के लिए भयकर दु खदायी है जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में कहा है—

जे यावि दोस समुवेइ तिव्वं , तंसिक्खणे सेउ उवेइ दुक्ख।
दुद्दत्तदोसेण सएण जतू , न किंचि भाव अवरज्झइ से ॥उत्तरा ३२९०

अर्थ- जो तीव्र द्वेष को प्राप्त होता है, वह प्राणी अपने ही दुर्दान्त दोष के कारण उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। इसमे मन के भाव का कुछ भी दोष-अपराध नही है। अर्थात् इसके लिए राग-द्वेष कर्ता व्यक्ति स्वय उत्तरदायी है।

भावाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसण्णियोगे।
वए वियोगे य कह सुह से, सभोगकाले य अतित्तिलाभे ॥उत्तरा ३२९३

अर्थः भावो मे आसक्ति एव ममत्व रखने वाले जीव को भावानुकूल पदार्थ के उत्पन्न करने मे, रक्षण मे, उपयोग करने मे, व्यय मे, वियोग मे, सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? कदापि सुख नही होता है। उसका उपभोग करते समय भी तृप्ति न होने के कारण दु ख ही होता है। भोगो मे सुख कही भी नही है, सर्वत्र दु ख ही दुख हे।

"मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरते ॥
एव अदत्ताणि समाययतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥"उत्तरा ३२९६

अर्थः- असत्य (पर-विनाशी) पदार्थ का भोग करने वाला भोग के पहले, पीछे एव प्रयोग (उपभोग) करते समय दु खी होता है और उसका अत भी बुरा होता है। इस प्रकार भावो से पर पदार्थो को ग्रहण करते हुए वह जीव दु खी व आश्रयहीन हो जाता है।

दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥
—उत्तरा ३२८

अर्थः- दु ख उसी का नष्ट होता है जिसके मोह नही है। मोह उसी का नष्ट होता है जिसके तृष्णा नही है। तृष्णा उसी के नहीं होती है, जिसके लोभ नही

है। लोभ उसी के नही होता है जो अकिंचन होता है। अर्थात् जो परिग्रहरहित होता है जो अपने को कुछ नही मानता, किसी को अपना नही मानता, किसी से कुछ भी कामना नही रखता, वह ही दु:ख रहित होता है कहा है—

गोधन, गजधन, रत्नधन, कंचन खान सुखान।
जब आवे संतोष धन, सब धन धूल समान॥
कुदरत का कानून है, सब पर लागू होय।
विकृत मन व्याकुल रहे, निर्मल सुखिया होय॥
द्वेष और दुर्भाव के, जब जब उठे विकार।
मै भी दुखिया हो उठूँ, दुखी करूँ ससार॥
शुद्ध धर्म धारण करें, करे दूर अभिमान।
मिले अमित सतोष सुख, धर्म सुखों की खान॥
द्वेष और दुर्भाव से, आकुल-व्याकुल होय।
स्नेह और सद्भाव से, हर्षित पुलकित होय॥
निर्धन या धनवान हो, अनपढ़ या विद्वान।
जिसने मन मैला किया, उसके व्याकुल प्राण॥
दुर्गुण से ही दु:ख मिले, सद्गुण मे सुखधाम।
जन व्यवहारी नाम से, सधे न कोई काम॥
कुदरत का कानून है, कृपा करे ना क्रोध।
विकृत मन होवे दुखी, होय सुखी चित्त शोध॥
राग द्वेष की मोह की, जब तक मन मे खान
तब तक सुख का, शाति का, जरा न नाम निशान॥
शील रतन मोटो रतन, सब रतनो की खान।
तीन लोक की सपदा, रही शील मे आन॥

कर्म सिद्धान्त व आगमो मे दु:ख को दोष, पाप व दुष्प्रवृत्ति का फल बताया है। समस्त दोषो की उत्पत्ति विषयो के सुख की कामना से होती है, विषय सुख की कामना उत्पन्न होते ही सहज स्वभाव से सदा विद्यमान समता व शाति भग हो जाती है और चित्त अशात, कुपित, क्षुब्ध व खिन्न हो जाता है। इसे ही क्रोध कहा गया है यथा-"कामात् क्रोधोऽभिजायते" अर्थात् कामना से क्रोध-क्षोभ पैदा होता हे। कामना-पूर्ति होने पर, जिस व्यक्ति, वस्तु से कामना पूरी होती है, वह उसे स्थायी, सुखद, सुन्दर प्रतीत होती है। इससे उस भोग्य-पदार्थ के प्रति ममत्व-मेरापन का भाव हो जाता है। जो वस्तु सड़न, गलन स्वभाव वाली है उसे सुन्दर मानना, जिसका वियोग अवश्यम्भावी है, उसे स्थायी मानना, जो मेरे से भिन्न है उसे मेरी मानना भ्राति है, धोखा है, माया है।

कामना पूर्ति जनित सुख को बार-बार भोगने के लिए प्राप्त वस्तु आदि से तादात्म्य, ऐक्य, अहभाव बुद्धि हो जाना, उसे 'मैं' मानना मान कहा गया है। उस भोग्य पदार्थ को सदा बनाये रखने तथा उसी जाति के अन्य भोग-भोगने व पदार्थों को पाने की तृष्णा का उत्पन्न होना लोभ कहा गया है। विषय सुख की इन चारो स्थितियो मे 'पर' के प्रति, ससार के प्रति आकर्षण रहता है, अत इन्हे कषाय कहा गया है। विषय-सुख की कामना न हो तो राग, द्वेष, मोह आदि दोषो की उत्पत्ति ही नही होती।

विषय सुख-कामना पूर्ति से मिलता है, यह मानना भूल है। कामना पूर्ति का अर्थ है - कामना का न रहना, कामना का अभाव होना। अत यह सुख भी कामना के अभाव से चित्त के शान्त होने से मिलता है, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति से नही। यदि वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि से मिलता तो इन सबके विद्यमान रहते हुए यह सुख बना रहना चाहिए था और इन सबकी वृद्धि के साथ इस सुख मे भी वृद्धि होती जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नही होता है। यह सुख कुछ क्षणों से अधिक प्रतीत नही होता है तथा भोग्य-वस्तुओ की वृद्धि सैकेडो हजारो गुना हो जाने पर भी, सुविधाओ के बढ़ जाने पर भी सुख में वृद्धि नही होती है। अपितु सुख पाने की कामनाएँ दिन-दुगुनी रात-चौगुनी बढ़ती जाती है, जिसकी पूर्ति न होने से सुख का अभाव अधिकाधिक बढ़ता जाता है। अभाव का बढना दीनता व दरिद्रता का द्योतक है।

विषय भोग के सुख की कामना की उत्पत्ति अशाति की और पूर्त्ति पराधीनता की जननी है। कामना अपूर्ति क्षोभ, खिन्नता व दु ख की जननी है। अत विषय सुख अशान्ति पराधीनता व खिन्नता मे आबद्ध करता है जिससे प्राणी की शाति, स्वाधीनता, व प्रसन्नता का अपहरण हो जाता है, विघ्न उत्पन्न हो जाता है।

कर्म सिद्धातानुसार कर्म का विपाक वैसा ही होता है, जैसा भाव होता है। दुर्भावो का फल अशुभ, दु खद तथा सद्भावो का फल शुभ-सुखद मिलता है। शुभ भावों से शुभ अनुभाव वाले पुण्य कर्म का और अशुभ भावों से अशुभ अनुभाव के पाप कर्म का सर्जन होता है। शुभ अनुभाव शान्ति, प्रसन्नता व सम्पन्नता के सुख का और अशुभ अनुभाव अशाति, खिन्नता, चिंता, भय, द्वन्द्व, दीनता व दरिद्रता का हेतु होता है। कर्म के इस अकाट्य, सनातन नियम का कोई अपवाद नही है। कोई दु ख, विपत्ति, अप्रिय, अनिष्ट, अवस्था ऐसी नही है जो पाप, दोष, बुराई का फल न हो। जिसे अशाति, चिंता, सघर्ष, कलह,

अतर्द्वन्द्व, भय, खिन्नता, अभाव, नीरसता, दासता, विपन्नता के दु खो से, अनिष्ट दशाओ से बचना है, उसे भोगेच्छा, स्वार्थपरता, सकीर्णता, क्रूरता, निर्दयता, वक्रता, अभिमान, लालच व सुख-लोलुपता से बचना ही होगा। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नही है। कोई बुराइयों से जुड़ा रहे और फिर चाहे कि दु ख न आने पावे, यह कदापि सभव नही है। सक्षेप में कहें तो समस्त दु खों व दोषो का कारण इद्रियो के क्षणिक सुख का भोग है। सुख के भोगी को दु ख भोगना ही पड़ता है। कर्मसिद्धात के इस नैसर्गिक नियम को कोई नही टाल सकता है। सुख जीव का स्वभाव है। स्वभाव का अभाव कभी नही होता है। चाहे कुछ काल के लिए उसका अतराल हो जाए। सुख का अनुभव स्वभाव मे स्थित होने पर ही होता है। कामना उत्पत्ति से अपने स्वभाव से जो अतराल, अतर, दूरी हो गई थी वह दूरी कामना के अभाव हो जाने पर मिट जाती है जिससे स्वाभाविक सुख का अनुभव होता है। सुख कामना या विकार के अभाव से मिलता है। इस तथ्य को स्वीकार करना, अनुभव करना ही सम्यग्ज्ञान व सम्यक् दर्शन है। इस अनुभव का आदर करते हुए क्रोध-मान, माया-लोभ, आदि प्रवृत्तियों का त्याग करना सम्यक् चारित्र है। क्रोध, मान, माया व लोभ के त्याग से क्षमा, मार्दव, आर्जव व सतोष के गुण प्रकट होते है। क्षमाशील व्यक्ति किसी से वैर व द्वेष नही रखता है। उसके निर्दयता, क्रूरता, कठोरता, सवेदनशीलता, स्वार्थपरता के भाव नही रहते है। वह किसी भी जीव को बुरा नही समझता है, घृणा नही करता है वह मन से उसका बुरा नही चाहता है, वचन से उसकी बुराई नही करता है व काया से उसका अहित नही करता है। उसमे प्राणी मात्र को दु खी देखकर करुणा, अनुकम्पा, दयालुता, सेवा के भाव जागते हैं । वह सर्व हितकारी प्रवृत्ति करता है, अपने सामर्थ्य, शक्ति, योग्यता व पात्रता का उपयोग अपने निकटवर्ती जीवों के हितार्थ करता है। मार्दव स्वभाव वाले व्यक्ति के हृदय मे प्राणी मात्र के प्रति मृदुता, मधुरता, आत्मीयता, प्रीति का भाव जागृत हो जाता है। उसके हृदय मे निकटवर्ती प्राणियो को सुखी देखकर प्रमोद भाव जागृत होता है व उनको दु खी देखकर सेवा व सहयोग की भावना जागृत होती है। उसका अह गल जाता है और प्रीति भाव जागृत हो जाता है। उस प्रीति का सुख सदा उमड़ता रहता है, वह प्रीति के सुख का उपभोग करता रहता है इससे उसकी विषय भोगों के उपभोग की कामनाएँ गल जाती हैं, जो उपभोगान्तराय के क्षय में हेतु हैं।

सरलता गुण से निष्कपटता, हृदय मे शुद्धता आती है, जिससे मैत्री भाव

जागृत होता है, ममता भाव गलता है। ममता वही होती है जहाँ किसी से कुछ सुख पाने की इच्छा होती है। मैत्री मे सुख देने की भावना होती है, सुख पाने की नही। मित्र सभी को भला लगता है, अच्छा लगता है, सुन्दर लगता है। मित्रता से हृदय में सरसता आती है, सरसता से नीरसता मिट जाती है। नीरसता के मिटने से भोगों की कामना उत्पन्न नही होती है। क्योंकि नीरसता की भूमि मे ही कामना की उत्पत्ति होती है। भोगों की कामना उत्पन्न न होना ही भोगातराय का क्षय होना है। अत सरलता गुण से भोगान्तराय का क्षय होता है और सर्व प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव होता है। उसका हृदय सदा सरस रहता है। मैत्री भाव से माया कषाय का क्षय होता है, क्योकि मित्रता का नाश माया कषाय से ही होता है जैसा कि कहा है-"**माया मित्ताणि नासेई।**"- दशवैकालिक सूत्र ८ ३७)

जब विषय सुख की लोलुपता, लालसा व प्रलोभन मिट जाते हैं तब ससार में कुछ भी पाना शेष नही रहता है। पाना शेष न रहने से वस्तु, भोग, उपभोग आदि की कामना शेष नही रहती है। कामना शेष न रहने से अभाव का अभाव हो जाता है। यही दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय का क्षय है, सच्ची सम्पन्नता है। पाना शेष न रहने से करना शेष नही रहता है, यही कृत-कृत्य होना है, यही वीर्यान्तराय का क्षय है, जिसे भोग-विलास का, विषयो का सुख नही चाहिए उसे अपने सुख के लिए ससार मे कोई भी वस्तु नही चाहिये। वह किसी से कुछ भी आशा नही रखता है। यहाँ तक कि अपने पास जो शरीर, इद्रियादि वस्तुएँ, योग्यताएँ व सामर्थ्य है उन्हे भी अपने सुख के लिए नही मानकर ससार के हितार्थ मानता है। उसमे असीम-अनत औदार्य गुण प्रकट हो जाता है। इसे ही अनत दान कहा है। जिसे अपने लिए किसी भी वस्तु, देश, काल, परिस्थिति आदि की कामना व आवश्यकता नही है, वह सदा के लिए अभाव से मुक्त हो जाता है। यही अनत लाभ, अनत ऐश्वर्य है। अत जिसने भोग सुख का त्याग कर दिया उसमे बहिर्मुखी वृत्ति नही रहती, जिससे निज स्वभाव के, स्वाधीनता के, मुक्ति के पूर्व अखड अव्याबाध सुख का अनुभव होता है यही अनत भोग है। अह भाव मिटने से मार्दव, माधुर्य गुण प्रकट होता है जिसमे प्रीति का रस उमड़ता रहता है। फिर उसे किसी उपभोग की आवश्यकता नही रहती, यही अनत उपभोग है।

यह नियम है कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है। इसी नियमानुसार सपन्नता और विपन्नता का सबध आतरिक सद्गुणों-सद्प्रवृत्तियो से एव

दुर्गुणों-दुष्प्रवृत्तियो से है। जिसके अन्तकरण में सुख-लोलुपता, द्वेष, घृणा, वैर-भाव, क्रोध, घमड, छल-छद्म, लोभ, भोग-विलास, स्वार्थपरता, कृपणता, क्रूरता, मिथ्याभिमान, कदाग्रह का निवास है उसका चित्त सदा अशात, चिन्तित, भयभीत, अभाव, द्वन्द, हीनभाव, दीनभाव, नीरसता व दरिद्रता ग्रस्त ही रहता है, चाहे उसके पास अपार धन सम्पत्ति भी हो। उसकी धन-सम्पत्ति उसके चित्त की इन अनिष्ट दशाओं से छुटकारा नही दिला सकती। इसके विपरीत जिसके अत.करण मे क्षमाशीलता, दयालुता, वत्सलता, सहृदयता, सरलता, सज्जनता, विनय, मृदुता, उदारता, मुदिता आदि सद्गुणों का, साधुत्व का, निवास है, उसके चित्त में समता, शाति, प्रसन्नता, प्रीति का परमानद लहराता रहता है। उसे किसी की भी आवश्यकता नही होती है, वही सपत्तिशाली है। कहा भी है-"एकात सुखी साधु-वीतरागी।" साधु व वीतराग को समस्त सम्राट् व सेठ सिर नमाते हैं॥ साधु सम्राट् से अधिक सुखी, सपन्न एव पुण्यवान होता है जबकि साधुओं के पास बाह्य वस्तुएँ भूमि, भवन आदि सम्राटो व सेठो की तुलना में कुछ भी नही होती है।

समस्त कामनाओ से मुक्त अतकरण की पूर्ण सतोष अवस्था से ही शाति व आनद की अनुभूति होती है, यही सुख है-वास्तविक सम्पत्ति है। कामना पूर्ति से प्रारम्भ होने वाला सुख मिथ्या, भ्रमात्मक व क्षणिक होता है। इसके पश्चात् सुख प्राप्ति के लिए उसी कामना पूर्ति की जाति की अन्य अनेक कामनाओ का जन्म होता है। उन कामनाओ की जितनी पूर्ति होती है उनसे मिलने वाला सुख उतनी ही अधिक कामनाओ को जन्म देता है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक वह शारीरिक व मानसिक रूप से थककर निराश नही हो जाता है। कामना मे ही समस्त दारुण दुख अतर्हित है। निष्काम होना ही समता के साम्राज्य मे प्रवेश करना है। यही वास्तविक सपन्नता है।

सपन्नता

यह नियम है कि विषयो की कामना पूर्ति के सुख के भोगी को दुख भोगना ही पड़ता है अथवा यो कहे कि दुख उसी को भोगना पडता है जो विषय-सुख का भोगी है, कामी है। अत दुख से छूटने का एक मात्र यही उपाय है कि हम विषय-सुख की कामना का त्याग करे, परन्तु यही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि हम इस सुख का त्याग कर दें तो फिर हमारा जीवित रहने का कोई अर्थ ही नही रह जाता है अर्थात् हमारा जीवित रहना व्यर्थ हो जाता है। अत हमे जीवन मे सुख तो चाहिए ही। इस प्रकार हमारे सामने दो स्थितियाँ है।

एक तो यह है कि कामना पूर्ति के सुख के भोगी को दुख भोगना ही पड़ता है और हमें दुःख भोगना पसन्द नही है और दूसरी यह है कि यदि हम इस सुख को त्याग देते हैं तो सुख रहित जीवन भी हमें पसन्द नही है, यह हमारे सामने समस्या है। इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है जब हमें ऐसा सुख मिले जिसके साथ, दुख जुड़ा न हो, दुख रहित सुख हो।

दुख रहित सुख पाने के लिए हमे सुख की विविधताओं पर विचार करना होगा। सुख का एक रूप या प्रकार तो है इद्रिय भोग से प्राप्त विषय-सुख, जो इष्ट पदार्थ खाने, देखने, सूघने, सुनने आदि इद्रियो के भोग से मिलता है और सुख का दूसरा रूप या प्रकार है आध्यात्मिक सुख, जो सेवा, त्याग, असगता, मित्रता, उदारता आदि सद्गुणों से मिलता है अर्थात् जब चित्त शान्त होता है तो उसको अपना एक सुख या रस मिलता है जिसे शान्त रस कहते है। इसी प्रकार जब हम किसी की सेवा करते है, जिससे उसका दुख दूर होता है तो उससे हमे प्रसन्नता होती है, किसी गुणवान, उदारचेत्ता पुरुष को देखते हैं तो हमें प्रमोद होता है। यह प्रसन्नता व प्रमोद भी एक प्रकार का सुख है। इसी प्रकार शरीर और ससार से असग होने से, देहातीत-लोकातीत होने से स्वाधीनता का, मुक्ति का अनुभव होता है। इसका भी अपना सुख है।

प्रथम प्रकार का सुख जो शरीर, इद्रिय व ससार की वस्तुओ के भोग से सम्बन्धित है उस सुख के साथ पराधीनता, परवशता, विवशता, जड़ता, मूढ़ता, शक्तिहीनता, नीरसता, रोग, बुढ़ापा, अभाव, अतृप्ति आदि समस्त दुख ऐसे ही जुड़े हुए हैं जैसे काया के साथ छाया। प्रकृति का यह अटल नियम है कि विषय-सुख के साथ दुख रहता ही है।

विषय सुख की प्रतीति विषय भोग व भोग की वस्तुओ से होती है। अत जहाँ विषय सुख का भोग है वहाँ अप्राप्त वस्तुओं की कामना, प्राप्त वस्तुओं के प्रति ममता व तादात्म्य तथा स्वार्थपरता रहती ही है। कामना से अशान्ति की, ममता से पराधीनता की, तादात्म्य से जड़ता की, स्वार्थपरता से सकीर्णता की उत्पत्ति होती ही है। अशान्ति, पराधीनता, जड़ता, सकीर्णता किसी को भी पसन्द नही हैं। ये सभी को दुख रूप ही लगते हैं। अत इन दुखों से मुक्ति पाने के लिए विषय-सुख तथा कामना, ममता, तादात्म्य का त्याग करना ही होगा।

अक्षय सुख

कामना के त्याग से शान्ति व सपन्नता की अनुभूति होती है। शाति का रस

या सुख कामना पूर्ति के सुख की तरह प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नही होता है प्रत्युत् अक्षय व अक्षुण्ण होता है। जब तक पुन कामना की उत्पत्ति नही होती है तब तक शान्ति व सपन्नता का सुख बराबर बना रहता है। इसमें कमी या क्षीणता नही आती है और न यह नीरसता में ही बदलता है। अत शाति व सपन्नता का रस या सुख अक्षय सुख है जिसकी उपलब्धि कामना त्याग से ही सम्भव है।

अव्याबाध सुख

ममता के त्याग से स्वाधीनता की अनुभूति होती है। स्वाधीनता से स्व रस, निज रस, अविनाशी रस या सुख की अनुभूति होती है। यह सुखानुभूति अविनाशी स्वरूप की होती है। अत यह भी अविनाशी होती है। स्वाधीनता स्वाश्रित होने से उसके सुख में विघ्न व बाधा डालने में कोई भी समर्थ नही हो सकता। स्वाधीनता ही मुक्ति है। अत स्वाधीनता या मुक्ति का सुख अबाधित, अव्याबाध, अखड होता है। यह अक्षय तो होता ही है, पूर्ण होने से अखड भी होता है।

अनन्त सुख

कामना-ममता के त्यागने पर शरीर व ससार का तादात्म्य या अहभाव मिट जाता है जिसके मिटते ही राग-रहित वीतराग अवस्था का अनुभव होता है। राग-रहित होते ही अनन्त प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, फिर प्रेम का रस सागर की लहरों की तरह लहराता है, सदैव उमड़ता रहता है, इस रस की न तो क्षति होती है, न निवृत्ति होती है, न पूर्ति होती है, न अपूर्ति होती है, न तृप्ति होती है, न अतृप्ति होती है। यह सुख क्षति रहित होने से अक्षय, निवृत्त नही होने से अव्याबाध, पूर्ति-अपूर्ति रहित होने से अखड-पूर्ण एव तृप्ति-अतृप्ति रहित होने से अनन्त नित्य नूतन होता है। यह विलक्षण रस है अत बुद्धिगम्य नही होकर अनुभव गम्य है।

अनन्त वैभव व सपन्नता

मैत्रीभाव या प्रेम की प्राप्ति वही होती है जहाँ स्वार्थपरता नही है। जहाँ स्वार्थपरता है वहाँ दृष्टि अपने ही सुख पर रहती है भले ही इससे दूसरो का अहित हो या उन्हें दुःख हो। इससे सघर्ष और सताप उत्पन्न होता है। स्वार्थी व्यक्ति सिमट या सिकुड़ कर एक सकीर्ण से, छोटे-से घेरे में आबद्ध हो जाता है। उसकी सवेदनशीलता तिरोहित हो जाती है। उसके हृदय में क्रूरता, कठोरता व जड़ता आ जाती है। फिर वह हिंसक पशु से भी निम्न स्तर वाला

दानव का जीवन जीने लगता है। पशु के समान ही इद्रिय भोग तो भोगने ही लगता है साथ ही अमानवीय-अधम व्यवहार भी करने लगता है और परिणाम मे भयकर दु ख भोगता है। इसके विपरीत जो प्राप्त सामग्री, योग्यता, बल का उपयोग उदारतापूर्वक दूसरो के हित में करता है उसे इस सेवा से जो प्रसन्नता या सुख मिलता है, वह निराला ही होता है। यह सुख प्रतिक्षण क्षीण होने वाला नही होता है, अक्षुण्ण या अक्षय रस वाला होता है। यही कारण है कि जब-जब उसे पूर्व कृत सेवा की घटना की स्मृति आती है, हृदय प्रेम व प्रसन्नता से भर जाता है, अर्थात् सेवा का सुख नित्य नूतन रहता है कभी पुराना नही होता है, जबकि स्वार्थी व भोगी व्यक्ति को जब-जब पूर्व मे भोगे भोग की घटना की स्मृति आती है तब-तब उसके हृदय से पुन उस भोग को भोगने की कामना उत्पन्न होती है जिससे हृदय मे अशान्ति व अभाव उत्पन्न हो जाता है अर्थात् भोग के सुख का परिणाम शून्य, दरिद्रता व दु ख है तथा सेवा के सुख का परिणाम नित्य, नूतन व अक्षय रस की उपलब्धि एव सपन्नता है।

सेवक का हृदय उदार होता है। उदारता विभुता प्रदान करती है। विभुता का ही दूसरा नाम वैभव है, सपन्नता है। तात्पर्य यह है कि सेवक वैभवयुक्त एव सपन्न तथा स्वार्थी व्यक्ति अभावयुक्त व दरिद्र होता है। कारण कि सेवक का हृदय सदैव प्रेम के रस से सरस व हरा भरा रहता है। उसमे नीरसता, सूनापन, ऊबना रिक्तता, खालीपन नही आता है। यह नियम है कि जहाँ नीरसता होती है वहा ही नीरसता को मिटाने के लिए नवीन सुख पाने की कामना उत्पन्न होती है। प्रेम के बिना नीरसता जाती ही नही, प्रेम के बिना शान्ति का रस या सुख स्थायी नहीं हो सकता तथा स्वाधीनता का सुख दृढ़ नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि कामना रहित होने से शान्ति का और राग, ममता व मोह रहित होने से मुक्ति व स्वाधीनता का रस मिलता है जिसकी अतिम परिणति अनन्त करुणा, अनन्त प्रेम के रस मे होती है जिसके साथ ही अनन्त ऐश्वर्य (लाभ) अनन्त सौन्दर्य (भोग), अनन्त माधुर्य (उपभोग), अनन्त सामर्थ्य (वीर्य) की अभिव्यक्ति स्वत होती है। यही सच्ची सपन्नता है।

आशय यह है कि शान्ति का रस अक्षय होने पर भी प्रेम के अभाव मे टिक नही सकता। अत शान्ति मे रमण न कर मुक्ति और प्रीति के रस की उपलब्धि का पुरुषार्थ करना चाहिये। शान्ति का सम्पादन अच्छा है परन्तु शान्ति मे रमण करना प्रगति मे बाधा है। शान्ति मे रमण न करने से शान्ति, मुक्ति मे और मुक्ति प्रीति में परिणत हो जाती है। यही कैवल्य की उपलब्धि है।

आशय यह है कि सम्पन्न वही है जो कमी रहित है, अभाव रहित है। अभाव व कमी दरिद्रता की द्योतक है। अभाव का अनुभव तभी होता है जब कुछ पाने की कामना हो और उसकी प्राप्ति न हो। वस्तु की प्राप्ति श्रम, शक्ति व काल पर निर्भर करती है। अत कामना पूर्ति तत्काल नही होती है और जब तक कामना की पूर्ति नही होती तब तक कामना अपूर्ति जन्य अभाव का अनुभव होता है जो दरिद्रता का ही रूप है। अत कामना अपूर्ति की अवस्थाओं में दरिद्रता व अभाव (अलाभ) का दु ख भोगना ही पड़ता है। यह सर्वविदित है कि सब कामनाओं की पूर्ति किसी को कभी भी नही होती केवल कुछ कामनाओं की ही पूर्ति होती है। अत मानव मात्र को कामना-अपूर्ति जन्य अभाव (कमी व दारिद्र्य) का दु ख सदा बना ही रहता है।

यही नही, जिस कामना की पूर्ति हो जाती है उससे जो सुख प्रतीत होता है, वह सुख भी प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ अत मे नीरसता में बदल जाता है। इस प्रकार कामना पूर्ति से सुख पाने रूप जिस उद्देश्य की सिद्धि हुई, उस सिद्धि के मिलने न मिलने का अर्थ समान हो जाता है।

कामना पूर्ति जनित रस (सुख) नीरसता मे बदलता ही है। नीरसता किसी को भी पसन्द नही है। अत नीरसता मिटाने के लिए नवीन कामना की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कामना पूर्ति के साथ कामना की उत्पत्ति जुड़ी हुई है और कामना उत्पत्ति के साथ अभाव, दरिद्रता आदि दु ख जुड़े हुए हैं। अत कामना अपूर्ति से ही नही, कामना पूर्ति से भी अभाव, दरिद्रता आदि दु ख जुड़े हुए है। तात्पर्य यह निकला कि कामना की उत्पत्ति हो, चाहे कामना की अपूर्ति हो, चाहे कामना की पूर्ति हो सभी अवस्थाओ मे अभाव व दरिद्रता जुड़ी हुई है। अत कामना के त्याग से ही दरिद्रता का अत सभव है। दरिद्रता का अत ही समृद्धि का, सपन्नता का सूचक है। कारण कि कामना न रहने पर कुछ भी पाना शेष नही रहता है। 'पाना' शेष न रहना ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता है। पूर्ण रूप मे कामना रहित होना दान, लाभ, भोग, उपभोग व करने की लेशमात्र भी कामना न रहना आदि 'वीतराग होना है। अत वीतरागता से ही सच्ची समृद्धि व सम्पन्नता की उपलब्धि होती है, जिसका अत कभी नही होता है। जहाँ वीतरागता है वहाँ अनत समृद्धि, अनत सपन्नता, अनतं वैभव है।

कर्म-सिद्धान्त का यह नियम है कि क्षयोपशम घाती कर्मों का ही होता है, अघाती कर्मों का नही। घाती कर्मों के सर्वघाती स्पर्धको के उदय का अभाव रूप क्षय और उनका सत्ता में उपशम, देशघाती स्पर्धको का उदय क्षयोपशम

है। क्षयोपशम से आत्मा के गुणो का आशिक प्रकटीकरण होता है और घाती कर्मो के समस्त स्पर्धको के क्षय में आत्मा के गुणो की पूर्ण व अनत (अतरहित) उपलब्धि होती है। जैसे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम मे आशिक ज्ञान गुण व क्षय से अनतज्ञान प्रकट होता है। यही तथ्य अतराय कर्म पर भी घटित होता है। अतराय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा के आशिक दान, लाभ आदि गुण प्रकट होते है और क्षय से अनत दान, लाभ आदि उपलब्धिया प्रकट होती है। यदि लाभान्तराय के क्षयोपशम से धन-सपत्ति की प्राप्ति और भोगान्तराय के क्षय से पत्नी एव पुत्रो की प्राप्ति हो तो इन के क्षय से अनन्त पत्नी-पुत्र की प्राप्ति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा है नही। साधुओ के धन-सपत्ति, पुत्र आदि का सर्वथा अभाव है, उनके गृहस्थ की अपेक्षा अधिक अतराय कर्म का उदय मानना होगा, जो सर्वथा अनुचित है। अत अतराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय से धन, धरा, पुत्र, पत्नी की प्राप्ति मानना उचित्त नही लगता है। प्रत्युत सद्गुण ही सपन्नता है और दुर्गुण ही विपन्नता है, यही उचित प्रतीत होता है।

■

पुण्य-पाप विषयक ज्ञातव्य तथ्य

(१) जिससे आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। आत्मा पवित्र होती है— राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दोषो मे कमी आने से। अत पुण्य निर्दोषता का द्योतक है । निर्दोषता विभाव एव अधर्म नही है।

इसके विपरीत जिससे आत्मा का पतन हो वह पाप है। आत्मा का पतन-राग द्वेष, विषय-कषाय आदि दोषो की वृद्धि से होता है। अत पाप दोष का द्योतक है, दोष अधर्म है।

(२) दया, दान, करुणा, सेवा आदि सद् प्रवृत्तियो से पुण्य का उपार्जन होता है। हिंसा, झूठ क्रूरता, राग-द्वेष, विषय-वासना आदि दुष्प्रवृत्तियो से पाप का उपार्जन होता है।

(३) सयम, त्याग, तप, सवर, व्रत, प्रत्याख्यान आदि समस्त निवृत्तिपरक साधनाओ से पुण्य की असीम वृद्धि होती है और पाप का क्षय होता है । इसके विपरीत विषय-कषाय, असयम आदि से पुण्य का क्षय और पाप की वृद्धि होती है।

(४) पुण्य की वृद्धि से पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण हो जाता है, अत पुण्य से पाप का क्षय होता है। इसके विपरीत पाप की वृद्धि से पुण्य प्रकृतियो का पाप प्रकृतियो मे सक्रमण होता है, अत पाप से पुण्य का क्षय होता है।

(५) यह नियम है कि पुण्य की वृद्धि होती है तो पाप क्षीण होता है और पाप की वृद्धि होती तो पुण्य मे क्षीणता होती है। अत पाप और पुण्य एक दूसरे के विरोधी हैं, सहयोगी नही है।

(६) पुण्य से आत्म-गुणो का विकास होता है और पाप से आत्म-गुणो का ह्रास होता है। अत पुण्य आत्मा का भूषण है और पाप आत्मा का दूषण है।

(७) पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती है। इनसे आत्मा के किसी भी गुण का लेशमात्र भी घात नही होता है, प्रत्युत् पुण्य आत्म-गुणो के विकास मे सहायक है। अत पुण्य मगलकारी, कल्याणकारी और पाप विनाशक है।

(८) सम्यक्त्वी के पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का हनन व क्षय नहीं होता है। केवल पाप प्रकृतियो के अनुभाग का ही हनन या क्षय होता है।

(९) वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति के पूर्व तक पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग का लेशमात्र भी हनन नही होता है, अर्थात् पुण्य का अनुभाग उत्कृष्ट ही रहता है। उसके मुक्ति-प्राप्ति के अतिम समय तक उच्च गोत्र, आदेय, यशकीर्ति

आदि पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट अनुभाग का उदय ज्यों का त्यों रहता है।

(१०) पुण्य के अनुभाग का सर्जन न तो योग से होता है और न कषाय से होता है। अपितु कषाय की कमी से होता है अर्थात् विशुद्धि भाव से, सयम, सवर, त्याग, तप रूप धर्म से, आत्म -शुद्धि से होता है। पुण्य आत्म-शुद्धि का फल है।

(११) पुण्य प्रकृतियों का स्थिति-बध पाप प्रकृतियो के स्थिति बध की न्यूनाधिकता के साथ-साथ स्वत न्यून व अधिक होता रहता है, क्योंकि तीन आयु को छोड़कर समस्त पाप - पुण्य कर्म प्रकृतियों के स्थिति बध का समान रूप से कषाय ही कारण है। कषाय के घटने से सत्ता मे स्थित समस्त पुण्य-पाप प्रकृतियों का स्थिति बध स्वत घटता है तथा कषाय के बढ़ने से बढ़ता है।

(१२) स्थिति बध कषाय से होता है। अत कषाय से जितना पाप प्रकृतियो का स्थिति बध होता है उसकी तुलना में पुण्य प्रकृतियो का स्थिति बध कम होता है तथा पाप के स्थिति बध के क्षय के साथ पुण्य प्रकृतियो के स्थिति बध का क्षय स्वत हो जाता है। पुण्य के स्थिति-बध के क्षय के लिये अलग से कोई प्रयत्न नही करना पड़ता है।

(१३) पुण्य के अनुभाग का क्षय किसी भी साधना से संभव नहीं है। साधना से तो पुण्य का अनुभाग बढता ही है, अत मुक्ति मे जाने के लिये पुण्य के क्षय की आवश्यकता नहीं हैं । आवश्यकता है पाप के क्षय की ।

(१४) यह नियम है कि जितना पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग बढ़ता जाता है उतनी ही उनकी स्थिति घटती जाती है। पुण्य की स्थिति बढ़ती है तो पुण्य का अनुभाग घटता है। पुण्य प्रकृति के अनुभाग और स्थिति में विरोध है। पुण्य का अनुभाग शुभ और स्थिति अशुभ है।

(१५) किसी भी वीतराग केवली के मुक्ति-प्राप्ति मे पुण्य प्रकृतियो का उदय बाधक नही है क्योकि पुण्य प्रकृतियाँ पूर्ण रूप से अघाती होने से जीव के किसी गुण का अश मात्र भी घात नही करती है।

(१६) यदि मुक्ति-प्राप्ति के समय पुण्य के छूट जाने से पुण्य को हेय माना जाय तो उस समय यथाख्यात चारित्र भी छूट जाता है। अत यथाख्यात चारित्र को भी हेय मानना होगा जो आगम-विरुद्ध है।

(१७) पाप-पुण्य कर्मों का फल उनके अनुभाग के रूप में ही मिलता है।

वीतराग केवली के आदेय, यशकीर्ति आदि समस्त पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होता है और मुक्ति प्राप्ति के अतिम समय तक उत्कृष्ट ही रहता ह। अत पुण्य का फल किंचित् भी हेय व त्याज्य नही है।

(१८) पुण्य सोने के आभूषण के समान है जिससे आत्म - गुणों की शोभा बढती है, आभूषण सौभाग्य का द्योतक होता है।

(१९) पुण्य औषधि के समान है जो राग, द्वेष, विषय, वासना, कषाय, भोग आदि विकारों को, रोगों को मिटाता है।

(२०) पुण्य ईंधन के समान है जो पापरूप दोषों को जलाकर स्वय शान्त हो जाता है।

(२१) पुण्य नौका के समान है जिस पर चढ़कर साधक सिद्धि पा लेता है। नौका छूट जाने से नौका हेय या त्याज्य नही हो जाती है। वैसे ही पुण्य छूट जाने से पुण्य हेय नही हो जाता है।

(२२) मिथ्यात्वी जीव पुण्य से ही पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग कम करके सम्यग्दर्शन के सम्मुख होता है।

(२३) मिथ्यात्वी जीव के पुण्य का अनुभाग बढ़कर जब तक चतु स्थानिक नही हो जाता है तब तक वह सम्यग्दर्शन के सम्मुख नही होता है। अत पुण्य सम्यग्दर्शन में सहायक है, बाधक नही ।

(२४) कषाय रूप औदयिक भाव ही कर्म बध का कारण है। शुभभाव किसी कर्म के उदय से नही होता है। अत शुभ भाव रूप पुण्य किसी कर्म का कारण नही है।

(२५) यदि शुभ योग और शुभ भाव को कर्म क्षय का कारण न माना जाय तो कर्मक्षय हो ही नही सकते। यहाँ तक कि सम्यक्त्व की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। क्योंकि अशुभ योग तो कर्म बन्ध का ही कारण है उससे तो कर्म क्षय हो ही नही सकते।

(२६) कषाय या पाप मे कमी होना ही शुभभाव है, यही आत्मा का शुद्धिकरण भी है, अत शुभ भाव आत्म विशुद्धि का ही द्योतक है।

(२७) शुभ भाव से आत्मा की शुद्धि होती है, इसलिये शुभ योग को सवर कहा है।

(२८) दया, दान, करुणा, वात्सल्य, अनुकपा आदि भाव औदयिक भाव नही है, क्योकि ये किसी कर्म के उदय से नही होते हैं। अत स्वभाव है। इन्हे

विभाव मानना-स्वभाव न मानना जेन सस्कृति व आगम के विपरीत है।

(२९) दया, दान, अनुकपा, वात्सल्य, मैत्री आदि भाव पुण्योपार्जन के हेतु है। यदि पुण्योपार्जन को विभाव माना जाय तो उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन क्षपक श्रेणी की उत्कृष्ट साधना से होता है। इससे क्षपकश्रेणि रूप साधना को भी विभाव मानने का प्रसग उत्पन्न होता है, जो भूल है। अत दया, दान, करुणा आदि को विभाव मानना आगमविरुद्ध है।

(३०) मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति को आगम व कर्म सिद्धान्त मे प्रशस्त या शुभ या पुण्य रूप नही कहा है और न पुण्य का हेतु ही कहा है। अत राग प्रशस्त नहीं हो सकता। किसी व्यक्ति, वस्तु गुरु, देव, धर्म के प्रति यदि राग हो तो वह पाप रूप ही होता है,बुरा ही होता है। सद्गुरु, सद्गुणो व सद् प्रवृत्तियो के प्रति प्रमोद तथा अनुराग होता है। वह सवररूप होता है। वह प्रमोद किसी बाह्य वस्तु, शरीर आदि के प्रति नही होता, अपितु स्वाभाविक गुणो के प्रति होता है। अत उसे विभाव मानना भूल है।

(३१) पुण्य को पाप के समान हेय या त्याज्य समझना भ्रान्ति है तथा इस भ्रान्ति को प्रश्रय देना पुण्य को त्यागने के लिये प्रेरित करना है, जो भूल है। यह नियम है कि जहाँ पुण्य का अभाव है वहाँ निश्चित रूप से पाप है, क्योंकि शुद्धभाव व धर्म के साथ पुण्य का इतना ही घनिष्ठ सबध है जितना काया के साथ छाया का, वस्तु के साथ वर्ण, गध, रस और स्पर्श का तथा धूप के साथ प्रकाश का।

(३२) स्वभाव से प्रतिकूल ले जाने वाली प्रवृत्ति पाप है और स्वभाव की ओर बढाने वाली प्रवृत्ति पुण्य है।

(३३) दया, दान, करुणा, अनुकपा, वात्सल्य, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियो के साथ लगे कषाय के कारण से पुण्य का स्थिति बध होता है। करने का राग व अभिमान, कर्तृत्व भाव तथा प्रतिफल पाने की आशा रूप भोक्तृत्व भाव ही पुण्य की स्थिति बध के कारण है। कर्तृत्व व भाक्तृत्व भाव रूप कषाय के अभाव मे किसी भी कर्म का स्थिति बध सभव नही है। अत कर्म बध का मुख्य हेतु कषाय ही ह। दया, दान, करुणा आदि आत्म-गुण बध के हेतु नही है।

(३४) उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय ३२ मे कहा है - 'रागो य दोसो बिय कम्मबीय, अर्थात् राग और द्वेष ये दो ही कर्म के बीज है, कर्म बध के हेतु हे। राग-द्वेष पाप है अत कर्म बध का हेतु पाप ही है, पुण्य नही है।

(३५) पुण्य केवल सद्प्रवृतियों से ही होता है ऐसी बात नही है , क्योकि सद् प्रवृत्तियो से जितना पुण्य का उपार्जन होता है उससे अनन्त गुणा अधिक पुण्य का उपार्जन सयम, त्याग, तप, सवर,इन्द्रिय-निरोध रूप निवृत्ति से होता है। यही कारण है कि क्षपकश्रेणि में पाप कर्मों की महान् निर्जरा व पुण्य का उत्कृष्ट अनुभाग होता है।

(३६) सद्प्रवृत्तियो से जो पुण्य का उपार्जन होता है वह भी दुष्प्रवृत्ति रूप दोषों के त्याग से व दोषो मे कमी होने से होता है। अत पुण्य उपार्जन का हेतु दोषो का त्याग अथवा दोषो मे कमी होना है।

(३७) दया, दान, करुणा, परोपकार, अनुकपा, वात्सल्य आदि सद् प्रवृत्तियों का भावात्मक फल राग - द्वेष आदि दोषो का गालना है जिसमे अक्षय-अव्याबाध-अनत सुख की अनुभूति होती है और क्रियात्मक फल से श्रेष्ठ व्यक्तित्व व सुदर समाज का निर्माण होता है।

(३८) सेवा व परोपकार की जिस प्रवृत्ति से राग-द्वेष, विषय-कषाय, स्वार्थपरता, इन्द्रिय-भोग, हिसा आदि दोष बढ़ते हों वह प्रवृत्ति बाहर से भले ही पुण्य रूप दिखे, परन्तु वह पाप ही है।

(३९) जिस क्रिया, प्रवृत्ति , कार्य व भाव से आत्मा का पतन हो वह पाप है और जिस क्रिया, प्रवृत्ति , कार्य व भाव से आत्मा पवित्र हो वह पुण्य है। यही पुण्य-पाप की कसौटी है।

(४०) भोग पुण्य प्रकृतियो का हो अथवा पाप प्रकृतियो का, त्याज्य ही हैं, क्योकि भोग मोह के उदय का सूचक तथा कर्म बध का हेतु है।

(४१) साधना प्रवृत्तिपरक हो अथवा निवृत्तिपरक, उसमे पुण्य के अनुभाग मे वृद्धि ही होती है, क्षय नही होता है। पुण्य के अनुभाग मे क्षीणता पाप प्रवृत्तियो मे वृद्धि होने से होती है। पाप की वृद्धि से ही पुण्य का सक्रमण पाप मे होकर पुण्य क्षीण हो जाता है तथा पुण्य के अनुभाग का भी अपवर्तन होता है।

(४२) पुण्य के उत्कृष्ट अनुभाग के समय स्थिति बध जघन्य होता है। जबकि पाप के उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के साथ उत्कृष्ट स्थिति बन्ध होता है।

(४३) पुण्य और पाप दोनो का ही स्थिति बध होना व स्थिति बध मे वृद्धि होना अशुभ है कारण कि पुण्य - पाप दोनो के स्थिति बध मे वृद्धि कषाय रूप पाप की वृद्धि से होती है।

(४४) पाप प्रकृतियों के बध के साथ पुण्य प्रकृतियों का बन्ध नियम से होता है। केवल पाप प्रकृतियों का बध कभी नही होता है। अत दसवें गुणस्थान तक के जीवो के पाप के साथ पुण्य प्रकृतियों का और पुण्य के साथ पाप प्रकृतियो का बध अवश्य होता है, यों कहें कि पुण्य और पाप दोनों का बध निरन्तर होता ही रहता है।

(४५) मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सयोगी केवली गुणस्थान तक सब जीवों के पुण्य व पाप की कर्म प्रकृतियों का उदय सदैव रहता है। अकेले पाप व अकेले पुण्य प्रकृतियो का उदय कभी नही रहता है।

(४६) भावों की विशुद्धि व पाप के त्याग से पुण्य स्वत होता है।

(४७) जो कार्य शरीर, इन्द्रिय व ससार से सुख पाने की इच्छा से किया जाता है वह भोग है, पाप है, पुण्य नही है।

(४८) विषय भोग की इच्छा की उत्पत्ति , विषय भोग भोगना, लोभ आदि कषाय वृत्तियों का रसास्वादन करना पापोदय का फल है तथा पाप के बध का हेतु है। भोग तथा भोग की निमित्त सामग्री के सग्रह रूप परिग्रह को आगम मे पाप कहा है। पाप को पुण्योदय का फल मानना तात्त्विक भूल है। यही कारण है कि तीर्थंकर चक्रवर्ती राज-पाट, धन - धान्य, भूमि - भवन आदि परिग्रह रूप पाप का व भोगो का त्याग कर साधु बनते है जिससे उनके पाप का क्षय होकर असीम पुण्योदय होता है।

(४९) यह नियम है कि जो जितना अधिक भोगी है वह उतना ही बडा पापी है और जो भोग का जितना त्याग करता है वह उतना ही अधिक पुण्यवान है। यही कारण है कि जैसे जैसे उच्च स्तरीय देवलोको मे जाते है विषय भोग घटते जाते हैं, पुण्योदय होने से विषय सुख की इच्छा घटती जाती है। विषयभोग व परिग्रह पापोदय का प्रतीक है।

(५०) क्षायिक, औपशमिक क्षायोपशमिक एव पारिणामिक भाव से कर्म बध कभी नही होते है। केवल उदयभाव से ही कर्म बध होता है वह भी केवल मोहजन्य उदय भाव से। अन्य उदय भाव से नही होता है। अत कर्म बध का कारण मोह रूप पाप ही है पुण्योदय व पुण्य भाव नही।

(५१) कषाय की मदता अर्थात् कषाय में कमी होना पुण्य है। मद या कम कषाय पुण्य नही है। क्योंकि कषाय मन्द हो या अधिक अशुभ है, पाप है। पाप रूप कम कषाय को पुण्य मानना तात्त्विक भूल है।

(५२) सम्यक् दृष्टि जीव के सत्ता में स्थित पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग चतुष्क स्थानिक होता है और पाप प्रकृतियों का अनुभाग द्वि स्थानिक होता है।

(५३) जीव के सत्ता में स्थित पाप व पुण्य प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थिति बध घटकर अत कोटाकोटि सागरोपम हो जाने पर ही उसे सम्यग्दर्शन होता है।

(५४) शुभ से पुण्य का और अशुभ से पाप का उपार्जन होता है। शुभ गुण होते है और अशुभ अवगुण होते हैं। गुण स्वभाव रूप और अवगुण विभाव रूप होते हैं अत गुणों की वृद्धि से अर्थात् स्वभाव की ओर बढ़ने से पुण्य का उपार्जन होता है। इसके विपरीत अवगुणों की वृद्धि से अर्थात् विभाव की ओर बढ़ने से पाप का उपार्जन होता है। अत पुण्य स्वभाव का और पाप विभाव का द्योतक है।

(५५) पुण्य का उपार्जन किसी भी दोष से सभव नही है, गुण से ही सभव है। दोष ही त्याज्य होता है, गुण नही। गुण के त्याग का विधान कही नही है। अत पुण्य न त्याज्य है और न हेय है, अपितु उपादेय है।

(५६) दोषो की कमी से या त्याग से पुण्य का उपार्जन होता है, परन्तु त्याग के साथ जुड़े सासारिक वस्तु सम्मान आदि के रूप में प्रति फल पाने की भोगेच्छा से पुण्य का स्थिति बध होता है। अत पुण्य का अनुभाग शुभ एव पुण्य का स्थिति बध अशुभ है।

(५७) मिथ्यात्व गुणस्थान से सयोगी केवली गुणस्थान तक कोई भी जीव प्रवृत्ति किये बिना नही रह सकता। अत वह निरन्तर मन, वचन, काय इन मे से किसी न किसी से कोई न कोई प्रवृत्ति अवश्य करता है। प्रवृत्ति दो ही प्रकार की होती हैशुभ और अशुभ। अत शुभ प्रवृत्ति स्वरूप पुण्य को त्यागने का परिणाम होगा अशुभ प्रवृत्ति मे रत होना, अर्थात् पाप करना। यही कारण है कि कोई भी साधक यहाँ तक कि सयोगी केवली तक भी सदैव शुभ योग युक्त रहते है शुभ योग का त्याग नही करते है।

(५८) शुभ योग की भूमिका में ही सयम, चारित्र, सामायिक, व्रत, प्रत्याख्यान आदि धर्म सभव हैं।

(५९) जो त्याग मुक्ति-प्राप्ति का लक्ष्य बनाकर किया जाता है अर्थात् जिसमें सासारिक सुख भोग की आकाक्षा नही है वही धर्म है, उसी से उत्कृष्ट पुण्य का उपार्जन होता है।

(६०) पाप के त्याग रूप शुभ भाव से पुण्य का उपार्जन होता है। जैसे मद

के त्याग से उच्च गोत्र का, निरतिचार व्रत पालन, सामायिक, प्रत्याख्यान आदि से तीर्थंकर नामकर्म का, मन वचन काय की कुटिलता के त्याग से शुभनामकर्म का पुण्य उपार्जन होता है।

(६१) शुभास्रव (पुण्यास्रव) दोष रूप नही होता है।

(६२) भोगेच्छा का उत्पन्न होना, भोग भोगना पाप है, अत जो भोगी है वह पापी है और जो जितना अधिक भोगी है वह उतना ही अधिक पापी है। विषय भोगी को पुण्यात्मा मानना पापात्मा को पुण्यात्मा मानना है जो भूल है। भूल के त्याग मे ही कल्याण है।

(६३) जहा राग है वहाँ पाप है, जहाँ अनुराग है वहाँ पुण्य है। राग मे आसक्ति होती है, अनुराग मे प्रमोद, प्रीति, मैत्री, वात्सल्य भाव होता है। राग मे वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि पर पदार्थो से सुख पाने की इच्छा होती है। अनुराग में प्राप्त सामग्री, सामर्थ्य, योग्यता का उपयोग दूसरों की सेवा मे करने से प्रमोद होता है। राग भोगो के प्रति होता है, अनुराग गुणो के प्रति होता है। राग कर्म बध का कारण है और अनुराग कर्म-क्षय का हेतु है।

(६४) सामान्यत सभी जीवो के पुण्य व पाप इन दोनो कर्म प्रकृतियो का बध एव उदय निरन्तर होता रहता है। अत पुण्यानुबधी पुण्य - पाप एव पापानुबधी पुण्य -पाप रूप चौकड़ी मे पुण्य के उदय का सबध साता वेदनीय के उदय से और पाप के उदय का सबध असाता वेदनीय के उदय से है और अनुभाग का सबध सक्लेश विशुद्धि भाव से है। विशुद्धि भाव से होने वाले कर्म बध को पुण्यानुबधी कहा गया है एव सक्लेश भाव से होने वाले कर्म बध को पापानुबधी कहा गया है।

(६५) पुण्य के फल से पाप का बन्ध मानना अथवा पाप के फल से पुण्य का बन्ध मानना भूल हे।

(६६) साता वेदनीय के उदय मे विशुद्धि भाव का होना पुण्यानुबधी पुण्य हे और असातावेदनीय के उदय मे विशुद्धि भाव का होना पुण्यानुबधी पाप है। पुण्यानुबधी इसलिये कहा गया ह कि इससे सभी पुण्य प्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होती है।

(६७) सातावेदनीय के उदय मे सक्लेश भाव का होना पापानुबधी पुण्य हे और असाता वेदनीय के उदय मे सक्लेश भाव का होना पापानुबधी पाप है। यह सक्लेशभाव को पापानुबधी इसलिये कहा गया है कि इससे पाप के अनुभाग मे वृद्धि होती हे।

(६८) विशुद्धि रूप शुभ भाव ही पुण्य है। विशुद्धि से कषाय घटता है, जिससे आत्मा के ज्ञान - दर्शन आदि गुणो का आवरण दूर होता है और इन गुणों का प्रकटीकरण होता है, जिससे प्राणो का विकास होता है। प्राणो का विकास ही प्राणी का विकास है। प्राणबल के विकास से ही इन्द्रिय तन, मन आदि की उपलब्धि होती है। यह पुण्य कर्म का फल है जो अघाती रूप है।

(६९) यदि विद्यमान कषाय मे कमी हो रही है तो सत्ता मे स्थित पाप प्रकृतियो के अनुभाग और स्थिति बध मे कमी (अपवर्तन) हो जाती है। यदि कषाय मे वृद्धि हो रही है तो सत्ता में स्थित पाप प्रकृतियों की स्थिति व अनुभाग मे वृद्धि हो जाती है।

(७०) यह नियम है कि जिन पाप व पुण्य प्रकृतियों का वर्तमान मे बध हो रहा है, उन प्रकृतियो मे सत्ता मे स्थित उनकी विरोधिनी प्रकृतियो का सक्रमण हो जाता है अर्थात् विशुद्धि भाव से पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन हो रहा है तो सत्ता मे स्थित पाप प्रकृतियो का पुण्य प्रकृतियो मे रूपान्तरण हो जाता है। सक्लेश भाव से पाप प्रकृतियो का उपार्जन होता है तो सत्ता मे स्थित पुण्य प्रकृतियो का पाप प्रकृतियों मे रूपान्तरण हो जाता है।

(७१) आत्म-विकास के साथ पुण्य का उपार्जन व अनुभाग में वृद्धि स्वत होती है।

(७२) पुण्य का अनुभाग द्विस्थानिक से बढकर चतु स्थानिक होने पर ही सम्यग्दर्शन होता है और वह पुण्य का अनुभाग आगे के सभी गुणस्थानो मे चतु स्थानिक ही रहता है।

(७३) पुण्योपार्जन (पुण्यास्रव) का हेतु सर्वत्र शुद्धोपयोग तथा अनुकपा रूप स्वभाव को ही बताया है। शुद्धोपयोग, अनुकपा, दया को ही सर्वत्र धर्म कहा है। अत पुण्य का उपार्जन तथा धर्म सहभावी है, सहकारी है। जहाँ धर्म है वहा पुण्य नियम से है। पुण्य के अभाव मे धर्म सभव नही है।

(७४) भगवान् महावीर ने खेत - वस्तु - धन - धान्य आदि के सग्रह को परिग्रह रूप पाप कहा है, क्योकि कोई भी ममत्व, स्वामित्व, आधिपत्य भाव रूप मूर्च्छा के बिना सग्रह नही रख सकता। मूर्च्छा न हो तो अभावग्रस्त हजारो लोगो को वह उन वस्तुओ को ले जाने देता और उसके पास कुछ नही बचता। अत सग्रह या परिग्रह पाप ही है, पुण्य नही।

(७५) यदि वस्तु का सग्रह या परिग्रह पाप न होता तो भगवान् श्रावकों के लिये परिग्रह को सीमित करने का, परिमाण करने का, घटाने का, त्याग करने

का उपदेश न देते और स्वय भी परिग्रह का पूर्ण त्याग कर साधु न बनते। त्याग पाप का ही किया जाता है, पुण्य का नही। अत सग्रह-परिग्रह पाप का ही सूचक है।

(७६) वस्तुओ के सग्रह - परिग्रह को किसी पुण्य प्रकृति का फल मानना कर्म सिद्धान्त से मेल नही खाता है, क्योंकि ३६ पुद्गल विपाकी प्रकृतियाँ हैं वे सब की सब नाम कर्म की है। इन सभी प्रकृतियों का सबध केवल शरीर तक ही सीमित है। किसी बाहरी वस्तु, सपत्ति आदि का इनमें कोई स्थान नही है।

(७७) सवर और निर्जरा में जितनी वृद्धि होती जाती है उतनी पुण्य के अनुभाग मे भी वृद्धि होती जाती है।

(७८) सवर (सयम) और निर्जरा (तप) की साधना से पाप का क्षय एव पुण्य का वर्द्धन होता जाता है।

(७९) पुण्य की वृद्धि साधक को साधना पथ में आगे बढ़ाने में सहायक होती है।

(८०) पाप की वृद्धि साधना पथ में बाधक होती है।

(८१) पाप का उपार्जन (पापास्रव) अशुद्धोपयोग एव निर्दयता से होता है।

(८२) पुण्य-पाप की कर्म प्रकृतियों के प्रदेशों मे हीनाधिकता होने से उनके अनुभाग मे हीनाधिकता नही होती है।

(८३) पुण्य प्रकृतियाँ अघाती है। ये आत्मा के किसी गुण का घात नही करती है इसलिये पुण्य प्रकृतियों का क्षयोपशम नही होता है। क्षयोपशम घाती कर्म की प्रकृतियो का ही होता है।

(८४) कषाय की कमी से पुण्य के आस्रव मे वृद्धि होती है और उस समय जितना कषाय शेष रह जाता है उससे पुण्य का स्थिति बध होता है । अत पुण्य का स्थिति बध जितना कम होता जाता है, उतना पुण्य का अनुभाग बढ़ता जाता है।

(८५) साधक जैसे-जैसे साधना मार्ग में आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पूर्वार्जित पाप कर्मों का पुण्य प्रकृतियो मे सक्रमण होता जाता है अर्थात् पाप का पुण्य मे रूपान्तरण, मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण होता जाता है।

(८६) तीन आयु को छोड़कर समस्त पुण्य - पाप की प्रकृतियों का क्षय उनकी स्थिति बध के क्षय से होता है और स्थिति बध का क्षय कषाय के क्षय से होता है। अत जैसे-जैसे कषाय में कमी आती जाती है वैसे-वैसे पुण्य-पाप

कर्मों की स्थिति-बध का क्षय होता जाता है।

(८७) 'पाप' दुष्प्रवृत्ति से होता है और 'पुण्य' विषय-कषाय, राग-द्वेष, मद, वक्रता आदि दुष्प्रवृत्तियों के त्याग से होता है अर्थात् पाप की निवृत्ति से पुण्य होता है।

(८८) शुभ योग से पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग का अपवर्तन होता है अत शुभ योग को सवर कहा है।

(८९) शुभ योग के साथ रहा हुआ कषाय रूप अशुभ भाव कर्म की स्थिति बध का कारण है। शुभ योग कर्म बध का कारण नहीं है।

(९०) शुद्ध भाव से चेतना का आन्तरिक विकास होता है, उसके साथ ही योग से बाह्य विकास भी होता है। दोष या पाप में कमी आना आतरिक विकास है जो सवर है और प्राणशक्ति, पाच इन्द्रिय, मन, बचन, काय आदि की शक्ति का विकास बाह्य विकास है। बाह्य विकास को पुण्य कर्म कहा गया है।

(९१) स्वभाव का पूर्ण नाश कभी नही होता है, प्रत्येक जीव मे किसी न किसी अश मे स्वभाव सदा प्रकट ही रहता है। अत प्राणी मात्र के किसी न किसी प्रकृति के रूप में पुण्य का उदय सतत रहता है।

(९२) पुण्य से विकारो की उत्पत्ति नही होती है। विकारों की उत्पत्ति पाप से ही होती है अत भोगेच्छा की उत्पत्ति एव भोग प्रवृत्ति पाप ही है, पुण्य नही और पुण्य का फल भी नहीं है। मोहजन्य है, मोह का फल है, औदयिक भाव है।

(९३) उच्च गोत्र, यशकीर्ति, देवगति आदि समस्त पुण्य प्रकृतियो का अनुभाग जब तक उत्कृष्ट न हो तब तक किसी को भी केवल ज्ञान नही होता है और केवलज्ञान न होने से मुक्ति भी नही मिल सकती। अत केवलज्ञान तथा मुक्ति प्राप्त न होने का हेतु पुण्य कर्म नही है। अपितु पुण्य के अनुभाग में कमी रहना है।

(९४) उच्च गोत्र, देवगति, यशकीर्ति आदि पुण्य प्रकृतियों का अनुभाग उत्कृष्ट होने पर अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञान हो जाता है तथा वह जीव उसी भव में मुक्त होता है।

(९५) मनुष्य भव आदि पुण्य प्रकृतियाँ साधक के लिये साधना मे एव मुक्ति में सहायक हैं।

(९६) जीव के मुक्ति मे बाधक कारण पाप प्रकृतियों का उदय है न कि

पुण्य प्रकृतियो का उदय। क्योकि पाप के क्षय होते ही पुण्य क स्थिति बध का क्षय स्वत हो जाता है।

(९७) भावो की विशुद्धि पुण्य हे और अशुद्धि पाप ह। पाप - पुण्य का यही आधार है।

(९८) पुण्य मे महत्त्व त्याग व अनुकम्पा का हे, प्रवृत्ति का नही। पुण्य प्रवृति कम हो या अधिक, उस प्रवृत्ति से जितना राग द्वेष गलता हे वही महत्त्व की बात है।

(९९) १ पुण्य तत्त्व २ पुण्यास्रव ३ पुण्य प्रवृत्ति ४ पुण्य का अनुभाग और ५ पुण्य कर्म मे अन्तर है। १ पुण्यतत्त्व है- शुभ या शुद्ध परिणाम २ पुण्यास्रव है- शुभ योग व शुद्ध परिणामो के फल स्वरूप पुण्य के कर्म वर्गणाओ का आना, उनका उपार्जन होना। ३ पुण्य प्रवृतियाँ है- दया, दान , सेवा, परोपकार आदि सद् प्रवृत्तिया ४ पुण्य का अनुभाग है- फलदान शक्ति और ५ पुण्य कर्म बध हे — पुण्यास्रव से अर्जित कर्म का कषाय के कारण से आत्मा के साथ बध कर सत्ता मे स्थित होना।

(१००) पुण्य तत्त्व, पुण्यास्रव, पुण्य प्रवृत्ति, पुण्य का अनुभाग ये सब त्याज्य व हेय नही है। केवल पुण्य का स्थिति बध ही क्षय योग्य हे, परन्तु उसके क्षय के लिये कोई प्रयत्न व साधना अपेक्षित नही है। वह पाप कर्म की स्थिति क्षय के साथ स्वत क्षय हो जाता है।

(१०१) पुण्य का अनुपालन पाप का प्रक्षालन है।

(१०२) पाप प्रवृत्ति से प्राणी की प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अत पाप प्राणातिपात है।

(१०३) घाती कर्मो का उदय जीव के गुणो का घात करता है तथा इनके क्षयोपशम और क्षय से जीव के गुण प्रकट होते है। इसलिये चारो घाती कर्म की समस्त प्रकृतियाँ विभाव है, स्वभाव नही है। परन्तु अघाती कर्मो का उदय जीव के किसी गुण का घात नही करता है, इसलिये वे दोष रूप नही हैं और अघाती कर्मो के क्षय से कोई गुण प्रकट नही होता है अत ये गुण रूप भी नही है। अर्थात् अघाती कर्म गुण - दोष रहित है, स्वभाव - विभाव रहित है।

(१०४) क्रोध, लोभ, माया और मान इन चारो कषायो के क्षय (क्षीणता) से क्रमश क्षमा, मुक्ति, ऋजुता और मृदुता ये चार गुण प्रकट होते है इन चारों गुणो से क्रमश चारो अघाती कर्मो की पुण्य प्रकृतियो का उपार्जन होता है यथा -

क्षमा (निर्वरता - मैत्री) से सातावेदनीय का, मुक्ति (निर्लोभता, आदि परिग्रह त्याग) से शुभ आयु कर्म का, ऋजुता सरलता निष्कपटता से शुभ नाम कर्म का एव मृदुता-हृदय की कोमलता - निरहकारता - विनम्रता से उच्च गोत्र का उपार्जन होता है।

(१०५) पाप के क्षय 'क्षीणता' से और सवर निर्जरा से आत्मा पवित्र होती है आत्मा की पवित्रता से पुण्य कर्म का उपार्जन होता है।

(१०६) पुण्य कर्म का अनुभाग बन्ध कषाय की उदय अवस्था मे होने पर भी कषाय के उदय से नही होता है, कषाय के क्षय से होता है।

(१०७) पाप कर्मो का उपार्जन कषाय से होता है और पुण्य कर्मों का उपार्जन कषाय के क्षय से होता है।

(१०८) पुण्य कर्म के उदय के अभाव मे उनकी विरोधिनी पाप प्रकृतियो का उदय नियम से होता है।

(१०९) अघाती कर्मो की पुण्य प्रकृतियो का उदय भौतिक विकास का तथा अघाती कर्मो की पाप प्रकृतियो का उदय भौतिक ह्रास का द्योतक है। घाती कर्मो की पाप-प्रकृतियो का उदय आध्यात्मिक ह्रास का एव इनका क्षयोपशम, उपशम तथा क्षय आध्यात्मिक विकास का सूचक है। मन, वचन, काय आदि की प्राण-शक्ति का विकास भौतिक विकास है, यही प्राणी का विकास है।

(११०) दया, दान वेयावृत्य आदि सद् प्रवृत्तियो का भावात्मक फल राग-द्वेष आदि दोषो का निवारण है तथा आध्यात्मिक विकास हे और इन सद् प्रवृत्तियो के क्रियात्मक रूप का परिणाम भौतिक विकास है।

(१११) पुण्य का आस्रव शुद्धोपयोग से कषाय के क्षय व क्षीणता से होता है और पाप का आस्रव अशुद्धोपयोग (कषाय के उदय) से होता है।

(११२) पुण्य का आस्रव पाप के आस्रव का निरोध व अवरोध करता है।

(११३) आयुकर्म की पुण्य प्रकृतियो को छोड़कर शेष समस्त पुण्य कर्मो की प्रकृतियो की स्थिति का क्षय कषाय के क्षय से होता है

(११४) पुण्य और पाप ये दोनो भाव परस्पर मे विरोधी है एव इन दोनो का आस्रव परस्पर मे विरोधी है।

(११५) कषाय की मदता शुद्धोपयोग व शुभ योग रूप होती है, जबकि मद कषाय अशुभ व पाप रूप होता है।

(११६) कषाय की मदता से कर्मो (स्थिति बध) का क्षय होता है और मद

कषाय से कर्मों का (स्थिति) बध होता है।

(११७) पुण्य के अनुभाग का हेतु न तो योग है और न कषाय है प्रत्युत् कषाय की मदता है।

(११८) शुभ भाव किसी कर्म के उदय से नही होता है, अत औदयिक भाव नही है प्रत्युत् क्षायोपशमिक भाव है। शुभ भाव रूप पुण्य औदयिक भाव नही होने से कर्म बध के हेतु नही हैं एव क्षायोपशमिक भाव होने से कर्म क्षय के हेतु हैं।

(११९) जो हेतु पाप के क्षय के हैं वे ही पुण्य की उपलब्धि के भी हेतु है।

(१२०) पुण्य का उपार्जन (अनुभाव की वृद्धि) पुण्य कर्म के क्षय (स्थिति का क्षय) का सूचक है।

(१२१) धन-सम्पत्ति आदि बाह्य द्रव्य कर्मोदय मे सहयोगी (निमित्त) कारण हैं, इन वस्तुओ की विद्यमानता मे कर्मोदय कारण नही है।

■